आधुनिक हिन्दी-कविता
में
अलंकार-विधान

लेखक

डॉ० जगदीशनारायण त्रिपाठी

एम० ए० (हिन्दी), एम० ए० (अंग्रेजी), पी-एच० डी०

प्रकाशक

अनुसन्धान प्रकाशन

आचार्यनगर, कानपुर

मूल्य पन्द्रह रुपये

प्रकाशक :
अनुसन्धान-प्रकाशन
८७/२५९, आचार्यनगर, कानपुर
प्रकाशन तिथि :
१५ अक्टूबर १९६२
आवरण-शिल्पी :
बसन्त कुमार डे
मुद्रक :
अनुपम प्रेस, देवनगर, कानपुर।

समर्पण

परम पूज्य पिता जी

आयुर्वेदाचार्य पं० जयजयराम त्रिपाठी वैद्यशास्त्री,

जिनसे साहित्य और शास्त्र के अध्ययन एवं
अनुशीलन की प्रेरणा प्राप्त हुई है ।

भूमिका

भारतीय साहित्यशास्त्र की प्राचीनता और इसका वैभव विश्व-विश्रुत है। यहाँ के साहित्य-साधकों ने अपनी अतलस्पर्शिनी मेधा एवं क्रांतदर्शी दृष्टि द्वारा अनेक ऐसे गूढ़ विषयों का आज से शताब्दियों पूर्व सूक्ष्म विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत कर दिया था, जिन पर विश्व के अन्यान्य साहित्य-मनीषियों ने अब चिन्तन प्रारम्भ किया है, और जिन्हें अत्याधुनिक काव्यालोचन-सिद्धान्त ऐसा अभिधान प्रदान किया जाता है। संस्कृत-साहित्य-कोष के रसालंकार, शब्द-शक्ति, ध्वन्यादि ऐसे ही अद्वितीय रत्न हैं जो अन्यत्र अप्राप्य हैं। इसी महत्ता के कारण तो स्वर्गीय डा० अमरनाथ झा ने एक बार कहा था कि पाश्चात्य की समीक्षा के लिए हम प्राचीन भारतीय आलोचना के रसालंकारादि के निकष का व्यवहार कर सकते हैं।* वास्तव में भारतीय काव्यालोचन-सिद्धान्तों के विश्वव्यापी महत्व के लिए "हिन्दी के नवीन आलोचक की सबसे बड़ी उपलब्धि यह होगी कि वह अंग्रेजी या फ्रेंच-साहित्य का इतिहास रसालंकार के दृष्टिकोण से लिखे, जैसे कभी अपने दृष्टिकोण से मैकडानेल, कीथ या विंटरनिज ने संस्कृत-साहित्य के इतिहास लिखे थे। जैसे फ्रांसीसी लुगोई और कज़ामियाँ के इतिहास से बढ़िया, उस आकार-प्रकार का, किसी अंग्रेज लेखक का अंग्रेजी-साहित्य का इतिहास नहीं है, जैसे पाश्चात्यों के लिखे संस्कृत-साहित्य के इतिहासों से स्वयं भारतीयों के नहीं है, उसी तरह कौन जानता है कि हिन्दी-आलोचक द्वारा लिखित पाश्चात्य साहित्यों का इतिहास उनका अभिनव मूल्यांकन करने में समर्थ नहीं होगा।"† साथ ही भारतीय आलोचना-निकष द्वारा आधुनिक हिन्दी-साहित्य का भी परीक्षण कर गुण-दोषों का निर्णय करना परमावश्यक है। प्रस्तुत पुस्तक में मैंने पाश्चात्य साहित्य का तो नहीं, अपितु पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित आधुनिक हिन्दी-कविता (सन् १९२० से १९५० तक) का भारतीय काव्यशास्त्र के आलंकारिक दृष्टिकोण से मूल्यांकन करने का विनम्र प्रयास किया है।

भारतीय अलंकारशास्त्र में अलंकार को वस्तु से व्यवहाररूप में सर्वथा स्वतन्त्र मानने के कारण अलंकारों के भेदादि का अत्यधिक सूक्ष्म अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है और दूसरी ओर अलंकार-अलंकार्य की अभिन्नता के समर्थक अभिव्यंजनावादी क्रोचे ने अलंकारों के नाम-परिगणन-शैली को सर्वथा निरर्थक सिद्ध किया है।

---

*डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का निबन्ध—'हिन्दी का अपना साहित्यशास्त्र', 'आलोचना' अंक ८

† श्री नलिन विलोचन शर्मा का निबन्ध—'वर्तमान हिन्दी-आलोचना : उपलब्धि और अभाव', 'आलोचना', अंक ९

लेकिन मैंने आधुनिक हिन्दी-काव्य के अलंकार-विधान-विवेचन मे दोनों के मध्यम मार्ग को ग्रहण किया है अर्थात् न तो अलंकारों की स्वतंत्र सत्ता को ही सम्पन्न किया है और न अलंकारो के उन सूक्ष्म भेद-प्रभेदों को ही प्रस्तुत किया है, जिनको देखकर बुद्धि चकराने लगती है। विषय-विश्लेषण और स्पष्टीकरण के लिए भारतीय साहित्यशास्त्र और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों का आश्रय लिया है। इस प्रकार पौर्वात्य और पाश्चात्य विचारधाराओ के समन्वय द्वारा मैंने अपने दृष्टिकोण का निर्माण किया है।

यद्यपि आधुनिक काल के कवियो ने अलंकारों की योजना जान-बूझ कर नही की है तथापि भाषा की शक्ति एवं सामर्थ्य के रूप में उनकी कविता मे अनेकानेक अलंकारो का विधान स्वतः हो गया है। विश्व-साहित्य, विशेषरुपेण भारतीय काव्य के अध्ययन के कारण अलंकार संस्कार-रूप में उनके मन की भाषा में समाविष्ट है। अतः काव्य-रचना मे आधुनिक कवियों ने उनका पर्याप्त उपयोग किया है, और यही कारण है कि आधुनिक कवियों में भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही प्रकार की अलंकार-योजना दृष्टिगत होती है। आधुनिक हिन्दी-कविता में अलंकारों की अधिकता या न्यूनता का प्रश्न नही है, अपितु अलंकार-प्रयोगों की पृष्ठभूमि में कार्य करने वाली रूचि अथवा सौंदर्य-भावना का है। आधुनिक युग में कवियों ने परंपराविहित अधिकांश अलंकारों को त्याग दिया है और जिन प्राचीन अलंकारो का प्रयोग किया है, उन्हें अभिनव अर्थ-दीप्त प्रदान की है।

प्रस्तुत विवेचन मे कवियों की कृतियों का इतिहास न लिख कर नव-चेतना से परिपूर्ण आधुनिक कवियों की नवीनरीत्या अलंकृत अभिव्यक्तियों को यथामति समझने तथा उनकी प्रवृत्तियों का विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न किया गया है। अतः व्यक्तियों को स्वतंत्र महत्व नही प्राप्त हो सका है, किन्तु अधिकांशतः सभी प्रतिनिधि कवियों की प्रतिनिधि रचनाएँ आ गई है।

पुस्तक लेखन में मुझे पूज्य गुरुवर पं० अयोध्या नाथ शर्मा एम० ए० (कृतकार्य अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, विक्रमाजीतसिंह सनातन धर्म कालेज, कानपुर) के सतत् स्नेह, परामर्श और प्रोत्साहन से बल मिला है एवं समादरणीय आचार्य डा० मुशीराम शर्मा 'सोम' एम० ए०, डी० लिट्० (कृतकार्य अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, डी०ए०बी० कालेज, कानपुर) से अनेक सुझाव प्राप्त हुए है। श्रद्धेय गुरुवर पं० कृष्ण शंकर शुक्ल एम० ए० (अध्यापक, हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) ने विवेचन की विविध गूढ़ गुत्थियों को शंका-समाधान द्वारा सुलझाया है। मान्यवर गुरुवर कुँवरचन्द्र प्रकाश सिंह एम० ए० (अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, बड़ौदा विश्वविद्यालय, बड़ौदा) से तो पदे-पदे सहायता प्राप्त हुई है। अतः इन गुरुजनो के प्रति कृतज्ञ श्रद्धा व्यक्त करना मै अपना परम पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ। इन महानुभावों के अतिरिक्त विषय से सम्बन्धित वरेण्य विचारकों और मूर्धा साहित्यकारों की कृतियों से जो सहायता प्राप्त हुई है, उसके लिए मैं उनका चिर ऋणी हूँ। मेरे अनुज श्री शम्भूरत्न त्रिपाठी (सम्पादक—साप्ता-

हिक 'मनु', मासिक 'समाज विज्ञान' एवं त्रैमासिक, 'साहित्यालोचन') तथा श्री कैलाश नाथ त्रिपाठी शास्त्री की सतत् प्रेरणा के परिणामस्वरूप इस पुस्तक का लेखन और 'अनुसंधान-प्रकाशन' के अध्यक्ष श्री रामकुमार मिश्र की अत्यधिक रुचि और लगन के कारण इसका प्रकाशन सम्भव हो सका। इन लोगों के ये कार्य मेरे धन्यवादादि की तुलना में इतने अधिक हैं कि औपचारिकता के प्रदर्शन में कोई औचित्य नहीं समझता।

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
डी०एन० डिग्री कालेज
फतेहगढ़।

—लेखक
जगदीश नारायण त्रिपाठी

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

प्रथम खण्ड

- अलंकरण
- अलंकार-वर्गीकरण
- संस्कृत-अलंकार-साहित्य
- हिन्दी-अलंकार-साहित्य

१

अलंकरण

अलंकरण की प्रवृत्ति

अलंकरण की प्रवृत्ति मानव-जीवन में सार्वकालिक, सार्वजनीन और सार्वत्रिक है। अलंकरण का सम्बन्ध सौंदर्य से है और सौंदर्य का सर्वप्रथम उद्भव मानव की उपयोगितावादी लौकिक आवश्यकता से हुआ है, किन्तु कालान्तर में सौंदर्य ने उपयोगितावादी दृष्टिकोण से पृथक् उच्चस्तर पर अपनी सत्ता की स्थापना करली और तभी ललितकलाओं का रूप समक्ष आया। मानव ने आत्मरक्षार्थ गृहों का निर्माण किया, किन्तु निर्माण की विशिष्ट आकर्षक शैलियों एवं भित्तियों पर चित्रकारी आदि का कोई उपयोग नहीं होता। इसी प्रकार वस्त्रों का आविष्कार भी इसी उद्देश्य से हुआ, लेकिन उनकी सिलाई के विभिन्न आकार-प्रकारों से उपादेयता का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह सब मनुष्य की अलंकरण-प्रवृत्ति का परिणाम है जिससे उसे मानसिक परितोष होता है, कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं।

शरीर-अलंकरण की उपर्युक्त विशेषता मस्तिष्क-अलंकरण में भी प्राप्त होती है। अनेक प्रकार की प्राचीन भाषाओं का अध्ययन, धनोपार्जन की भावना से दूर विविध वाद्य-यंत्रों का शिक्षण, विश्व की घटनाओं की तथा महापुरुषों की जन्म-मृत्यु तिथियों आदि की अध्यवसायपूर्ण स्मृति का कोई प्रत्यक्ष उपयोग नहीं है, किन्तु मनुष्य ऐसा करता है। यह मस्तिष्क-अलंकरण मनुष्य इसलिए करता है, क्योंकि समाज इसे ज्ञान का एक महत्वपूर्ण अंग समझता है, और हो सकता है कि इस प्रकार के ज्ञानाभाव में वह समाज में आदरणीय न हो सके। अतः ऐसा करता है।[1]

---

1 Men dress their children's minds as they do their bodies in the prevailing fashion. As the Orinico Indian puts on paint before leaving his hut, not with a view to any direct benefit, but because he would be ashamed to be seen without it, so a boy's drilling in Latin and Greek is insisted on, not because of their intrinsic value, but that he may not be disgraced by

उपादेयता से असम्पृक्त ललितकलाओं की एक स्वतन्त्र सत्ता है, और यदि उनकी कोई उपयोगिता है तो वह मानसिक है, शारीरिक नहीं। "दिवाली में वास्तुकार का लघु अवतार, हलवाई के लिए शक्कर का बड़ा भारी महल तैयार करता है जिसमें कोई रहता नहीं है, केवल मन का अनुरंजन करता है, और चमत्कार तथा कौतूहल को सजग रखता है। यहां सौंदर्य ऐहिक उपादेयता के उत्संग से बाहर आकर अपनी अलग स्थिति की घोषणा करता है। इस अलग स्थिति की रक्षा में ही ललित कलाएँ सामने आईं और सौंदर्य ने अपनी उपयोगिता को जन्म दिया। उसकी विभिन्नता और अनेक रूपता के दर्शन हुए। ठीक इसी प्रकार जब भाषा मर्मज्ञों ने अभिव्यक्ति को विधानों में विभाजित किया, और उसके प्रकार बने और अलंकार उन्हें नाम दिया गया तो अभिव्यंज्य से अलग करके वे समझाए गए। अलंकार-ग्रंथों में उनका सहेतुक वर्गीकरण किया गया, और नाम के बाद उदाहरण बनाये गये। पंडितों और शास्त्रियों द्वारा व्याख्या की गई। इस स्वतंत्र घोषणा को बल मिला और इनका पठन-पाठन स्वतंत्ररूप से सामने आया। कलाकार का मस्तिष्क भी इनसे बातुल हुआ और उसने कला में इनकी योजना मस्तिष्क के सहारे की, हृदय के नैसर्गिक रुझान से नहीं, अतएव दोष आ गए। केशव प्रभृति पंडितों ने तो केवल आचार्यत्व के रूप में ही सब कुछ लिखा उसे रससिक्त हृदयोदधि के नवनीत के रूप में न देखना चाहिए, जिसका प्रसवकर्त्ता कोई बाल्मीकि, कोई व्यास, कोई कालिदास तथा कोई तुलसीदास होता है। आचार्य केशव को जाने दीजिए, परन्तु यदि कलाकार का अलंकार भाव से बँधकर, रस से बँधकर, विचार से बँधकर, मन्तव्य को समस्त बल के साथ संकेत न करेगा तो वह दीवाली के मिठाई के महल से अधिक उपयोगी न होगा।"[1] तात्पर्य यह है कि वाणी-विभूषण भावाभिव्यक्ति के साधन हैं, साध्य नहीं। किन्तु जब साधन ही साध्य का रूप धारण कर लेते हैं, तभी काव्य में अस्वाभाविकता आ जाती है। काव्य का जन्म हृदय से होता है, अतः उसका शृंगार भी हृदय की नैसर्गिकता से होना अपेक्षित है, बुद्धि-व्यायाम-जन्म अलंकारों से नहीं

● अलंकार क्या हैं ?

विश्व-साहित्य विशेषरूपेण भारतीय साहित्य में अलंकारों का अत्यधिक

---

being found ignorant of them—that he may have "the education of a gentleman"—the badge marking a certain social position, and bringing a consequent respect·· ···The births, dates and marriages of kings, and other like historic trivialities, are commi·ted to memory, not because of any directs that can possibly result from knowing them; but because society considers them par:s of a good education.—because the absence of such knowledge may bring the comtempt of others　　—Herbert Spencer : Education, Ch. I, P. 2-3

१ सद्गुरुशरण अवस्थी—साहित्य-तरंग पृ० ६१

महत्व है। भारतीय काव्यशास्त्र में इन वाणी-विभूषणों का बहुत गान हुआ है। राजशेषर ने तो इनको वेद का सातवाँ अंग माना है। अलंकार वेदार्थ के उपकारक हैं, क्योंकि इनके बिना वेदार्थ की अवगति नहीं हो सकती।[१] भारतीय साहित्याचार्यों ने अलंकारों के स्वरूप तथा कविता में उनके महत्व का बहुत विवेचन किया है। उदाहरणार्थ यहाँ पर हम कतिपय विद्वानों के अलंकार विषयक विचारों को उद्धृत करते हैं :—

वेदव्यास—अलंकार रहित सरस्वती विधवा के समान मान को उल्लसित नहीं करती।[२]

भामह—सुन्दर होने पर भी भूषण के बिना नारी के मुख पर कांति नहीं आती।[३]

दण्डी—काव्य शोभा के सम्पादक-धर्मों को अलंकार कहते हैं।[४]

उद्भट—गुण और अलंकार चारुत्व के हेतु हैं।[५]

वामन—काव्य में सौदर्य ही अलंकार है।[६]

रुद्रट—कवि की उदार मति सालंकर काव्य की रचनाओं में सफल होती है।[७]

आनन्दवर्धन—कटक आदि के समान जो अंगाश्रित हैं वे अलंकार हैं।[८]

कुंतक—सालंकार काव्य है।[९]

भोजराज—अलंकृत होने पर भी गुणवर्जित काव्य सुनने में अच्छा नहीं लगता; गुण और अलंकार के योगों में गुणयोग मुख्य है।[१०]

क्षेमेन्द्र—उचित स्थान पर धारण करके ही अलंकार शोभाकारक हैं।

---

१ उपकारकत्वात् अलंकार: सप्तमंगमितियायावरीय: ।
ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानात् वेदार्थानवगति: ॥ काव्यमीमांसा

२ अलंकाररहिता विधवेव सरस्वती ।

३ न कांतामपि निर्भूषं विभातिवनितामुखम् ।

४ काव्यशोभाकरान्धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते ।

५ चारुत्वहेतुत्वेपि गुणानामलंकाराणां ।

६ सौंदर्यमलंकार: ।

७ काव्यमलंकर्तुमलंकर्तुरदारा मतिर्भवति ।

८ अङ्गाश्रितास्त्वलंकारामन्तव्या: कटकादिवत् ।

९ सालंकरस्य काव्यता ।

१० अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम् ।
गुणयोगस्तयो मुख्यो गुणालंकार योगयो : ॥

११ उचितस्थान विन्यासाद अलंकृतिरलंकृति: ।

मम्मट—अलंकार हार आदि आभूषणों के समान हैं, ये कदाचित रस का उपकार करते हैं, सर्वदा नहीं, जहाँ रस नहीं है वहाँ भी अलंकार रह सकता है।[1]

जयदेव—जो अलंकार शून्य शब्दार्थ में काव्य स्वीकार करता है, वह कृती अग्नि में शीतलता को क्यों नहीं स्वीकार करता ?[2]

विश्वनाथ—अङ्गद आदि के समान शोभा के अतिशयता और रसादि के उपकारक शब्दार्थ के अस्थिर धर्मों को अलंकार कहते हैं।

केशवदास—जदपि सुजाति सुलक्षणी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न विराजई, कविता वनिता मित्त॥

चिंतामणि—अलंकार ज्यों पुरुष को हारादिक मन आनि।
प्रासोपम आदिक कवित अलंकार ज्यों जानि॥

कुलपति मिश्र—उक्ति-भेद तें होत हैं, अलंकार,यह जानि॥

देव कवि—सो रस बरसत भावबस अलंकार अधिकार॥
कविता कामिनि सुखद प्रद, सुबरन सरस सुजाति।
अलंकार पहिरे अधिक अद्भुत रूप लखाति॥

सोमनाथ—अलंकार जो होत सो उक्ति-भेद सो होत॥

दास कवि—रस कविता को अंग भूषण हैं भूषन सकल।
गुन सरूप औ अंग, दूषण करै कुरूपता॥

रामचन्द्र शुक्ल—भावों का उत्कर्ष और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है।

सुमित्रानन्दन पन्त—अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिये नहीं हैं, वे भाव की अभिव्यक्ति के लिये विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिये राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति-नीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं।

उपर्युक्त विचारों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अलंकार कविता के भाव और अभिव्यक्ति को सौंदर्यमयी बनाने के अस्थिर साधन हैं। सौंदर्यानुभूति के लिये अलंकरण की सहज प्रवृत्ति मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पायी जाती है। कविता

---

१ उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवद् अलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥

२ अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।

के क्षेत्र में भी इसका समावेश है। वाणी और अर्थ-सौंदर्य-तत्व की शोध करते-करते भारतीय आचार्यों ने अलंकारों की उद्भावना की थी। मनुष्य अपनी अभिव्यक्ति को अधिक आकर्षक और प्रभावोत्पादक बनाने के लिये अलंकारों का प्रयोग करता है। अलंकार वाणी और अर्थ में सौंदर्य-सृष्टि करते हैं। कविता में अलंकारों का प्रयोग भावों और अभिव्यक्ति दोनों को सौंदर्यमयी बनाना होता है। इस प्रकार अलंकार कविता के शोभा-साधक अवश्य हैं, किन्तु अनिवार्य सौंदर्य-साधन नहीं कि इनके उपयोग के बिना कविता कुरूपा हो जाएगी। बिना अलंकारों के भी कविता सुन्दर हो सकती है। यथा—

वह आता,
दो टूक कलेजे करता, पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनों मिल कर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक।
मुट्ठी भर दाने को भूख मिटाने को,
मुंह फटी पुरानी झोली को फैलाता। —निराला

'भिक्षुक' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ सर्वथा निरलंकार होते हुए भी भिक्षुक की भावनाओं का हृदयस्पर्शी मार्मिक चित्र प्रस्तुत करने के कारण कोई भी सहृदय इसे कविता कहने से अस्वीकार नहीं कर सकता।

जिस प्रकार एक रूपवती स्त्री अपने नैसर्गिक सौंदर्य के कारण बिना आभूषणों के भी आकर्षक बनी रहती है, उसी प्रकार कविता-कामिनी भी बिना अलंकारों के सहज सौंदर्य एवं माधुर्य के कारण विद्वानों द्वारा श्लाघनीय रहती है, गर्हणीय नहीं। रमणी के शरीर पर आभूषणों की जो उपयोगिता है, वही उपयोगिता कविता में अलंकारों की। यदि स्त्री में नैसर्गिक सौंदर्य है तो आभूषण उसको अधिक आकर्षक एवं मोहक बना देते हैं, किन्तु यदि स्त्री कुरूपा है तो अलंकारों में उसे सौंदर्य प्रदान करने की क्षमता नहीं है। अलंकार उसे हास्यास्पद बना कर उसकी कुरूपता में ही वृद्धि करेंगे। इसी प्रकार यदि कविता में स्वाभाविकता, मधुरता और सुन्दरता होगी तो अलंकार उसकी शोभा बढ़ा सकते हैं, किन्तु यदि कविता ही निम्नकोटि की है तो अलंकार उसमें सौंदर्य-विधान नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि शैली की श्रेष्ठता और अलंकार-प्रयोग में घनिष्ठ सम्बन्ध है। अलंकार अपना पूर्ण प्रभाव तभी प्रदर्शित करते हैं, जब उनका प्रयोग एक ऐसी शैली में होता है जो स्वतः थोड़ी बहुत उन्नत होती है। यदि शैली उन्नत न हुई और उसमें अलंकार प्रयुक्त हुये तो बाह्याडम्बर भी समझे जा सकते हैं और उसमें कृत्रिमता का आभास भी मिल सकता है। अनेक पाठकों के मन में यह सन्देह उठ सकता है कि कवि अपने कृत्रिम साधनों अथवा प्रयोगों से उन्हें प्रभावित करना चाहता है। स्वतः उन्नत शैली में इस प्रकार की भावना का निवारण हो जायगा। अलंकार तभी आकर्षक, प्रभावोत्पादक और सौंदर्य-साधक होंगे, जब उन्नत शैली में सहज रूप से प्रयुक्त होंगे। कविता की भावावेश की स्थिति में अलंकार स्वतः उद्भुत होते हैं।[1] और ये ही ग्रहण

1 Figures consist in the passional element—Home.

मम्मट—अलंकार हार आदि आभूषणों के समान हैं, ये कदाचित रस का उपकार करते हैं, सर्वदा नहीं, जहाँ रस नहीं है वहाँ भी अलंकार रह सकता है।[1]

जयदेव—जो अलंकार शून्य शब्दार्थ में काव्य स्वीकार करता है, वह कृती अग्नि में शीतलता को क्यों नहीं स्वीकार करता ?[2]

विश्वनाथ—अङ्गद आदि के समान शोभा के अतिशयता और रसादि के उपकारक शब्दार्थ के अस्थिर धर्मों को अलंकार कहते हैं।[1]

केशवदास—जदपि सुजाति सुलक्षणी सुवरन सरस सुवृत्त।
भूषण विनु न विराजई, कविता वनिता मित्त॥

चिंतामणि—अलंकार ज्यों पुरुष को हारादिक मन आनि।
प्रासोपम आदिक कवित अलंकार ज्यों जानि॥

कुलपति मिश्र—उक्ति-भेद तें होत हैं, अलंकार,यह जानि॥

देव कवि—सो रस बरसत भावबस अलंकार अधिकार॥
कविता कामिनि सुखद प्रद, सुबरन सरस सुजाति।
अलंकार पहिरे अधिक अद्‌भुत रूप लखाति॥

सोमनाथ—अलंकार जो होत सो उक्ति-भेद सो होत॥

दास कवि—रस कविता को अंग भूषण हैं भूषन सकल।
गुन सरूप औ अंग, दूषण करैं कुरूपता॥

रामचन्द्र शुक्ल—भावों का उत्कर्ष और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है।

सुमित्रानन्दन पन्त—अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिये नहीं हैं, वे भाव की अभिव्यक्ति के लिये विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिये राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति-नीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं।

उपर्युक्त विचारों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अलंकार कविता के भाव और अभिव्यक्ति को सौंदर्यमयी बनाने के अस्थिर साधन हैं। सौंदर्यानुभूति के लिये अलंकरण को सहज प्रवृत्ति मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पायी जाती है। कविता

---

१ उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवद् अलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादय: ॥

२ अंगीकरोति य: काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्ठामनलंकृती ॥

१ शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा: शोभातिशायिन:।
रसादीनपकुर्पन्वोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥

के क्षेत्र में भी इसका समावेश है। वाणी और अर्थ-सौंदर्य-तत्व की शोध करते-करते भारतीय आचार्यों ने अलंकारों की उद्भावना की थी। मनुष्य अपनी अभिव्यक्ति को अधिक आकर्षक और प्रभावोत्पादक बनाने के लिये अलंकारों का प्रयोग करता है। अलंकार वाणी और अर्थ में सौंदर्य-सृष्टि करते हैं। कविता में अलंकारों का प्रयोग भावों और अभिव्यक्ति दोनों को सौंदर्यमयी बनाना होता है। इस प्रकार अलंकार कविता के शोभा-साधक अवश्य हैं, किन्तु अनिवार्य सौंदर्य-साधन नहीं कि इनके उपयोग के बिना कविता कुरूपा हो जाएगी। बिना अलंकारों के भी कविता सुन्दर हो सकती है। यथा—

वह आता,
दो टूक कलेजे करता, पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनों मिल कर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक।
मुट्ठी भर दाने को भूख मिटाने को,
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता। —निराला

'भिक्षुक' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ सर्वथा निरलंकार होते हुए भी भिक्षुक की भावनाओं का हृदयस्पर्शी मार्मिक चित्र प्रस्तुत करने के कारण कोई भी सहृदय इसे कविता कहने से अस्वीकार नहीं कर सकता।

जिस प्रकार एक रूपवती स्त्री अपने नैसर्गिक सौंदर्य के कारण बिना आभूषणों के भी आकर्षक बनी रहती है, उसी प्रकार कविता-कामिनी भी बिना अलंकारों के सहज सौंदर्य एवं माधुर्य के कारण विद्वानों द्वारा श्लाघनीय रहती है, गर्हणीय नहीं। रमणी के शरीर पर आभूषणों की जो उपयोगिता है, वही उपयोगिता कविता में अलंकारों की। यदि स्त्री में नैसर्गिक सौंदर्य है तो आभूषण उसको अधिक आकर्षक एवं मोहक बना देते हैं, किन्तु यदि स्त्री कुरूपा है तो अलंकारों में उसे सौंदर्य प्रदान करने की क्षमता नहीं है। अलंकार उसे हास्यास्पद बना कर उसकी कुरूपता में ही वृद्धि करेंगे। इसी प्रकार यदि कविता में स्वाभाविकता, मधुरता और सुन्दरता होगी तो अलंकार उसकी शोभा बढ़ा सकते हैं, किन्तु यदि कविता ही निम्नकोटि की है तो अलंकार उसमें सौंदर्य-विधान नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि शैली की श्रेष्ठता और अलंकार-प्रयोग में घनिष्ठ सम्बन्ध है। अलंकार अपना पूर्ण प्रभाव तभी प्रदर्शित करते हैं, जब उनका प्रयोग एक ऐसी शैली में होता है जो स्वतः थोड़ी बहुत उन्नत होती है। यदि शैली उन्नत न हुई और उसमें अलंकार प्रयुक्त हुये तो बाह्याडम्बर भी समझे जा सकते हैं और उसमें कृत्रिमता का आभास भी मिल सकता है। अनेक पाठकों के मन में यह सन्देह उठ सकता है कि कवि अपने कृत्रिम साधनों अथवा प्रयोगों से उन्हें प्रभावित करना चाहता है। स्वतः उन्नत शैली में इस प्रकार की भावना का निवारण हो जायगा। अलंकार तभी आकर्षक, प्रभावोत्पादक और सौंदर्य-साधक होंगे, जब उन्नत शैली में सहज रूप से प्रयुक्त होंगे। कविता की भावावेश की स्थिति में अलंकार स्वतः उद्भुत होते हैं।[1] और ये ही ग्रहण

1 Figures consist in the passional element—Home.

योग्य अलंकार प्रधानतः काव्याङ्गभूत हैं।[१] काव्य में केवल वे ही अलंकार-प्रयोग अपेक्षित हैं जो बुद्धि तथा कान दोनों को प्रिय लगें। कुछ अलंकार केवल बुद्धि को ही प्रभावित करते हैं और उनका प्रभाव अर्थ समझने के उपरांत पड़ता है। कुछ अलंकार श्रुति-मधुर होते हैं और सुनते ही उनका प्रभाव पड़ने लगता है, परन्तु कुछ अलंकारों में दोनों गुण समरूप से रहते हैं। श्रेष्ठ प्रयोग तभी सम्भव होगा जब अलंकार का आधार तर्क हो और वह श्रुतिमधुर भी हों।

अलंकारों द्वारा भावोद्रेक में सहायता मिलती है और भावों की व्यंजना चित्र रूप में होने लगती है जो अत्यंत प्रभावपूर्ण तथा आकर्षक होती है। कवि-कल्पना की तूलिका यथार्थ के आधार पर आकर्षक भावना-चित्र-विचित करती है, और सुंदरतम सत्य का आभास मूर्त्तरूप में देने की चेष्टा करती है; परन्तु शैली में यह गुण तभी आयेगा जब जड़-चेतन प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण होगा। निरीक्षण द्वारा अलंकार-प्रयोग में सफलता प्राप्त होगी, तथा भावों का आलंकारिक चित्रण भी सरल हो जायगा, परिणामस्वरूप आलंकारिक उक्तियों में दुरूहता के स्थान पर स्पष्टता आयेगी। उनके द्वारा नवीनता, विलक्षणता एवं भव्यता का आभास मिलेगा, किन्तु अलंकारों का अधिक प्रयोग न होना चाहिये अन्यथा शैली बोझिल हो जायगी, सामंजस्य दूर हो जायगा, फलस्वरूप प्रभविष्णुता में कमी आ जायगी। अलंकार वाणी-विभूषण हैं। वे भाषा को उर्वर बनाते हैं। भाषा को महत्-से-महत् सत्य की अभिव्यंजना कराने की शक्ति प्रदान करते हैं। पाठकों को गहरे रूप में प्रभावित करते हैं और अभिव्यंजना में सौष्ठव और सौंदर्य की प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं। अलंकार केवल कवि की सौंदर्य-प्रियता के ही द्योतक नहीं है, अपितु उसकी सीमित शब्दावली के भी प्रमाण हैं। जब कभी शब्द-शक्ति कवि को निराधार छोड़ देती है, तब वह कल्पना शक्ति के सहारे अलंकारों के तथा लाक्षणिकता के मनोरम देश में पहुंच जाता है और वहाँ से नये-नये रत्नाभूषण लाकर कविता-कामिनी का अभिनव शृंगार करता है।[२]

अलंकार–प्रयोग में सतर्कता आवश्यक है और लक्ष्य पर समुचित विचार करने के पश्चात् ही अलंकार–प्रयोग करना चाहिए। उदाहरणार्थ यदि सौन्दर्य की

---

1 Permissible ornament being for the most part structural or necessary.

—Appreciation by Walter Pater.

2 Metapher took its rise from the poverty of language. Man not finding upon every occassion words ready made for their ideas were compelled to have recourse towords analogous, and transfer them form their original meaning, to the meaning of the required.

—Phil 10: Inq. P. 11. C. 10.

अनुभूति देना उद्देश्य है तो अलंकारों का चयन जीवन के गौरवपूर्ण स्तरों तथा सौन्दर्य-प्रसारक स्थलों से होना चाहिए। कवि यदि परिहास में सफलता पाना चाहे तो निम्नकोटि के जीवन तथा कुरूप स्थलों से ही चयन आवश्यक है। अलंकार विशेष रूप से अर्थालंकार अनुभूतिगत विशेषताओं को वर्णित करने के प्रयत्न हैं। "कहा जाता है कि समस्त अर्थालंकारों का मूल उपमा है। यह उपमा कुछ नहीं, जीवन एवं जगत की अर्थवत् छवियों को सम्बन्धित करने का एक प्रकार मात्र है। वैज्ञानिक भी वस्तुओं के सम्बन्ध-सूत्र खोजता है; किन्तु यह सम्बन्ध प्राय: कार्य-कारण मूलक होते है। साहित्यकार जिन सम्बन्धों को देखता व पाता है, वे नितान्त निम्न कोटि के होते हैं। शायद उनका मूल मानवता की अन्त: प्रकृति में रहता है, शायद वे मूल्य जगत के अनिर्वाच्य नियमों के वाहक होते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि उपमा अथवा अन्य अलंकारों का विधान कोई खामखयाली चेष्टा नहीं है। वे अलंकार जो वस्तुत: मार्मिक हैं, जो हृदय को स्पर्श करते है, प्रगल्भ कल्पना के रूप में नहीं आते, वे अनुभूति का अवियोज्य अंग, उसके विधायक अणु-परमाणु रूप होते हैं, ऐसे अलंकार वाणी या कल्पना का विलास मात्र नहीं होते।"[१] एतदर्थ अलंकारों के चयन में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वे परिचित हों और विषय से उनका सहज सम्बन्ध हो। यदि कहीं अलंकार दूर देश से लाए गये और उनका सम्बन्ध विषय से बहुत दूर है, तो वे रुचिकर न होंगे।

काव्य में अलंकार-प्रयोग की एक मर्यादा है। अलंकार यदि भावों को स्पष्ट एवं रमणीय बना कर रसात्मकता में वृद्धि करते हैं, तो वे अवश्यमेव अभिनन्दनीय हैं; किन्तु जब वे साधन न बन कर साध्य का रूप धारण करते हैं, तब वे भार रूप प्रतीत होते हैं। कविता में अलंकारों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु वे कविता की आत्मा नहीं हो सकते। प्रकारान्तर से इसी तथ्य की पुष्टि सुप्रसिद्ध मनीषी कुमार स्वामी ने भी की है।[२] कविता की आत्मा मुख्य रूप से भाव, विचार और कल्पना है। इन्हीं के कारण कविता में स्थायित्व आता है। अलंकार कविता-कामिनी को अधिक सुन्दर बना कर उसके स्थायित्व में अधिक वृद्धि कर सकते हैं, परन्तु मूल पदार्थ का स्थान नहीं ग्रहण कर सकते और जब वे ऐसा करते हैं, तभी कविता-कामिनी का गला घुँटता है तथा आत्माभाव में अलंकार सर्वथा अनाकर्षक और सौन्दर्यहीन प्रतीत होते है। जो शैली अलंकारों को केवल सज्जा के लिए प्रयुक्त

---

१ साहित्य-चिंता—डा० देवराज।

2 It is evan harder for us to believe that ornament, or decoration are properly speaking, integral factors of beauty of the work of art, certainly not insignificant parts of it, but rather necessary to its efficacy.

—Figures of speech or Figures of Thought. chap. III. ornament by Anand K. Coomarswami.

करती है, वह कृत्रिम तथा अस्वाभाविक होती है और उससे दुरूहता बढ़ती है। अतः अलंकारों में प्राञ्जलता और रसात्मकता लाने के लिए उनके प्रयोगों में सतर्कता, स्वाभाविकता, औचित्य और परिस्थिति का ध्यान परमावश्यक है।

अलंकार और अलंकार्य

भारतीय आचार्यों ने अलंकारों का बड़ा ही सूक्ष्म विवेचन किया है। एतदर्थं भारतीय काव्यशास्त्रियों ने अलंकार विषयक जिन सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक समस्याओं का संतोषजनक समाधान आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व प्रस्तुत कर दिया था, उन्हीं पर पाश्चात्य साहित्याचार्यों ने आधुनिक युग में चिंतन प्रारम्भ किया है और जिन्हें सर्वथा अभिनव अनुशीलन जैसा अभिधान प्रदान करते हैं। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की उद्भावना के उपरान्त यूरोप के आधुनिक साहित्य-जगत् में अलंकार और अलंकार्य के भेदाभेद का प्रश्न एक नवीन विचार के रूप में मान्य है; किन्तु भारतीय साहित्यशास्त्रियों के लिए इसमें कोई नवीनता नहीं दृष्टिगत होती; क्योंकि इस प्रश्न का उत्तर वे अतिदीर्घकाल पूर्व दे चुके हैं। दंडी, भामह वामनादि पूर्वालंकारिकों ने अलंकार-अलंकार्य में अभेद स्वीकार किया है।[1] आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथादि ने अलंकार-अलंकार्य में भेद माना है।[2] इन आचार्यों ने इस प्रश्न पर कोई पृथक् विवेचन नहीं किया है, किन्तु आचार्य कुतंक ने अवश्य इस पर सर्वथा स्पष्ट मत व्यक्त किया है। "अलंकार और अलंकार्य (शब्द तथा अर्थ) को पृथक्-पृथक् करके उनकी विवेचना उस (काव्य की व्युत्पत्ति) का उपाय होने से ही की जाती है। (वास्तव में तो) अलंकार सहित (शब्द और अर्थ अर्थात् तीनों की समष्टि) काव्य है। (अतः तीनों का पृथक्-पृथक् विवेचन उचित नहीं है; फिर भी उस पृथक्-पृथक् विवेचन से काव्य-सौन्दर्य को ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त होती है। अतः उनको अलग-अलग करके विवेचन करने की शैली अलंकार ग्रंथों में पाई जाती है) अलंकृति का अर्थ है अलंकार, जिसके द्वारा अलंकृत किया जाए (उसको अलंकार कहते हैं)। इस प्रकार का विग्रह करने से (अलंकृत शब्द अलंकार के लिए प्रयुक्त होता है)। उसका (काव्यालंकार ग्रंथों में) विवेचन अर्थात् विचार किया जाता

---

१ काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारन् प्रचक्षते।
ते चाद्यपि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येनवक्ष्यति।२। १ काव्यादर्श
सौन्दर्यमलंकारः।१,१,२। काव्यालंकारसूत्रवृत्ति

२ विवक्षा तत्परत्वेन नांगित्वेन कदाचन।२।१८ ध्वन्यालोक
उपकुर्वन्ति तं सन्त मेऽङ्गद्वारेणजातुचित्।
हारादिवलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ ८।६७ काव्यप्रकाश
शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारातेऽङ्गदादिवत्॥ १०।१। साहित्यदर्पण

है और जो (उस अलंकृति का) अलंकरणीय अर्थात् वाचक (शब्द) रूप तथा वाच्य (अर्थ) रूप है, उसका विवेचन किया जाता है (अर्थात्) सामान्य तथा विशेष लक्षणों द्वारा उसका स्वरूप निरूपण किया जाता है। किस प्रकार? अपोद्धृत्य अर्थात् अलग निकाल करके, पृथक्-पृथक् करके जिस समुदाय (रूपवाक्य) में उन दोनों (अलंकार्य शब्द, अर्थ तथा अलंकृति) का अंतर्भाव है, उसमें विभक्त करके (उनका विवेचन काव्यालंकार-ग्रंथों में किया जाता है)। किस कारण से (विवेचन किया जाता है)? उस (काव्य के समझने) का उपाय होने से। तत्काव्य का ग्राहक है। उसका उपाय तदुपाय हुआ। उसका भाव तदुपायता हुई। उसके कारण से (विवेचन किया जाता है)। इसलिये इस प्रकार का विवेचन काव्युत्पत्ति का उपाय हो जाता है। (केवल इसी लिए शब्द और अर्थ रूप अलंकार्य तथा उनके अलंकारों का अलग-अलग विवेचन काव्यालंकार ग्रंथों में किया जाता है। वास्तव में तो काव्य की दृष्टि से उन तीनों की अलग-अलग सत्ता नहीं है, अपितु उनकी समष्टि का ही नाम काव्य है। व्यष्टि का कोई महत्व नहीं)। परन्तु समुदाय के अंतःपाती असत्य पदार्थों का भी (कभी-कभी) व्युत्पत्ति के लिए (शास्त्रों में) विवेचन पाया जाता है। जैसे (वैयाकरणों के मत में वाक्य के अन्तर्गत पदों का और पदों के अन्तर्गत वर्णों का अलग-अलग कोई अस्तित्व नहीं है, फिर भी) पदों के अन्तर्गत प्रकृति-प्रत्यय का और वाक्य के अन्तर्गत पदों का अलग-अलग विवेचन व्याकरण-ग्रंथों में किया जाता है। इसी प्रकार काव्य में शब्द तथा अर्थरूप अलंकार्य और अलंकारों की (अलग-अलग स्थिति न रहते हुए भी उनको अलग-अलग करके विवेचन किया जाता है)। यदि इस प्रकार काव्य-व्युपत्ति का उपाय होने से असत्य भूत (अलंकारों तथा अलंकार्य अथवा शब्द तथा अर्थ) उन दोनों का पार्थक्य (मानकर अलग-अलग निरूपण) किया जाता है तो फिर (वस्तुतः) सत्य क्या है, इसको कहते हैं 'तत्वं सालंकारस्य काव्यता'। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अलंकार सहित अर्थात् अलंकरण सहित, सम्पूर्ण अर्थात् अवयवरहित समस्त समुदाय की काव्यता अर्थात् कविकर्मत्व है। इसलिए अलंकृत (काव्य का ही काव्यत्त्व है अर्थात् अलंकार काव्य का स्वरूपाधायक धर्म है न कि काव्य में अलंकार का योग होता है"।[१] अतः साहित्यदर्पणकार ने काव्य प्रकाश-

---

१ अलंकृतिरलङ्कार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते।
तदुपायतया तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता ॥१।६॥

अलंकृतिलङ्करणाम्। अलंक्रियते य येतिविगृह्य। सा विवेच्यते विचार्यते। यच्चालंकार्यमलङ्करणीयं वाचकरूपं वाच्यरूपञ्च तदपि विवेच्यते। तयोः सामान्यविशेषलक्षणद्वारेण स्वरूपनिरूपणं क्रियते। कथम्, अपोद्धृत्य। निकृष्य, पृथक्–पृथगवस्थाप्य, यत्र समुदायरूपे तयोरन्तर्भावस्तस्माद्वि–भज्य। केन हेतुना, तदुपायतया। तदिति काव्य परामृश्यते। तस्योपायस्त–दुपायस्तस्य भावस्तदुपायता तया हेतुभूतया। तस्मादेवंविधो विवेकः

कार के लक्षण का खंडन करते हुए जो अलंकारों को काव्य का शोभाधायक धर्म माना है, स्वरूपधायक नहीं, वह कुंतक के अभिप्राय के विपरीत है। वामन के इन दो सूत्रों 'काव्यग्राह्यमलंकारात्' तथा 'सौन्दर्यमलंकार:' इन दो सूत्रों द्वारा कुंतक के ही मत का समर्थन होता है।

वक्रोक्तिजीवितकार ने प्रथम उन्मेष में ही स्वभावोक्ति में अलंकारता-निषेध प्रसंग में पुन: अलंकार-अलंकार्य का विवेचन किया है। आचार्य कुंतक का कथन है कि यदि स्वभावोक्ति को अलंकार मान लिया जाय तो अलंकार्य किसे कहा जाएगा? इस पर वक्रोक्तिकार प्रश्नोत्तर शैली में स्वभावोक्तिवादी दृष्टिकोण से शंका उठाकर उसका वक्रोक्तिवादी दृष्टिकोण से समाधान करते हुए कहते हैं कि "यह दोनों (शब्द और अर्थ) अलंकार्य होते हैं और चतुरतापूर्ण शैली से कथन (वैदग्ध्यभङ्गीभणिति) रूप वक्रोक्ति ही उन दोनों (शब्द का अर्थ) का अलंकार होती है।"[१]

"पूर्व पक्ष आपने—पहले यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि (अलंकार और अलंकार्य के) विभाग से रहित सालंकार (शब्दार्थरूप) वाक्य का ही काव्यत्व है तो आप यह क्यों कहते हैं?

उत्तर पक्ष—ठीक है। (हम अलंकार्य और अलंकार का वास्तविक विभाग नहीं मानते हैं)। किन्तु (हमारे मत में) वहाँ भेद विवक्षा (अपोद्धारबुद्धि) से पूर्वोक्त (१।१६ में वर्णित) वर्ण पद-न्याय से अथवा वाक्य-पद न्याय से विभाग किया जा सकता है। यह कह ही चुके हैं। (इसीलिए यहाँ भी अलंकार्य तथा अलंकार का भेद होना आवश्यक है, भले ही वह पारमार्थिक न हो।)"[२]

काव्यव्युत्पत्त्युपायतां प्रतिपद्यते। दृश्यते च समुदायान्त: पानिनामसत्यभूताना-मपि व्युत्पत्तिनिमित्तमपोद्धृत्य विवेचनम्। यथा पदान्तर्भूतयो: प्रकृतिप्रत्ययो:, वाक्यन्तर्भूतानां पदानाञ्चेति।

यद्येवमसत्यभूतोऽप्यपोद्धारस्तदुपायतया क्रियते तत् किं पुन: सत्यमित्याह— 'तत्त्वं सालंकरस्य काव्यता'।

अयमत्र परमार्थ:। सालङ्कारस्यालङ्करणनहितस्य सकलस्य निरस्तावयवस्य सत: काव्यता कविकर्मत्वंम्। तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थिति:, न पुन: काव्यस्यालङ्कारयोग इति।।६।। वक्रोक्तिजीवितम्।

१ उभावेतावलङ्कार्यौ तयो: पुनरलंकृति:।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभाणितिरुच्यते ।।१।१०।। —वक्रोक्तिजीवितम्।

२ अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृति:।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ।। १।११।।
ननु च पूर्वमेवावस्थापितं यत्, वाक्यस्यैवाविभागस्य सालंकरस्य काव्यात्ममिति (१।६) तत्किमर्थमेतदभिधीयते? सत्यम्। किन्तु तत्रासत्यभूतोऽपि, अपोद्धार-बुद्धिविहितोविभाग: कर्त्तुं शक्यते वर्णपदन्यायेन वाक्यपदन्यायेन चेत्युक्तमेव।
—वक्रोक्तिजीवितम्

इस प्रकार आचार्य कुंतक तत्वत: अलंकार और अलंकार्य में अभेद मानते हैं, किंतु साहित्य-सौन्दर्य को समझने के लिये व्यवहाररूप में पृथक् विवेचन भी मान्य है और साहित्य के लिए वह उपयोगी होता है। ऐसा केवल साहित्यशास्त्र में ही नहीं, अपितु अन्य शास्त्रों में भी होता है, जिसका उदाहरण आचार्य कुंतक ने स्वयं दिया है।

पाश्चात्य साहित्य-जगत में प्राचीन साहित्यकारों ने अलंकार और अलंकार्य में पार्थक्य माना है; किंतु आधुनिक काल में इटली के बेनेडेटो क्रोच ने इस मान्यता का खंडन करते हुये लिखा है कि "स्वयं इस बात की जिज्ञासा की जा सकती है कि अभिव्यक्ति (अलंकार्य) में अलंकार का किस प्रकार नियोजन किया जा सकता है ? क्या बहिरंग भाव से ? ऐसी परिस्थितियों में वह अभिव्यक्ति से सदा ही पृथक् रहेगा। क्या अंतरंगभाव से ? ऐसी दशा में वह अभिव्यक्ति का साधक न होकर बाधक हो जायगा अथवा उसका अंग बनकर अलंकार ही न रह जाएगा और तब अभिव्यक्ति का ही एक अंग बन जाएगा"।[1] क्रोचे मूलत: एक तत्ववादी दार्शनिक हैं। वह द्वैतवाद के विरोधी हैं। क्रोच-दर्शन के प्रख्यात समालोचक विल्डन कार ने लिखा है कि "अन्तिम अर्थात् पूर्ण दार्शनिक योजना प्रस्तुत करने का दावा क्रोचे का नहीं है, अपितु एक ऐसे दार्शनिक सिद्धांत की स्थापना है जो उसे द्वैततत्व-कल्पना से मुक्ति प्रदान करतीहै"।[2] इसी कारण कुंतक ने अभिव्यक्ति-विभाजन का विरोध किया है। क्रोचे ने साहित्य-विभाजन के विरोध में यहाँ तक कह दिया कि विभाजनसे सम्बन्धित समस्त पुस्तकें यदि जला दी जायँ, तो हानि न होगी। अलंकार-अलंकार्य के भेदाभेद के इस शास्त्रीय विवेचन को अब हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

दृढ़ जटा-मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर, विपुल
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार
चमकती दूर ताराएँ ज्यों हों कहीं पार।
—'निराला'

---

1 One can ask oneself how an ornament can be joined to expression. Externally ? In that case it must always remain separate. Internally ? In that case either it does not assist expression and mars it; or it does form part of it and is not an ornament but a constituent element of expression indistinguishable from the whole.

Aesthetic, ch IX, P. 69.

2 Croce's claim is not to have presented a final system of philosophy which finally delivers it from reproach of a dualistic hypothesis.

—The Philosophy of Benedetto Croce: P. 209.

इन पंक्तियों में कवि ने राम-रूप का वर्णन किया है। भगवान राम युद्ध स्थल से लौट रहे हैं। उनकी जटाएँ बिखर कर भुजाओं, वक्ष और पीठ पर फैल गई हैं तथा नेत्र चमक रहे हैं। राम के इस रूप की उपमा पहाड़ से दी गई है जो रात्रि के अंधकार से आच्छादित हो चला है और जिसके ऊपर दो तारिकाएँ चमक रही हैं। कवि ने राम के रूप की विराटता का वर्णन करने का प्रयत्न किया है। राम के शरीर की विशालता के लिये पर्वत, शरीर पर फैली हुई कुंतल राशि के लिए अंधकार और दोनों नेत्रों के लिये दो तारिकाओं का अप्रस्तुत-विधान किया गया है। यह साम्यारोपण अत्यंत समीचीन एवं रम्य है। इससे पाठक को राम के रूप की विराटता की अनुभूति होती है। इस प्रकार संस्कृत-काव्यशास्त्रियों ने वस्तु, भाव और अलंकार की सत्ता को व्यवहार रूप में पृथक् माना है; किन्तु क्रोचे को यह विवेचना मान्य नहीं है, क्योंकि कवि की यह अनुभूति अखंड है और इसलिए उसकी अभिव्यक्ति भी अखंड होनी चाहिये। उसका उपर्युक्त ढंग से विभाजन नहीं किया जा सकता।

तो, क्या भारतीय आचार्यों को अनुभूति-अभिव्यक्ति की अखण्डता का ज्ञान नहीं था? उन्हें उसका ज्ञान था और शताब्दियों पूर्व हो चुका था। संस्कृत व्याकरणशास्त्र के इतिहास में इस पर पर्याप्त शास्त्रार्थ प्राप्त होता है। आचार्यों ने बतलाया है कि "पदों से भिन्न उनके अवयवभूत प्रकृति प्रत्यय अथवा वर्णों की और वाक्य से भिन्न उसके अवयव पदों की कोई पृथक् वास्तविक स्थिति नहीं है, अपितु केवल 'पदस्फोट' अथवा केवल 'वाक्यस्फोट' ही यथार्थ हैं।"[१] आचार्य कुंतक ने भी इसे स्वीकार किया है, किन्तु काव्य-सौन्दर्य को हृदयंगम करने के लिये अलंकार-अलंकार्य में भेद आवश्यक माना है।

अनुभूति-अभिव्यक्ति की अभेद-स्थापना के कारण क्रोचे किसी भी कलाकृति के विभाजन के विरुद्ध है। उनका कहना है कि इस प्रकार का विभाजन उस कृति को उसी प्रकार नष्ट कर देता है जिस प्रकार किसी सप्राण शरीर को अंगों में विभक्त कर देने से वह शव-रूप में परिवर्तित हो जाता है। पर उन्होंने उन प्राणियों पर भी ध्यान रक्खा है जो कट कर कटे हुए अंशों से कई प्राणियों को जन्म देते हैं। इसी से उन्होंने कहा है कि यदि कोई कलाकृतियों का ऐसा विभाजन कर सके, जिससे उसके विभाजित अंश भी नव-नव विजृम्भण के द्वारा अभिनव अभिव्यंजनओं के रूप में उत्पन्न हो सकें, तो उसका प्रमाण आवश्यक है।[२] क्रोचे की इस आलोचना में

१ पदे न वर्णा विद्यन्तेवर्णोष्वयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यतं प्रविवेको न कश्चन।।६८।
—महामहोपाध्यायकौण्डभट्ट: वैयाकरणभूषणसार, स्फोट-निरूपण-प्राकरण।

But such division annihilates the work, as dividing the organism into heart, drain, nerves. muscles and so on, turns the

पर्याप्त औचित्य है। भारतीयों द्वारा काव्य के विविधि रूपों के विभाजन से काव्य-सौंदर्य उद्घाटित हुआ है। यदि ऐसा न किया गया होता तो भारत में काव्यशास्त्र का अस्तित्व ही समाप्त हो गया होता।

हिन्दी-साहित्य में सर्वप्रथम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने क्रोचे की इस कला-समीक्षा का बड़े ही प्रबल शब्दों में खण्डन किया कि "अलंकार-अलंकार्य का भेद मिट नहीं सकता। उक्ति चाहे कितनी ही कल्पनामयी हो, उसकी तह में कोई प्रस्तुत अर्थ अवश्य ही होना चाहिए। इस अर्थ मे या तो किसी तथ्य की या भाव की व्यंजना होगी। इस अर्थ का पता लगाकर इस बात का निर्णय होगा कि व्यंजना ठीक हुई या नहीं। अलंकारों (अर्थालंकारों) के भीतर भी कोई-न-कोई अर्थ व्यंग्य रहता है, चाहे उसे गौण ही कहिए।"[1] आगे चलकर इसी प्रसंग में पुनः कहा है कि "इस अलंकार आदि के नाना भेद-निरूपण क्रोचे के अनुसार कला के निरूपण में कोई योग न देकर तर्क या शास्त्रपक्ष में सहायक होते हैं। उन सबका मूल्य वैज्ञानिक समीक्षा में है, कला-निरूपिणी समीक्षा में नहीं। इस सम्बन्ध में मेरा वक्तव्य यह है कि वैज्ञानिक या विचारात्मक समीक्षा ही कला-निरूपणी समीक्षा है, उसी का नाम समीक्षा है। उसके अतिरिक्त जो कल्पनात्मक या भावात्मक पदावली व्यवहृत होगी, वह समीक्षा न होगी, किसी कविता का आधार लेकर खड़ा किया हुआ एक हवाई महल होगा, धुएँ का का धरहरा होगा।"[2] आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने आचार्य शुक्ल की इस स्थापना की आलोचना की है कि रस और अलंकार, भावपक्ष और शैलीपक्ष का पृथक्करण और आत्यन्तिक विच्छेद शुक्ल जी का दूसरा साहित्यिक सिद्धांत है। × × × न तो भारतीय साहित्याचार्य और क्रोचे जैसे नवीन सिद्धांत-संस्थापक वस्तु और शैली में इस प्रकार का कोई भेद मानते हैं।"[3] इस विषय में मेरा मत है कि तत्वतः आचार्य शुक्ल को अलंकार-अलंकार्य का अभेद अमान्य नहीं था, किन्तु वह व्यवहारगत भेद मानते थे, क्योंकि उसके बिना तो काव्यशास्त्र की सत्ता ही समाप्त हो जाती है। डा० नगेन्द्र ने पौर्वात्य-पाश्चात्य विचारकों की समीक्षा करने के पश्चात् आचार्य कुंतक के ही मत का समर्थन किया है कि "इन दोनों की सापेक्षिक सत्यता पर यदि विचार किया जाय तो भारतीय आचार्य की ही

---

living being into a corpse. It is true that there exist organnisms in which the division gives place to more living things, but in such a case and if we transfer analogy to the aesthetic fact, we must conclude for a multiplicity of germs of life, that is to say, for a speedy reelaboration of the single parts into new single expressions. —Aesthetic P. 33-34.

१ चिंतामणि (द्वितीय-भाग), काव्य में अभिव्यंजनावाद पृ० २०७

२ ,, ,, ,, पृ० २०६

३ प्रो० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र की पुस्तक 'साहित्य की वर्तमानधारा' की भूमिका

स्थिति अधिक विश्वस्त है। दोनों में व्यवहारगत भेद न मानने से न केवल समस्त साहित्यशास्त्र वरन् भावशास्त्र और विचारशास्त्र का भी अस्तित्व लुप्त हो जाता है। विदेश के साहित्यमनीषी भी प्राय: इसी के पक्ष में है कि तत्वदृष्टि से अलंकार और अलंकार्य में अभेद होते हुए भी व्यवहार-दृष्टि से दोनों में भेद-भावना अनिवार्य है।"[१] साहित्य के लिये यही स्थापना उचित और उपादेय है।

● अलंकार और रसानुभूति

भारतीय साहित्याचार्यों ने रस को ही काव्य का सर्वोपरि तत्व माना है। रसानुभूति में अलकारों का बहुत महत्वपूर्ण योग है। कविगण जिस भाषा-शैली द्वारा काव्य-रचना करते हैं उससे पाठकों के मन में प्रसुप्त भाव जाग्रत होने लगते हैं और उन्हें काव्य में व्याप्त रस की अनुभूति होने लगती है। रससिद्ध कवि वही हो सकते हैं जो भावनाओं का बिम्बग्रहण कराने में सक्षम हैं। बिम्बग्रहण कराना कवि की वाणी पर आश्रित है और कवि-वाणी में अलंकारों का प्रमुख स्थान है। अलंकारों द्वारा भावों का गोचर प्रत्यक्षीकरण अधिक सुन्दरता से किया जा सकता है। आचार्य शुक्ल ने कहा है कि "अलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप में हों (जैसे उपमा रूपक, उत्प्रेक्षा आदि), चाहे वाक्य-वक्रता के रूप में (जैसे अनुप्रास) लाये जाते हैं वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष के साधन के लिये ही हैं। मुख के वर्णन में जो कमल, चंद्र आदि सामने रक्खे जाते हैं वह इसलिये जिसमें इनकी वर्ण-रुचिरता, कोमलता, दीप्ति इत्यादि के योग से सौंदर्य की भावना और बढ़े।"[२] आचार्य मम्मट के अनुसार भी काव्य में अलंकारों का प्रयोग चमत्कार शब्द-वैचित्र्य के लिये अपितु अर्थ-वैचित्र्य और रसोत्कर्ष-अंग के रूप में किया जाना चाहिए। रसोत्कर्ष भावनाओं के जागरण पर होता है और अलंकार भावनाओं के उत्कर्ष के प्रधान उपादान हैं।

यत्नपूर्वक अलंकार-विधान से काव्य में सौंदर्य का समावेश नहीं हो सकता। इसीलिए आचार्य शुक्ल ने कहा है कि स्वाभाविक रूप से किए गए अलंकार-विधान से ही काव्य में रमणीयता आती है। वे अलंकारों में चमत्कार के स्थान पर रमणीयता को ही आवश्यक मानते हैं, जिसमें शब्द-कौतुक और अलंकार-सामग्री की विलक्षणता नहीं रहती, बल्कि भावरूप क्रिया या गुण का उत्कर्ष करने की शक्ति रहती है। उन्होंने कहा है कि भावानुभव वृद्धि करने के गुण का नाम ही अलंकार की रमणीयता है। अलंकारों की यह सहज रमणीयता ही काव्य-रमणीयता की सर्जना करती है और रसानुभूति में योग देती है। रसानुभूति में श्रोता या पाठक की चितवृत्तियाँ अन्वित हो जाती हैं। अलंकारों द्वारा काव्यगत अर्थ का सौंदर्य भी चित्तवृत्तियों को प्रभावित

---

१ रीति-काव्य की भूमिका पृ० ८४

२ चितामणि (कविता क्या है ?) पृ० १८१

कर भाव-गाम्भीर्य तक पहुंचा देता है। कवि की भावनाओं का यथातथ्यरूप पाठक के सम्मुख आ जाता है और रसानुभूति अधिक तीव्र हो जाती है। इस प्रकार अलंकारों और रसों का मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध भी स्थापित हो जाता है।

काव्य में अलंकार-प्रयोग की एक मर्यादा है। अलंकार यदि भावों को स्पष्ट एवं रमणीय बनाकर रसात्मकता में वृद्धि करते हैं, तो वे अवश्यमेव अभिनन्दनीय हैं; किन्तु जब वे साधन न बनकर साध्य का रूप धारण करते हैं, तब वे भाररूप प्रतीत होते हैं। कविता में अलंकारों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु वे कविता की आत्मा का स्थान नहीं ग्रहण कर सकते। कविता की आत्मा मुख्यरूप से भाव, विचार और कल्पना हैं। इन्हीं के कारण काव्य में स्थायित्व आता है। अलंकार कविता-कामिनी के स्थायित्व को और अधिक सुन्दर बना सकते हैं; परन्तु मूल पदार्थ का स्थान नहीं ग्रहण कर सकते और जब वे ऐसा करते हैं, तभी कविता-कामिनी का गला घुंटता है तथा आत्माभाव में अलंकार सर्वथा अनाकर्षक और सौंदर्यहीन प्रतीत होते हैं। जो शैली अलंकारों को केवल सज्जा के लिये प्रयुक्त करती है, वह कृत्रिम तथा अस्वाभाविक होती है और उससे दुरुहता बढ़ती है। अतः अलंकारों में प्राञ्जलता एवं रसात्मकता लाने के लिये उनके प्रयोगों में सतर्कता, स्वाभाविकता औचित्य और परिस्थिति का ध्यान है।

● अलंकार और मनोविज्ञान

मानव स्वभावतः सौंदर्यप्रिय प्राणी है। उसकी यह सौंदर्यप्रियता उसके जीवन के अथ से लेकर इति तक के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश पाती है। वह सर्वदा सुन्दर वस्तुओं का ही चयन कर कार्यों को सुन्दरता से सम्पादन करने का आकांक्षी रहता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसकी यही प्रवृत्ति अलंकार-विधान में भी कार्य करती है। कतिपय लोगों के अनुसार तो सौंदर्य ही काव्य है। यदि यह मत भी मान लिया जाय तो जिस प्रकार एक सुन्दरी अपने सौंदर्य में और अधिक वृद्धि करने के लिये अपने को वस्त्राभूषणों से सुसज्जित करती है, उसी प्रकार कवि भी कविता-कामिनी को वाणी-विभूषणों से अलंकृत कर उसे रमणीय से रमणीयतम बना कर अभिव्यक्ति में अत्यधिक प्रभविष्णुता लाने का प्रयत्न करते है।

मानव-हृदय और अलंकारों का घनिष्ठ संबंध है। मनुष्य कविता में उन्हीं के द्वारा अपनी सहज कलात्मक प्रवृत्ति का परिचय देता है। अधिकांश काव्यालंकारों का आधार मनोविज्ञान हैं, क्योंकि वे हमारी रसानुभूति में सहायक होते हैं और रस तथा मनोविज्ञान का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस प्रकार अलंकारों का भी मनोविज्ञान से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। हमारी वाणी विभूषित होने का कारण भावोद्दीपन है। "जब हमारी भावना उद्दीप्त हो जायगी तो हमारी वाणी भी आप-से-आप उद्दीप्त हो जायगी। भावना के उद्दीपन का मूल कारण है मन का ओज, जो मन को उद्दीप्त कर देता है। मन के ओज का सहज माध्यम है आवेग, और वाणी

के ओज का सहज माध्यम है अतिशयोक्ति। इसी प्रश्न को दूसरे प्रकार से भी हल किया जा सकता है। हमारे अलंकार-प्रेम की प्रेरक प्रवृत्ति है, आत्म-प्रदर्शन और प्रदर्शन में अतिशय का तत्व अनिवार्यतः होता है। इस प्रकार अलंकृत वाणी (स्पष्ट शब्दों में) अलंकार का मूल रूप (अतिशयोक्ति) ठहरती है। अतिशयोक्ति का अर्थ है असाधारण उक्ति। वास्तव में जैसा कि अभिनव के उद्धरण से स्पष्ट है कि भामह ने वक्रता की और दण्डी ने अतिशय की बहुत-कुछ एक-से ही शब्दों में परिभाषा की है। दोनों का तात्पर्य लोकाक्रांतगोचरता से ही है, इसलिये अतिशयोक्ति अथवा वक्रोक्ति किसी को भी अलंकार-सर्वस्व माना जा सकता है। यह तो मूल प्रेरणा की बात हुई। व्यावहारिक धरातल पर आकर भी हम अलंकारों के कुछ अपेक्षाकृत मूर्त आधार निर्धारित कर सकते हैं। यहाँ भी यदि वही प्रश्न फिर उठाया जाय कि हम अलंकार का प्रयोग किसलिये करते हैं तो व्यवहारतल पर भी उसका एक ही स्पष्ट उत्तर है; उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये। ऐसा करने के लिये हम सदृशलोकमान्य वस्तुओं से तुलना के द्वारा अपने कथन को स्पष्ट बना कर उसे श्रोता के मन में अच्छी तरह बैठाते हैं; बात को बढ़ा-चढ़ा कर उसके मन का विस्तार करते हैं, बाह्य वैषम्य आदि का नियोजन करके उसमें आश्चर्य की उद्भावना करते हैं, अनुक्रम अथवा औचित्य की प्रतिष्ठा करके उसकी वृत्तियों को अन्वित करते हैं। बात को घुमा-फिरा कर वक्रता के साथ कह कर उसकी जिज्ञासा उद्दीप्त करते हैं, अथवा बुद्धि की करामात दिखाकर उसके मन में कौतूहल उत्पन्न करते हैं"[१] इस प्रकार स्पष्ट है कि अलंकारों का मनोविज्ञान से सांद्र सम्बन्ध है।

काव्य की मूल प्रेरणा के विषय में साहित्य-संसार में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधुनातन विचार यह है कि काव्य के मूल में यौन भावना है। फ्रायड के इस विचार को अनेक पौरस्त्य और पाश्चात्य विद्वानों की स्वीकृति प्राप्त हुई है।[२] यद्यपि भारतीय काव्यशास्त्र, काव्य की मूल प्रेरणा के विषय में इस प्रकार की विचारधारा को स्वीकृति नहीं प्रदान करता है, फिर भी हम यदि इसे स्वीकार करें तो काव्य सौंदर्य के विषय में यह सिद्धांत और अधिक सत्य सिद्ध होता है; अतः अलंकार-योजना के मूल में भी यौन-भावना ही कार्य करती है, इस कथन में कोई विशेष अनौचित्य नहीं प्रतीत होता।

---

१ डा० नगेन्द्र रीति-काव्य की भूमिका, पृष्ठ ८६

2 (a) The stuff of the sexual life is the stuff of art, if it is expressed in one channel it is lost for the other.

—Havelock Ellis : Psychology of Sex,—Vol. VI, P. 173

(b) Much of what is best in religion, art and life, owes its charm to the progressively widening irradiation of sexual feeling.

—Dr. Bhagavan Das : Science of Emotions, P, 421

प्रतीक और मनोविज्ञान

हिन्दी-कविता में प्रतीकों का प्रयोग प्राय: अलंकार-प्रणाली के अन्तर्गत उपमान के रूप में हुआ है। अत: यहां प्रतीकों पर भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार कर लेना आवश्यक है।

प्रतीकों का प्रसार भाषा, साहित्य, कला, धर्म, दर्शन और यहाँ तक कि मानव के दैनिक जीवन तक है।[१] भाषा वैज्ञानिकों का कथन है कि भाषा का आदि रूप प्रतीकों में ही था और ये ही प्रतीक तब मनोभावों, इच्छाओं आदि की अभिव्यक्ति थे। प्रतीकवाद का प्रारम्भ ही सृष्टि के प्रथम पुरुष के प्रथम प्रस्फुटित शब्दों से माना जाता है,[२] जिसमें मनुष्य के विचार, कल्पना, मनोभावादि निहित रहते हैं।[३] बिना अर्थ के शब्द का कोई महत्त्व नहीं है; अत: शब्द विचारों के प्रतीक है।

वैसे तो सम्पूर्ण विचार-क्षेत्र में प्रतीक प्रयुक्त होते हैं, किन्तु साहित्य में इनका विशेष महत्व है। हिन्दी-कवियों ने प्रतीकों का पर्याप्त प्रयोग किया है। आंग्ल-कवियों में स्विनबर्न और रोसेटी इस कला में पारंगत थे। साधारणतया प्रतीकों का अर्थ संक्षिप्तता, स्पष्टता, बोधगम्यता, सौन्दर्य-बोधात्मकता, लाक्षणिकता आदि से लिया जाता है, किन्तु मनोविश्लेषण में प्रतीक अवचेतन-मन की दमित-वासनात्मक (Erotic) आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति माने जाते हैं। ये दमित इच्छायें संवेगात्मक संतुष्टि के लिये वेष-परिवर्तन कर प्रतीकों के रूप में अभिव्यक्त होती हैं।[४]

---

1 Man lives in a symbolic universe. Language, myth, art and religion are parts of this Universe. They are the varied threads which weave the symbolic net, the tangled web of human experience.
—An Essay on Man by Ernest Cassirer, quoted in Exploring Poetry by M. L. Rosenthaland and A. J. M. Smith, P. 497.

2 Symbolism began with the first words uttered by the first man, as he named every living thing, or before them in heaven God named the world into being.
Arthur Symons : The Symbolist Movement in Literature.

3 The word is a symbol, and its meaning is constituted by the ideas, images and emotions which it raises in the minds of the hearers.
—Whitehead : Symbolism its Meaning and Effects, P. 2

4 A final means of expressson of repressed material, one which lends itself to very general use on account of its especial suitability for disguising the unconcious and adopting it (by compromise formation) to new contents of unconciousness, is the

प्रतीकों के विषय में यह विचारधारा फ्रायड और उसके अनुयायियों की है। जुंग ने फ्रायड के प्रतीक-सिद्धान्त की आलोचना की है कि फ्रायड को प्रतीक (Symbol) के स्थान पर संकेत (Sign) प्रयोग करना चाहिये था। जुंग ने प्रतीक को संकेत तथा रूपक (Allegory) से भिन्न बतलाते हुए कहा है कि प्रत्येक प्रतीक एक मनोवैज्ञानिक सूत्र और सिद्धान्त के प्रतिनिधिरूप में मानव-जीवन का पथ-प्रदर्शन करता है। जुंग के अनुसार प्रतीक केवल स्थानापन्न नहीं हैं, अपितु उनका एक विशेष अर्थ और महत्व है,[1] और इस प्रकार प्रतीक अवचेतन-मन के व्याख्याता है।

प्रतीक द्वयर्थक होते हैं—वाह्य और आन्तरिक। आन्तरिक अर्थ ही वास्तविक होता है। प्रतीकों के अर्थ में गत्यात्मकता होती है। एक ही प्रतीक विभिन्न विचारों का द्योतक हो सकता है।[2] यद्यपि यह कहना ठीक है कि मानवी प्रकृति में सर्वत्र कुछ न कुछ तत्व एक से हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मानवी-प्रक्रियाओं के विभिन्न क्षेत्रों के विभिन्न व्यक्तियों द्वारा एक ही ढंग की अभिव्यक्ति हो। यह अवश्य

---

symbol. By this term we understand a special kind of indirect representation which is distinguished by certain peculiarities from the simile, metaphor, allegory, allusion and other forms of pictorial representation of thought material (after the manner of rebus) to all of which it is related. The symbol represents an almost ideal union of all these means of expression, it is a substitutive, perceptual replacement, an expression for something hidden, with which it has evident characteristics in common or is coupled by internal associative connections.

—E. Jones : Papers on Psycho-analysis, P. 163.

1 Every view which interprets the symbolic expression as an analogous or abbreviated expression of a known thing is semiotic. A conception which interprets the symbolic expression as the best possibl formulation of a relatively unknown thing which cannot conceivally, therefore, be more clearly or characteristically represented is symbolic. A view which interprets the symbolic expression as an intentional transcription or transformation of a known thing is allegoric...Every psychological phenomenon is a symbol when we are willing to assume that it purports or signifies something different and still greater, something therefore which is withheld from the present knowledge.

—C. G. Jung : Psychological Types, P. 601.

2 A Symbol can express different thoughts at the same time,

—Pfister : Psycho-analytic Method, P, 183.

सत्य है कि सच्चे प्रतीक अन्तश्चेतना की अभिव्यक्ति होते हैं, जिन्हें न उससे अच्छे ढंग से समझा जा सकता है और न भिन्न ढंग से व्यक्त किया जा सकता है।[१] विद्वद्वर कुमारस्वामी ने ही प्रतीक-भाषा (Language of Symbols) और संकेत-भाषा (Language of Signs) का अन्तर स्पष्ट करते हुए इसी प्रकार का विचार प्रकट किया है।[२] विश्व-विकास-प्रक्रिया के अन्तर्गत विश्व का वाह्यरूप तो परिवर्तित होता रहता है, किन्तु मूल तत्व सदैव एक रूप रहता है। अर्थात् मूल अपरिवर्तनीय है। कभी भी नवीन तत्वों और सत्यों की सृष्टि नहीं होती। यह सम्भव है कि प्राचीन तत्व वेष-परिवर्तन कर हमारे समक्ष प्रस्तुत हों और हम उन्हें नवीन स्वीकार कर लें, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। यह तो केवल रूप और अभिव्यक्ति की भिन्नता है, मूल तत्व की नहीं। यही बात कला के लिए भी सत्य है। हम जब प्राचीन और आधुनिक कलाओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं, तो दोनों के वहिरंग में अवश्य अन्तर प्रतीत होता है, किन्तु अन्तरंग में एक ही तत्व उभयनिष्ठ दृष्टिगत होता है।

—(०)—

---

1 The true symbol should be understood as the expression of an intuitive perception which can as yet neither be apprehended better nor expressed differently.

—C. G. Jung : Contribution to Analytical Psychology, P. 232.

2 Coomar swami : Transformation of Nature, P. 126.

अलंकार-वर्गीकरण

प्राय: सभी साहित्याचार्यों ने साहित्य में शब्द और अर्थ की अभिन्नता को स्वीकार किया है।[1] भारतीय साहित्यशास्त्र के आद्यालंकारिक आचार्य भामह ने शब्द और अर्थ के अन्योन्याश्रित तत्व के आधार पर ही अलंकारों को दो भागों में विभाजित किया है—शब्दालंकार और अर्थालंकार। तत्पश्चात् विभिन्न आचार्यों द्वारा स्वीकृत विभिन्न अलंकारों को भिन्न-भिन्न वर्गों में रक्खा गया है, किन्तु यह विभाजन सांकेतिक है। इसका सर्वप्रथम स्पष्ट निर्देश आगे चलकर उद्‌भट ने अपने 'काव्यालंकार-सारसंग्रह' में किया है। उद्‌भटकृत अलंकारों का वर्गीकरण इस प्रकार है:—

---

१ अ—वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगत:पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ ॥ रघुवंश-कालिदास।

ब—शब्दार्थं सहितौ काव्यम् ॥ काव्यालंकार-भामह।

स—ननु शब्दार्थों काव्यम् ॥ काव्यालंकार-रुद्रट।

द—शब्दार्थों सहितौ वक्र कविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं......॥ वक्रोक्तिजीवितम्-कुंतक।

य—तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुन: क्वापि ॥ का० प्र०-मम्मट।

र—गिरा अर्थ जल-बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दउँ सीता-राम-पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ॥
—रामचरित मानस, तुलसीदास।

ल Word and sense which directly aim at, and produce, pleasure are poetry.
—Definition of poetry or kavy by D. T. Tatacarya, Siromani.

व What is poetry, but the thoughts and words in which emotion spontaneously embodies itself. Thoughts on poetry and its varieties in Dissertions and Discussions. by J. S. Mill.

प्रथम वर्ग—पुनरुक्तवदाभास, छेक, वृत्ति, लाट, अनुप्रास, रूपक, दीपक उपमा, प्रतिवस्तूपमा (चार शब्द के फिर चार अर्थ के। (८)।

द्वितीय वर्ग—आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना समासोक्ति, अतिशयोक्ति। (६)।

तृतीय वर्ग—यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति। (३)।

चतुर्थ वर्ग—प्रेयस्वत्, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्ति, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट। (७)।

पंचम वर्ग—अपन्हुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, संकर, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति। (११)।

षष्ठ वर्ग—संदेह, अनन्वय, संसृष्टि, भाविक, काव्यलिंग, दृष्टान्त। (६)

यद्यपि उद्‌भट द्वारा किया गया यह अलंकार-विभाजन वैज्ञानिक नहीं है, लेकिन इससे हमें तत्कालीन प्रचलित विभिन्न अलंकार-सम्प्रदायों और अलंकार-विकास की विभिन्न दशाओं का ज्ञान होता है। उद्‌भट के पूर्ववर्ती आचार्य दंडी और परवर्ती या समकालीन आचार्य वामन के ग्रंथों में किसी प्रकार का अलंकार-वर्गीकरण नहीं प्राप्त होता है। उन्होंने तो शब्द और अर्थ के आधार पर ही अलंकारों का निरूपण किया है। हां, वामन के उपमा-प्रपंच से अवश्य मूलतत्व पर समाधारित वर्गीकरण के लिये सहायता प्राप्त होती है और सम्भवतः परवर्ती आचार्यों ने इसी के आधार पर औपम्यमूलक अलंकार वर्ग का विधान किया है। इसके बीज हमें प्रारम्भ में ही दंडी के काव्यादर्श में प्राप्त होते हैं।

वर्णन की विभिन्न शैलियों का अभिधान ही अलंकार है। अलंकारों के कुछ मूलतत्व हैं जिनके आधार पर सजातीय अलंकारों को भिन्न-भिन्न समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है। इस ओर सर्वप्रथम दृष्टि आचार्य रुद्रट की गई। पहले तो उन्होंने अलंकारों को शब्दालंकार और अर्थालंकार दो भागों में बांटा और फिर भामह एवं उद्‌भट से भिन्न तथा बहुत कुछ वामन की शैली पर चार मूल अर्थालंकारों को मान कर समस्त अर्थालंकारों को चार विभागों में विभक्त किया—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष।

१ **वास्तव मूलक**—जो वस्तु के स्वरूप का वर्णन करे उसे "वास्तव" कहते हैं। यह अर्थ की पुष्टि करने वाला विपरीत प्रतीत से निवृत्ति कराने वाला तथा उपमा, अतिशय एवं श्लेष से भिन्न होता है। इसके तेईस भेद होते हैं—सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति परिसंख्या, हेतु, 'कारणमाला' व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित और एकावली।

२ **औपम्यमूलक**—जिसमें वक्ता, किसी वस्तु के स्वरूप का सम्यक प्रतिपादन

करने के लिये उसके समान दूसरी वस्तु का वर्णन करे, उसमें औपम्य अलंकार होता है। इसके इक्कीस भेद होते हैं—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपन्हुति, संशय, समासौक्ति मत, उत्तर, अन्योप्रितीप, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रांतिमान्, आक्षेप प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य और स्मरण।

३ **अतिशयमूलक**—जहाँ कोई अर्थ धर्म का नियम कहीं प्रसिद्धि के बाध से लोक का उल्लंघन करके अन्यथा स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, वहाँ अतिशय अलंकार होता है। इसके बारह भेद होते हैं—पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, विहित, व्याघात और अहेतु।

४ **श्लेषमूलक**—जहां अनेकार्थक पदों से एक ही वाक्य अनेक अर्थों का बोध करता है, वहां श्लेष अलंकार होता है। इसके दो भेद हैं—शुद्ध और संकीर्ण। शुद्ध श्लेष के दस भेद किये है—अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असम्भव, अवयव, तत्व और विरोधाभास। सकीर्ण के केवल दो ही भेद किये हैं।

रुद्रट की भांति विद्यानाथ ने भी अलंकारों को चार भागों में विभक्त किया है—

१ **वस्तुप्रतीतिवाले**—इसमें समासोक्ति, आक्षेप आदि अलंकार हैं।
२ **औपम्यप्रतीतिवाले**—इसमें रूपक, उत्प्रेक्षा आदि हैं।
३ **रसभाव प्रतीतिवाले**—इसमें रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वित् आदि अलंकार हैं।
४—**अस्फुटप्रतीति वाले**—इसमें उपमा, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों की गणना की गई है।[1]

रुद्रट के वर्गीकरण में कतिपय अलंकार ऐसे हैं, जिन्हें दो-दो वर्गों में रक्खा गया है। उदाहरणार्थ उत्तर, सहोक्ति और समुच्चय नामक अलंकार वास्तव और औपम्य दोनों में आए हैं। उत्प्रेक्षा और पूर्व अलंकारों का सन्निवेश औपम्य तथा अतिशय वर्गों में हुआ है। श्लेष शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों में आया है। इस प्रकार के अलंकारों में केवल नाम-साम्य है, लक्षण और उदाहरणों में पृथक्ता है। अच्छा होता यदि नामों में भी भिन्नता होती, तो किसी प्रकार का भ्रम न होता।

रुद्रट का यह वर्गीकरण बहुत महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि चार प्रमुख अर्थालंकारों के ही शेष अर्थालंकार विशेष रूपान्तर के रूप में स्वीकार किये गए हैं। अतः अलंकारों के मूलतत्व का उपर्युक्त विभाजन न हो सकने के कारण रुद्रट के वर्गीकरण को पूर्णरूपेण वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

---

१ केचित्प्रतीयमानस्तवः, केचित्प्रतीयमानौपम्याः।
केचित्प्रतीयमान रसभावादयः, केचित्स्फुटप्रतीयमानाः॥
—प्रतापरुद्रीय।

महाराज भोज ने 'सरस्वतीकंठाभरण' में अलंकारों को तीन भागों में विभक्त किया है–बाह्य, आभ्यंतर और उभय, जिनका क्रमशः अर्थ शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार है। आपके अलंकार-विवेचन और विभाजन में कोई विशिष्टता नहीं है।

रुद्रट के पश्चात् अलंकार-विभाजन का महत्वपूर्ण कार्य करने वाले आचार्य रुय्यक और उनके शिष्य मंखक हैं। उन्होंने 'अलंकार-सर्वस्व या अलंकारसूत्र' में अलंकारों का वर्गीकरण उनके मूल तत्वों के आधार पर किया है जो रुद्रट की अपेक्षा अधिक स्पष्ट, उपयुक्त और वैज्ञानिक है। रुय्यक ने समस्त अर्थालंकारों को पाँच भागों में विभक्त किया है—(१) सादृश्यगर्भ (२) विरोधगर्भ (३) शृंखला-बन्ध (४) न्यायमूल (५) गूढ़ार्थ प्रतीतिमूल। इसके पश्चात् प्रत्येक वर्ग के अनेक अवान्तर भेद किये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. सादृश्यगर्भ (औपम्यगर्भ या उपमामूलक)

क–भेदाभेदतुल्य प्रधान—उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण (४)

ख–अभेद प्रधान—

१–आरोपमूलक—रूपक, परिणाम, संदेह, भ्रांति, उल्लेख, अपन्हुति। (६)।

२–अध्यवसायमूल—उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति। (२)।

ग–गम्यमान औपम्य—

१–पदार्थगत—तुल्ययोगिता, दीपक। (२)।

२–वाक्यार्थगत—प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना। (३)।

३–अभेद प्रधान—व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति। (२)।

४–विशेषण वैचित्र्य—समासोक्ति, परिकर। (२)।

५–विशेषण विशेष्य वैचित्र्य—श्लेष। (१)।

६–अन्य—अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति, आक्षेप। (५)।

इस प्रकार सादृश्यमूलक अलंकारों की संख्या २८ है।

२. विरोधगर्भ

विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, अतिशयोक्ति (कार्यकारण वैपर्यय), असंगति, विषम। (१२)।

३. शृंखलाबन्ध

कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार। (४)

४. न्यायमूल

क–तर्कन्याय—काव्यलिंग, अनुमान। (२)।

ख–वाक्यन्याय या वाह्यन्याय—यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, अर्थापत्ति, विकल्प, परिसंख्या, समुच्चय, समाधि। (८)।

ग–लोकन्याय—प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर। (७)।

५. गूढ़ार्थप्रतीतिमूल

सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति। (३)।

इस वर्गीकरण में अलंकारों की संख्या (२८–१२–४–२–८–७–३) ६४ है। इसमें रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसंधि, भावसबलता, संसृष्टि, संकर, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, विनोक्ति, उन्मीलित, विशेषक आदि अलंकारों का समावेश नहीं हुआ है।

विद्याधर की एकावली के अष्टम उन्मेष में अर्थालंकारों का निम्नलिखित वर्गीकरण परिलक्षित होता है :—

भेदाभेदप्रधान–१	उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण।
भेदप्रधान२	व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति।
अभेदप्रधान३	रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमत, उल्लेख, अपह्नुति।
अध्यवसायाश्रय४	उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति।
गम्यौपम्याश्रय५	तुल्योगिता, दीपक
वाक्यार्थगत६	प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शन।
विश्लेषणविच्छित्याश्रय	समासोक्ति, परिकर, अप्रस्तुतप्रशंसा।
विशेष्यविच्छित्याश्रय	परिकरांकुर।
उभयविच्छित्याश्रय७	श्लेष।

---

१ ब्रूमः प्रथमं भेदाभेदप्राधान्यतस्तावत् ॥८।१॥
२ तथाहि क्वचिद् भेद प्राधान्यं दृष्टं यथा व्यतिरेके ॥वृत्ति ॥
३ सम्प्रति कतिचिद्भेदप्राधान्येऽलंकृती ब्रूमः ॥८।५॥
४ इत्थमलंकारद्वयमध्यवासायाश्रयेणनिर्णीय।
अधुनालंकृतिवर्ग गम्यौपम्याश्रयंब्रूमः ॥८।१४॥एकावली।
५ एतदलंकृति युगलं कथितं तावत्पदार्थगत्वेन ॥८।१६॥
६ वाक्यार्थगत्वेन स्यात् सामान्यं पृथग्विनिर्दिष्टम् ॥८।१७॥
७ यत्र विशेष्य विशेषणस्तस्य् ॥८।२६॥ —एकावली।

सामान्यविशेषभाव	अर्थान्तरन्यास ।
प्रतीयमान प्रस्ताव	पर्यायोक्त ।
गम्यत्वविच्छित्ति प्रस्ताव	व्याजस्तुति ।
विशेषगम्यत्व	आक्षेप ।
विरोधगर्भ	विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात ।
श्रृंखलाकार	कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार ।
तर्कन्यायमूल	काव्यलिंग, अनुमान ।
न्यायमूल	यथासंख्या, पर्याय, परिवृत्ति ।
एकानेक	परिसंख्या ।
वाक्यन्याय	अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि ।
लोकन्यायाश्रय	प्रयत्नीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण । अतद्गुण, उत्तर, प्रश्नोत्तरिका ।
गूढार्थप्रतीति	सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त ।
अन्योन्याश्लेष	संसृष्टि, संकर ।

यह अलंकार-विभाजन बहुत कुछ रूय्यक के अलंकार-वर्गीकरण पर समाधारित है। यद्यपि एकावलीकार का अपने इस वर्गीकरण के लिये कोई विशेष आग्रह नहीं प्रतीत होता, फिर भी इस प्रकार के अलंकार-विवेचन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उक्त अलंकार-वर्गीकरण विषय-प्रतिपादन के समय ग्रन्थकार के मस्तिष्क में अवश्य विद्यमान था।

विद्यानाथ ने अर्थालंकारों को नौ भागों में विभक्त किया है—१–साधर्म्यमूल २–अध्यवसायमूल ३–विरोधमूल ४–वाक्यन्यायमूल ५–लोकव्यवहारमूल ६–तर्कन्यायमूल ७–श्रृंखलावैचित्र्य ८–अपन्हवमूल तथा ९–विशेषण वैचित्र्यमूल।

हिन्दी-आचार्यों ने भी अलंकार-वर्गीकरण की ओर प्रयास किया है। हिन्दी के प्रथमालंकारिक आचार्य केशवदास ने 'कविप्रिया' के नवें प्रभाव से लेकर सोलहवें प्रभाव तक अलंकार-निरूपण किया है। निरूपित सम्पूर्ण अलंकारों की संख्या ३७ है जिन्हें आठ वर्गों में विभक्त कर आठ प्रभावों में रक्खा है। प्रभावानुसार अलंकारों की संख्या तथा नाम निम्नलिखित हैं :—

नवां प्रभाव	स्वभावोक्ति, विभावना, हेतु, विरोध, विशेष, उत्प्रेक्षा। (६)।
दसवां प्रभाव	आक्षेप। (१)।

ग्यारहवां प्रभाव	क्रम, गणना, आशिष, प्रेय,श्लेष, सूक्ष्म, लेश, निदर्शना, ऊर्ज, रसबत्, अर्थान्तिरन्यास, व्यतिरेक, अपन्हुति। (१३)।
बारहवां प्रभाव	उक्ति (वक्रोक्ति, अन्योक्ति, व्याधिकरणोक्ति, विशेषोक्ति, सहोक्ति), व्याजस्तुति, व्याजनिंदा, अमित, पर्यायोक्ति, युक्त। (६)
तेरहवां प्रभाव	समाहित, सुसिद्ध, प्रसिद्ध, विपरीत, रूपक दीपक, प्रहेलिका, परिवृत्त। (८)
चौदहवां प्रभाव	उपमा। (१)।
पन्द्रहवां प्रभाव	यमक। (१)।
सोलहवां प्रभाव	चित्र। (१)।

केशव संस्कृत के प्राचीन आचार्यों से प्रभावित थे, उन पर नव्याचार्यों का प्रभाव नही परिलक्षित होता है। इससे प्रतीत होता है कि उनका वर्गीकरण भामह, उद्भटादि के समान ही है। अत: केशव के वर्गीकरण को वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

कविवर भिखारीदासकृत 'काव्यनिर्णय' हिन्दी-काव्यशास्त्र-परम्परा का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें अलंकारों के विवेचन के साथ-साथ अलंकारों का वर्गीकरण भी किया गया है। इस ग्रंथ में अलंकार-वर्णन तीन स्थानों पर किया गया है—पहलीबार तीसरे उल्लास में, दूसरीबार आठवें से अठारहवें उल्लास तक और तीसरी बार बीसवें से इक्कीसवें उल्लास तक। प्रथम दो बार अर्थालंकार-अनुशीलन और तीसरी बार शब्दचित्र-चित्रण किया गया है।

तीसरे उल्लास में 'अलंकार-मूलकथनं' शीर्षक देकर मूल अर्थात् केवल प्रधान अलंकारों का ही वर्णन किया गया है जो निम्नलिखित हैं—

उपमा, अनन्वय, प्रतीप, दृष्टान्त, अर्थान्तिरन्यास, निदर्शना, तुल्ययोगिता, उत्प्रेक्षा, अपन्हुति, स्मरण, भ्रम, संदेह, व्यतिरेक, अतिशयोक्ति, उदात्त, अधिक, अन्योक्ति, व्याजस्तुति, पर्यायोक्ति, आक्षेप, विरुद्ध, विभावना, विशेषोक्ति, उल्लास, तद्गुण, मीलित, उन्मीलित, सम, भाविक, समाधि, सहोक्ति, विनोक्ति, परिवृत्त, सूक्ष्म, परिकर, स्वभावोक्ति, काव्यलिंग, परिसंख्या, प्रश्नोत्तर, यथासंख्या, एकावली, पर्याय, संसृष्टि और संकर।

दास जी ने इन अलंकारों का बड़ा ही संक्षिप्त वर्णन 'भाषा-भूषण' शैली में किया है। इनके अवान्तर भेदादि नहीं लिखे हैं। शायद पाठकों को अलंकारों का साधारण ज्ञान एवं सुविधाजनक कंठस्थ करने के लिये भाषाभूषण-पद्धति में अलंकारों का संक्षिप्त वर्णन किया है।

इसके पश्चात् आठवें से अठारहवें उल्लास तक अलंकारों को ११ वर्गों में विभक्त कर ११ उल्लासों में उनका विशद विवेचन किया है। वर्गानुसार अलंकारों के नाम एवं संख्या इस प्रकार है :—

पहला वर्ग— आठवां उल्लास— उपमादि अलंकार वर्णन
लुप्तोपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतीप, श्रौती उपमा, दृष्टांत, अर्थान्तरन्यास, विकस्वर, निदर्शना, तुल्ययोगिता, प्रतिवस्तूपमा। (१२)।

दूसरावर्ग— नवां उल्लास— उत्प्रेक्षादि अलंकार वर्णन
उत्प्रेक्षा, अपन्हुति, स्मरण, भ्रम, संदेह। (५)।

तीसरा वर्ग— दसवां उल्लास— व्यतिरेकरूपकादि अलंकार वर्णन
व्यतिरेक, रूपक, उल्लेख। (३)।

चौथा वर्ग— ग्यारहवां उल्लास— अतिशयोक्ति आदि अलकार वर्णन
अतिशयोक्ति, उदात्त, अधिक, अल्प, विशेष। (५)।

पांचवां वर्ग— बारहवां उल्लास— अन्योक्ति आदि अलंकार वर्णन
अन्योक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, समासोक्ति, व्याजस्तुति, आक्षेप। (६)

छठवां वर्ग— तेरहवां उल्लास— विरुद्धादि अलंकार वर्णन
विरुद्ध, विभावना, व्याघात, विशेषोक्ति, असंगति, विषम। (६)।

सातवां वर्ग— चौदहवां उल्लास— उल्लासादि अलंकार वर्णन
अवज्ञा, उल्लास, अनुज्ञा, लेश, विचित्र, तद्गुण, स्वगुण, अतद्गुण, पूर्वरूप, मीलित, सामान्य, उन्मीलित, विशेष। (१४)।

आठवां वर्ग—पन्द्रहवां उल्लास—समासादि अलंकार वर्णन
सम, समाधि, परिवृत्ति, भाविक, हर्ष (प्रहर्षण), विषाद, असम्भव, सम्भावना, समुच्चय, अन्योन्य, विकल्प, सहोक्ति, विनोक्ति, प्रतिषेध, विधि, काव्यार्थापत्ति। (१६)।

नवां वर्ग— सोलहवां उल्लास— सूक्ष्मादि अलंकार वर्णन
सूक्ष्म, पिहित, युक्ति, गूढ़ोत्तर, गूढ़ोक्ति, मिथ्याध्यवसित, ललित, विवृतोक्ति, व्याजोक्ति, परिकर, परिकरांकुर। (११)।

दसवां वर्ग— सत्रहवां उल्लास— स्वाभावोक्ति आदि अलंकार वणन
स्वभावोक्ति, हेतु, प्रमाण, काव्यलिंग, निरुक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, प्रत्यनीक, परिसंख्या, प्रश्नोत्तर। (१०)।

ग्यारहवां वर्ग— अठारहवां उल्लास— दीपकादि अलंकार वर्णन
दीपक, यथासंख्य, एकावली, कारणमाला, उत्तरोत्तर, रसनोपमा, रत्नावली, पर्याय। (८)।

दास के इस अर्थालंकार-वर्गीकरण का क्या आधार है, यह निश्चय-पूर्वक नहीं बतलाया जा सकता है, क्योंकि इसका कोई मनोवैज्ञानिक आधार तो प्रतीत नहीं होता। यदि ऐसा होता तो सादृश्यमूलक अलंकार ही पृथक्-पृथक् वर्गों के प्रमुख अलंकार न हो जाते। लेकिन इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि दास का यह अलंकार-वर्गीकरण बिल्कुल व्यवस्थाविहीन है, क्योंकि लगभग प्रत्येक उल्लास के प्रारम्भ में अलंकारों के नाम, संख्या और विभाजन-विधि के कारण का निर्देश किया गया है।

उक्त ग्यारह वर्गों में से नौ वर्गों के आधारों का तो स्पष्ट रूप से लेखक ने निर्देश किया है। तीसरे और पांचवें वर्ग का कोई स्पष्ट और उपयुक्त आधार नहीं बतलाया है। अलंकार-विभाजन के लिये जो कारण दिये गये हैं उनमें से कतिपय में तो पर्याप्त औचित्य है। उदाहरणार्थ यह कहना कि उपमा के सहयोगी बारह अलंकार उपमानोपमेय के ही विकार हैं,[1] सर्वथा सत्य है। अतः दास का अलंकार-वर्गीकरण, चाहे हम उससे पूर्णतया सहमत न हों—नितांत निरर्थक और निराधार नहीं है, अपितु सार्थक और साधार हैं।

आधुनिक हिन्दी-साहित्यकारों में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने 'अलंकार-मंजरी' में रुय्यक के ही वर्गीकरण को मान्यता प्रदान की है। रुय्यक के वर्गीकरण में कुल ६४ अलंकार हैं, किन्तु पोद्दार जी ने १०० अलंकारों का निरूपण किया है। सुब्रह्मण्य शर्मा ने अर्थालंकारों का एक नवीन वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने समस्त अर्थालंकारों को आठ वर्गों में विभक्त किया है, जो निम्नांकित हैं :—

(१) औपम्यमूला :—	३४ अलंकार।
(२) विरोधमूला :—	१० अलंकार।
(३) कार्यकारण सिद्धान्तमूला (न्याय-दर्शनशास्त्र-मूला) :—	११ अलंकार।
(४) न्यायमूला :—	
(क) वाक्य न्याय—	५ अलंकार।
(ख) तर्कन्याय—	३ अलंकार।
(ग) लोकव्यवहारमूला—	२१ अलंकार।
(५) अपन्हवमूला :—	११ अलंकार।
(६) शृंखला वैचित्र्यमूला :—	४ अलंकार।
(७) विशेषण वैचित्र्यमूला :—	२ अलंकार।
(८) कविसमयमूला :—	१ अलंकार।

---

१ उपमान और उपमेय को, है विकार समझौ सुचित ॥
—काव्य-निर्णय।

यह वर्गीकरण किसी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक आधार पर नहीं आश्रित है, क्योंकि अपन्हवमूलक, विशेषण वैचित्र्यमूला और कविसमयमूला वर्ग बिल्कुल बाह्य और स्थूल समानता पर ही स्थित हैं। इनका कोई सूक्ष्म मनौवैज्ञानिक आधार नहीं है।

ब्रजरत्नदास ने भी 'भाषाभूषण' की भूमिका में अर्थालंकारों का वर्गीकरण किया है, जो इस प्रकार है—

(१) औपम्य (सादृश्य, साम्य, साधर्म्य):—

- क— अभेद प्रधान
- ख— भेद प्रधान
- ग— भेदाभेद प्रधान
- घ— प्रतीति प्रधान
- ङ— गम्य प्रधान
- च— अर्थवैचित्र्य प्रधान

(२) विरोध (कार्य-कारण विच्छेद)

(३) श्रृंखला मूलक (क्रममूलक)

(४) न्याय मूलक :—

- क— वाक्यन्याय
- ख— तर्कन्याय
- ग— लोकन्याय

(५) वस्तुमूलक—

ब्रजरत्नदास जी के वर्गीकरण का बहुत कुछ आधार सुब्रह्मण्य शर्मा का वर्गीकरण है। अन्तर केवल इतना है कि ब्रजरत्नदास जी ने औपम्यमूलक के छः भेद किये हैं और शर्मा जी के ५–६–७ और ८ संख्या वाले वर्गों को एक ही वर्ग वस्तु-मूलक में रख दिया है। यह नवीनता किसी मौलिक उद्भावना की द्योतक नहीं है।

सभी लोगों ने अर्थालंकारों का ही वर्गीकरण किया है। किसी ने शब्दालंकारों का वर्गीकरण नहीं किया है। इस ओर सर्वप्रथम प्रयास डाक्टर रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने किया है। उन्होंने 'अलंकार पीयूष' के पूर्वार्द्ध में शब्दालंकारों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है:—
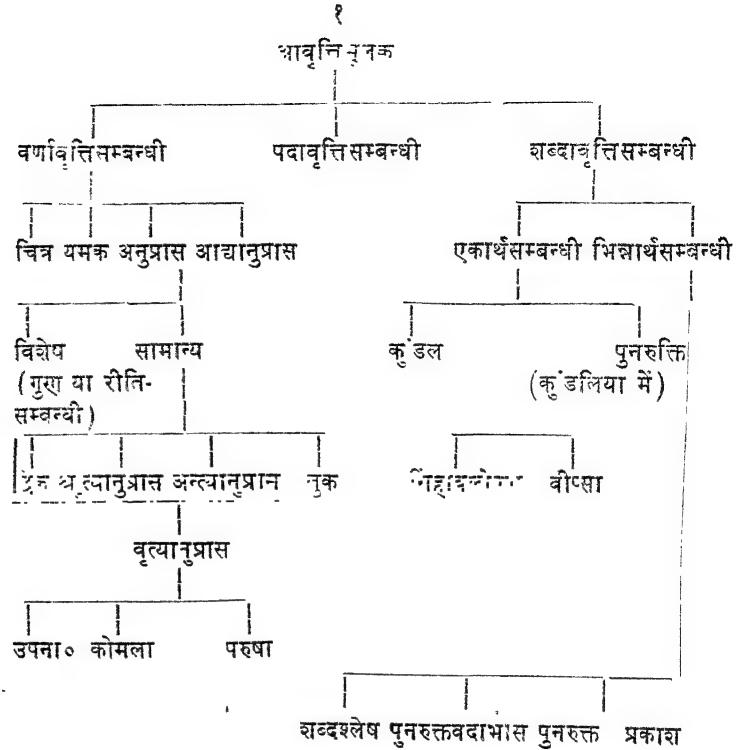
शब्दालंकारों का दूसरा भेद (२) वर्ण कौतुक या चित्र है।

पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'वाङ्मय—विमर्श' में अलंकारों का वर्गीकरण रुय्यक के अनुसार किया है और प्रत्येक वर्ग के प्रमुख अलंकारों का विवेचन उनके मूल तत्त्वों के आधार पर नवीन ढंग से किया है, उदाहरणार्थ "सादृश्यगर्भ वर्ग के अन्तर्गत जितने अलंकार आते हैं उनकी कड़ियां भी एक दूसरे से मिली हुई हैं। इनके बीचो-बीच उपमा अलंकार होता है। उपमा अलंकार में उपमेय और उपमान दोनों में भेद भी रहता है और कुछ कुछ अभेद भी। एक ओर भेद बढ़ने लगता है और दूसरी ओर अभेद। भेद बढ़ते-बढ़ते उस सीमा पर पहुंच जाता है जहाँ उपमेय और उपमान एकदम पृथक हो जाते हैं (व्यतिरेक)। दूसरी ओर अभेद बढ़ते-बढ़ते उस सीमा पर पहुंच जाता है जहाँ दोनों में एकता हो जाती है (रूपक)। इसके अनन्तर भेद से आगे बढ़ कर अभेद का प्रधानत्व और उपमान का गौणत्व बढ़ने लगता है। दूसरे शब्दों में कहें तो एक प्रकार से उपमान का उत्तरोत्तर तिरस्कार और साथ ही साथ बहिष्कार होता जाता है (प्रतीप)। फलस्वरूप उपमान का लोप हो जाता है और उसके स्थान पर भी केवल उपमेय ही रह जाता है (अनन्वय)। यहाँ उपमेय का उपमान उपमेय ही होता हैं, जैसे—राम से राम सिया सी सिया सिरमौर विरंचि विचारि संवारे।' ठीक इसी प्रकार रूपक से आगे बढ़कर धीरे-

धीरे उपमेय गौण होता जाता है और उपमान प्रधान, और अन्त में उपमान की प्रधानता उस सीमा को पहुँच जाती है, जहाँ उपमेय का एकदम लोप हो जाता है, केवल उपमान ही रह जाता है। उपमान यहाँ उपमेय तथा उपमान दोनों में काम देता है (रूपकातिशयोक्ति) जैसे—

राम सीय-सिर सेंदुर देहीं । उपमा कहि न सकत कवि केहीं ।।
अरुन पराग जलज भरि नीके । ससिहि भूष अहि लोभ अमी के ।।

यहाँ 'अरुनपराग' का तात्पर्य सिंदूर, 'जलज' (कमल) का तात्पर्य राम का 'हाथ' और 'चन्द्रमा' (ससि) का तात्पर्य सीता का 'मुख' और अहि (सर्प) का तात्पर्य राम की 'भुजा' है।" इसी प्रकार अन्य वर्गों के अलंकारों का भी निरूपण किया है।

विद्यावाचस्पति पण्डित रामदहीन मिश्र ने भी 'काव्यदर्पण' में अलंकार-वर्गीकरण रुय्यक के अनुसार ही किया है। जो अन्तर है वह इतना है कि मिश्र जी ने 'विनोक्ति' को शेष में डाला है, जिसे रुय्यक ने 'भेदप्रधानगम्यमान औपम्य' वर्ग में लिया है। रुय्यक के वर्गीकरण में 'लोकन्यायमूल' वर्ग के अलंकारों की संख्या सात है, किन्तु 'काव्यदर्पण' में प्रश्नोत्तर को जोड़ कर इस वर्ग के अलंकारों की संख्या आठ कर दी है। इसके अतिरिक्त 'गूढार्थप्रतीतिमूल' में स्वभावोक्ति, संसृष्टि और संकर को जोड़ देने के कारण इस वर्ग के अलंकारों की संख्या सात हो गई है।

इस प्रकार मिश्र जी का वर्गीकरण कुल ६९ अलंकारों का है। उन्होंने 'काव्यदर्पण' में कुल ७७ अलंकारों का निरूपण किया है। ललित, अत्युक्ति, उल्लास, अवज्ञा, प्रहर्षण, विषादन, विकस्वर, मिथ्याध्यवसित नामक आठ अलंकारों को किसी वर्ग में न रख कर 'कुछ अन्य अलंकार शीर्षक' के अन्तर्गत पृथक् विवेचन किया है।

डा० नगेन्द्र ने 'रीतिकाल की भूमिका' में अलंकारों का वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने अलंकारों का मनोवैज्ञानिक विवेचन करते हुये कहा कि "व्यावहारिक धरातल पर आकर भी हम अलंकारों के कुछ अपेक्षाकृत मूर्त आधार निर्धारित कर सकते हैं। यहां भी यदि वही प्रश्न फिर उठाया जाय कि हम अलंकार का प्रयोग किस लिये करते हैं तो व्यवहारतल पर भी उसका एक ही स्पष्ट उत्तर है— उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये। ऐसा करने के लिये हम सदृश लोकमान्य वस्तुओं से तुलना के द्वारा अपने कथन को स्पष्ट बना कर उसे श्रोता के मन में अच्छी तरह बैठाते हैं, बात को बढ़ा-चढ़ा कर उसके मन का विस्तार करते हैं, बाह्य वैषम्य आदि का नियोजन करके उसमें आश्चर्य की उद्भावना करते है, अनुक्रम अथवा औचित्य की प्रतिष्ठा करके उसकी वृत्तियों को अन्वित करते है। बात को घुमा फिरा कर वक्रता के साथ कह कर उसकी जिज्ञासा उद्दीप्त करते हैं, अथवा

बुद्धि की करामात दिखा कर उसके मन में कौतूहल उत्पन्न करते है। अलंकारों के ये ही मनोवैज्ञानिक आधार हैं, स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा और कौतूहल। इनके मूर्तरूप है—साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार (बौद्धिक)। इसके पश्चात् अलंकारों का एक संक्षिप्त वर्गीकरण दिया है जो वर्गानुसार इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) साधर्म्यमूलक— उपमा और रूपक से लेकर दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास आदि अलंकार।

(२) अतिशयमूलक— अतिशयोक्ति के विभिन्न भेदों से लेकर उदात्तादि अलंकार।

(३) वैषम्यमूलक— विरोध, विभावना, असंगति से लेकर व्याघात, आक्षेप आदि अलंकार।

(४) औचित्यमूलक— यथासंख्य, कारणमाला, एकावली से लेकर स्वभावोक्ति आदि अलंकार।

(५) वक्रतामूलक— पर्याय, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा से लेकर सूक्ष्म पिहित आदि अलंकार।

(६) चमत्कारमूलक— श्लेष और यमक से लेकर मुद्रा और चित्र आदि अलंकार।

यह वर्गीकरण मनोवैज्ञानिक होते हुए भी इसमें अतिशय, वक्रता और चमत्कार ये तीन ऐसे आधार है जो यथार्थ में समस्त अलंकारों के मूलाधार है, जैसा कि डा० नगेन्द्र ने स्वयं स्वीकार किया है। लेकिन लेखक ने इनका प्रयोग एक विशेष और संकीर्ण अर्थ में किया है, अर्थात् अतिशय का बढ़ा-चढ़ा कर बात करने के अर्थ में, वक्रता का घुमा-फिरा कर कथन करने के अर्थ में और चमत्कार का जिज्ञासा और कौतूहल के अर्थ में प्रयोग किया है; अतः इस वर्ग में औचित्य है।

यूरोप के आचार्यों ने भी अलंकारों के वर्गीकरण का प्रयत्न किया है। उन लोगों ने छः आधार माने हैं—साधर्म्य, सम्बन्ध, अन्तर, कल्पना, वक्रता और ध्वनि। उपमा, रूपक, अन्योक्ति आदि साधर्म्य के अन्तर्गत है, अतिशयोक्ति कल्पनाश्रित है; विरोधाभास को वक्रता में, सार को अन्तर के, तथा यमक, अनुप्रास आदि को ध्वनि के अन्तर्गत माना है। यह विभाजन भी सूक्ष्म तत्वों पर आश्रित नही प्रतीत होता, क्योंकि अलंकार तो सभी कल्पनाश्रित हैं, लेकिन केवल अतिशयोक्ति को ही कल्पनाश्रित कहना कुछ विचित्र-सा लगता है।

अलंकारों का वर्गीकरण पूर्णरूपेण उनके मूल तत्वों के आधार पर नहीं किया गया है। एतदर्थ अनेक अलंकार अनुपयुक्त वर्गों में पहुंच गये हैं। उदाहरणार्थ मीलित, उन्मीलित, सामान्य और विशेषक नामक अलंकारों को लोकमान्य वर्ग में रक्खा गया है। वास्तव में इनके मूलतत्व के आधार पर इन्हें सादृश्यमूलक वर्ग में आना चाहिये।

मीलित और उन्मीलित अलंकारों में लोकन्याय की अपेक्षा सादृश्य का ही अधिक योग है। अतः उक्त अलंकारों को लोकन्याय वर्ग में न रख कर सादृश्य मूलक वर्ग में रखना ही अधिक उचित है। इसी प्रकार सामान्य और विशेषक नामक अलंकारों में भी प्रस्तुत-अप्रस्तुत के गुणसाम्य का तत्व आधारभूत होने के कारण इनकी गणना सादृश्यमूलक वर्ग के अन्तर्गत होनी चाहिये। इन चारों अलंकारों में लोकन्याय का तो सहयोग मात्र लिया जाता है और प्रधानता सादृश्य की ही रहती है।

उक्त अलंकारों के समान प्रतीप को भी लोकन्याय में रक्खा गया है। प्रतीपालंकार वास्तव में औपम्यमूलक अलंकार है। सेठ कन्हैयालाल ने 'काव्यकल्पद्रुम' में इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—"प्रतीप अलंकार में उपमान को उपमेय कल्पना करना आदि कई प्रकार की विपरीतता होती है।" इस परिभाषा से यह तात्पर्य निकलता है कि उपमान और उपमेय बिल्कुल निश्चित होते हैं; किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। प्रतीप में उपमा विपरीत अवश्य हो जाती है, किन्तु यह वैपरीत्य वर्ण्य-अवर्ण्य के आधार पर होता है। उदाहरणार्थ—१—मुख चन्द्र के समान है २—चन्द्र मुख के समान है। प्रथम में मुख वर्ण्य है। अतः उपमालंकार है। द्वितीय में चन्द्र वर्ण्य है। इसलिये प्रतीप अलंकार है। प्रतीप को प्रतीपोपमा या विपरीतोपमा भी कहा गया है। अतः इसे लोकन्याय में रखना अनुचित है। यह तो सादृश्यमूलक अलंकार है। अतिशयोक्ति अलंकार को सादृश्यगर्भ के अभेद प्रधान अध्यवसायमूलवर्ग में रखा गया है। इसके रूपकातिशयोक्ति नामक भेद में तो अवश्य सादृश्य है; किन्तु अन्य भेदों में कहीं भी किंचित सादृश्य नहीं परिलक्षित होता।

अतिशयोक्ति के अवान्तर भेदों में कहीं सादृश्य तो है नहीं; केवल रूपकातिशयोक्ति के कारण इसे सादृश्यमूलक वर्ग में लिया गया है। वास्तव में इस अलंकार का विघटन हो जाना चाहिये। इसके रूपकातिशयोक्ति को रूपक का कोई भेद बना देना चाहिये और शेष समस्त भेदों को अत्युक्ति में ले लेना चाहिये।

सम अलंकार विषम का विलोम है। इसलिए सम को भी विषम के साथ विरोध मूलक वर्ग में रख दिया गया है, किन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि सम अलंकार में यथायोग्य सम्बन्ध का विधान लोकन्याय से पुष्ट होता है। सम के समान अधिक अलंकार में भी कोई विरोध का तत्व नहीं है। इसमें आधेय और आधार का न्यूनाधिक वर्णन होता है। आचार्य दंडी ने तो इसे अतिशयोक्ति के अन्तर्गत लिया था। अधिक और अल्प साथ-साथ ही रहेंगे। इन दोनों अलंकारों के लिये लोकन्याय वर्ग उपयुक्त है।

विशेष और पर्याय नामक अलंकारों में बड़ा सूक्ष्म भेद है। अतः इन दोनों के लिए एक ही वर्ग होना चाहिये। इन्हें विरोधमूलक वर्ग में रखना युक्तिसंगत नहीं

है, इन्हें तो लोकन्याय में रक्खा जाना चाहिये। अन्योन्य अलंकार में विरोध का भाव नहीं है, अपितु समन्वय का भाव है। इसका उपयुक्त वर्ग लोकन्याय है। व्याजस्तुति और व्याजनिंदा स्पष्टरूपेण व्यंग्य प्रधान अलंकार है। न जाने क्यों इन्हें व्यंग्य प्रधानवर्ग में नहीं रखा गया है।

विस्तारप्रिय आचार्यों ने अनेक ऐसे अलंकारों की उद्भावना की है, जिनमें कोई अलंकारत्व ही नहीं है। उदाहरणार्थ स्वभावोक्ति अलंकार नहीं है, बल्कि अलंकार्य है। इसी प्रकार प्रहर्षण, विषादन और युक्ति अलंकार नहीं, अपितु संचारी भाव है।

ऊपर के विवेचन के आधार पर अर्थालंकारों का स्थूल वर्गीकरण निम्न-लिखित ढंग का हो सकता है—

१ सादृश्यमूल	उपमा, उपमेयोपमा, प्रतीप, अनन्वय, स्मरण, परिणाम, संदेह, भ्रांति, उल्लेख, अपन्हुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति (केवल रूपकातिशयोक्ति), तुल्ययोगिता, दीपक, प्रति-वस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यक्तिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति, अर्थान्तर-न्यास, आक्षेप, मीलित, उन्मीलित, सामान्य, विशेषक।
२ विरोधमूल	विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, विचित्र, व्याघात, असंगति, विषम।
३ शृंखलाबद्ध	कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार।
४ न्यायमूल (अ)	तर्कन्याय—काव्यलिंग, अनुमान।
(ब)	वाक्यन्याय-यथासंख्य, परिवृत्ति, अर्थापत्ति, विकल्प, परिसंख्या, समुच्चय, समाधि।
(स)	लोकन्याय-प्रत्यनीक, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर, सम, अधिक, अल्प, अत्युक्ति, विशेष, पर्याय, अन्योन्य।
५ गूढार्थप्रतीतिमूल	सूक्ष्म, व्याजोक्ति, बक्रोक्ति, व्याजस्तुति, व्याजनिंदा।

दृष्टिकोण की विभिन्नता के कारण वर्गीकरणों में आचार्यों का मतभेद है। उक्त वर्गीकरण अलंकारों के मूलतत्व पर समाधारित होने के कारण इसमें एक-सूत्रता है, अतः वैज्ञानिक अवश्य है। अलंकारों का विशुद्ध मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण भी हो सकता है, किन्तु यदि वह सर्वथा उपेक्षणीय नहीं, तो काव्यशास्त्र के लिये आवश्यक और उपयोगी भी नहीं है।

अलंकारों की कोई संख्या नहीं निश्चित की जा सकती। किसी अलंकार-वर्गीकरण या अलंकार-ग्रन्थ में अलंकारों की जितनी संख्या गिनाई गई है उतनी ही

नहीं हो सकती। प्रतिभा ईश्वर-प्रदत्त है। उसके अनन्त प्रकार हैं।[१] युग-प्रवर्तक साहित्यकार अपनी अभिव्यक्ति में नये-नये प्रयोग करते हैं और इन प्रयोगों की संख्या अनन्त है। अत: अलंकार भी अनन्त हैं।[२] दंडी ने भी कहा है कि अलंकारों की आज भी सृष्टि हो रही है। अत: सम्पूर्णत: कौन उनकी गणना कर सकता है?[३] ध्वनिकार का कथन है कि वाग्विकल्प-कथन के प्रकार अनन्त है और वे ही अलंकार हैं। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुये रुद्रट ने कहा है कि हृदयाह्लादक जितने अर्थ है वे सभी अलंकार हैं।[४] साहित्य में एक ही वस्तु का बोध कराने की विभिन्न शैलियां हैं। उदाहरणार्थ किसी युवती के प्रसन्न-मुख-सौंदर्य को निम्नलिखित ढंगों से व्यक्त किया जा सकता है—

१. उसका मुख चन्द्रमा के समान है (उपमा)। २. चन्द्रमा के समान उसका मुख और उसका मुख चन्द्रमा के समान है (उपमेयोपमा)। ३. चन्द्रमा उसका मुख-सा है (प्रतीप)। ४. उसका मुख ही चन्द्रमा है (रूपक) ५. यह मुख है या चन्द्रमा (संदेह)। ६. यह मुख नहीं चन्द्रमा है (अपन्हुति)। ७. उसके मुख को चन्द्रमा समझ कर चकोर उसकी ओर उड़ा (भ्रांतिमान)। ८. मुख मानो चन्द्रमा है (उत्प्रेक्षा)। ९. चन्द्रमा को देख कर उसके मुख की याद आती है (स्मरण)। १०. मुख सुषमा से और चन्द्रमा चन्द्रिका से शोभित होता है (दीपक)। ११. मुख पृथ्वी पर सुशोभित है और चन्द्रमा आकाश में अपनी ज्योत्स्ना विकीर्ण करता है (प्रतिवस्तूपमा)। १२. उसका मुख बड़ी-बड़ी काली आँखों और मुस्कान की आभा से शोभित है (समासोक्ति)। १३. मुख अपने सौन्दर्य से दर्शकों को प्रसन्न करता है और चन्द्रमा अपनी चन्द्रिका से संसार को सुशीतलता प्रदान करता है (दृष्टान्त)। १४. चन्द्रमा कलंकित है और उसका मुख निष्कलंक है (व्यतिरेक)। १५. उसके मुख में चन्द्रमा की सुन्दरता है (निर्दशना)। १६. चन्द्रिका उसके मुख की कांति के समक्ष मन्द है (अप्रस्तुत प्रशंसा)। १७. उसका मुख एक दूसरा चन्द्रमा है (अतिशयोक्ति)। १८. चन्द्रमा और कमल उसके मुख के कारण विलीन हुए (तुल्ययोगिता)। १९. उसके चन्द्रमुख से वासना उत्तेजित होती है (परिणाम)। २०. उसका मुख उसके मुख-सा ही है (अनन्वय)। २१. यह चन्द्रमा है, यह कमल है, चकोर और भ्रमर उसके मुख की ओर उड़ते हैं (उल्लेख)।

---

१ प्रतिभानन्त्यात्। लोचन

२ अलंकाराणाम् अनन्तत्वात्। ध्वन्यालोक।

३ ते चाद्यपि विकल्प्यन्ते कस्तान् कात्स्यर्न्येन वक्ष्यति। काव्यादर्श।

४ ततो यावन्तो हृदयावर्धका अर्थप्रकाश: तावन्त: अलंकारा:। काव्यालंकार।

इसी प्रकार अभिव्यंजन–विधान के और भी नये प्रयोग हो सकते हैं और होते ही हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अलंकारों की कोई परिमित संख्या नहीं हो सकती। भाषा की उन्नति के साथ इनमें भी उन्नति होती है।

साहित्य के विकास के साथ-साथ अलंकारों की संख्या में वृद्धि होती गई और इनकी वृद्धि यहाँ तक की गई कि जो अलंकार काव्य में साधन रूप प्रयुक्त होते थे, वे काव्य के साध्य बन गये। अलंकारों के विषय में आचार्यों के मतामत के कारण अलंकारों की परिभाषाएँ भी अस्पष्ट होने लगीं। लेकिन मम्मट, रुय्यक आदि परिवर्ती आचार्यो ने समस्त अलंकारों का चयन कर उन्हें एक व्यवस्था प्रदान करने का प्रयत्न किया, जिसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली।

३

संस्कृत-अलंकार-साहित्य

आचार्य दण्डी ने कहा है कि यदि शब्दात्मिका ज्योति इस लोक को आलोकित न करती तो सम्पूर्ण संसार अंधकारमय होता।[1] अनन्तकाल से शब्दार्थमयी वाणी विविध साधनों द्वारा विश्व को प्रकाशित करने का प्रयत्न कर रही है। इन साधनों में से वाणी के क्षेत्र में अलंकारों की सत्ता की बड़ी महत्ता है। प्राचीनकाल में अलंकारशास्त्र समस्त साहित्यशास्त्र का अभिधान था, किन्तु साहित्य के विकास के साथ-साथ अलंकार शब्द के प्रयोग में अर्थ-संकुचन होता गया और कालान्तर में वह विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।

भारतीय साहित्य में अलंकारशास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है; किन्तु इस शास्त्र का कब उद्भव हुआ, यह अनिश्चित है। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' के प्रारम्भ में इस शास्त्र के प्रचलन की चर्चा करते हुए कहा है कि भगवान शंकर ने काव्यविद्या का सर्वप्रथम उपदेश परमेष्ठी, बैकुण्ठ आदि चौंसठ शिष्यों को किया था। उनमें से प्रथम शिष्य स्वयम्भू ब्रह्मदेव ने इस विद्या का द्वितीय बार उपदेश अपनी इच्छा से उत्पन्न अयोनिज शिष्यों–ऋषियों को किया। इन शिष्यों में से सरस्वती का पुत्र काव्यपुरुष भी एक था। जगद्वन्द्य देवता भी इसकी वन्दना करते थे। ब्रह्मदेव ने त्रिकालज्ञ और दिव्य दृष्टि द्वारा भविष्य की बातों को जानने वाले उस काव्यपुरुष भू, भुव और स्वर्ग तीनों लोक-निवासिनी प्रजा में काव्यविद्या-प्रचार के लिये आज्ञा दी। काव्य-पुरुष के अठारह भागों में विभक्त काव्य-विद्या का उपदेश सर्वप्रथम सहस्राक्ष आदि दिव्य स्नातकों को किया। उनमें से एक-एक शिष्य ने अठारह भागों में विभक्त उस काव्य-विद्या के एक-एक भाग में विशेषता प्राप्त करके अपने-अपने विषय पर पृथक्-पृथक् ग्रंथ-रचना की। सहस्राक्ष इन्द्र ने कविरहस्य नामक प्रथम भाग की रचना की। इसी प्रकार उक्तिगर्भ ने उक्तिविषयक ग्रंथ का निर्माण किया। सुवर्णनाम

---

१ इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरा संसारान्नदीप्यते॥ १।४॥ 'काव्यादर्श।'

तथा स्वर के ऊपर सादृश्य के कारण जो व्यापक प्रभाव पड़ता है, उसका पाणिनि के सूत्रों में स्पष्ट उल्लेख है। कात्यायन इस विषय में पाणिनि के स्पष्ट अनुयायी हैं। शान्तनव नामक आचार्य ने अपने फिट् सूत्रों में (२।१६, ४।१८) स्वर-विधान पर सादृश्य का जो प्रभाव पड़ता है, उसका स्पष्ट वर्णन किया है। पतन्जलि ने पाणिनि के द्वारा प्रयुक्त 'उपमान' शब्द की व्याख्या महाभाष्य में (२।१।५५) की है। उनका कहना है कि मान वह वस्तु है कि जो किसी अज्ञातवस्तु के निर्धारण के लिये प्रयुक्त की जाती है। 'उपमान' मान के समान होता है और वह किसी वस्तु का अत्यन्त रूप से नहीं, प्रत्युत सामान्यरूप से निर्देश करता है, जैसे –'गौरिवगवय:' गाय के समान नीलगाय होती है।[१] काव्य पद्धति से 'गौरिवगवय:' चमत्कारविहीन होने के कारण उपमालंकार का उदाहरण नहीं हो सकता, तथापि शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक दृष्टि से पतंजलि का यह उपमा-निरूपण महत्व रखता है।"[२] इस प्रकार हम देखते हैं कि अलंकारशास्त्र अपने प्रारम्भकाल से ही व्याकरणशास्त्र से प्रभावित है। उपमा-विभाजन तथा वर्णन बहुत कुछ व्याकरण के आधार पर ही है। उपमा का श्रौती तथा आर्थीरूप में विभाजन पाणिनि के सूत्रों पर ही अवलम्बित है। जहाँ यथा, इव, वा आदि पदों के द्वारा साधर्म्य की प्रतीति होती है, वहाँ आर्थी उपमा होती है। पाणिनि के 'तत्र तस्येव' सूत्र के अनुसार 'इव' के अर्थ को घोषित करने के लिये जब वत् प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है तब श्रौती उपमा होती है, यथा–'मथुरावत् पाटलिपुत्रे प्रसादा:' अर्थात् मथुरा के समान पाटलिपुत्र में महल हैं। यहाँ 'मथुरावत्, पद में 'वत्' प्रत्यय सप्तमी की विभक्ति से युक्त होने पर जोड़ा गया है, चैत्रवत्-चैत्रस्य इव। परन्तु जहाँ क्रिया के साथ सादृश्य का बोध कराना अभीष्ट होता है वहाँ भी 'वत्' प्रत्यय जोड़ा जाता है और वहाँ आर्थी उपमा होती है। 'ब्राह्मणवत् क्षत्रियोअधीते', इस वाक्य में आर्थी उपमा है और यह 'तेन तुल्यं क्रियाचेद्वित:' सूत्र के अनुसार है। इसी प्रकार समासगा श्रौती उपमा 'इव' पद के प्रयोग करने पर 'इवेन सह नित्यसमासोविभक्त्यलोपश्च' वार्तिक के अनुसार होती है। इसी तरह कर्म तथा आधार में 'क्यप्' प्रत्यय के प्रयोग होने पर तथा 'क्यङ्' प्रत्यय के बिधान करने पर कई प्रकार की लुप्तोपमाएँ उत्पन्न होती हैं। उपमा का यह समग्र विभाजन पाणिनि के सूत्रों के आधार पर ही किया गया है। इस विभाजन को सर्व प्रथम आचार्य उद्भट ने किया था। अत: यह अर्वाचीन आलंकारिकों के प्रयत्न का फल नहीं है; वरन् अलंकार के आदिमयुग से सम्बन्ध रखता है।[३]

---

१ मानं हि नाम अनिर्ज्ञातार्थमुपादीयते अनिर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामीति।
तत्समीपेयत् नात्यन्ताय मिमीते तद् उपमानं गौरिव गवय: इति।
पाणिनि पर २।१।५५ महाभाष्य।

२ भारतीय साहित्यशास्त्र—पं० बलदेव उपाध्याय

३ भारतीय साहित्यशास्त्र—पं० बलदेव उपाध्याय।

संस्कृत-काव्यशास्त्र के उपलब्ध ग्रन्थों में भरत का 'नाट्यशास्त्र' सर्वाधिक प्राचीन है। विश्व में इस विषय पर इतना प्राचीन और परिपूर्ण अन्य कोई ग्रन्थ नहीं है। आरिस्टाटिल की 'पोइटिक्स' नाट्यशास्त्र के विषय में योरुप में आकर ग्रन्थ माना जाता है; परन्तु इसमें नाटक के केवल एक भाग दुःखांत का ही विधिवत् वर्णन है। 'नाट्यशास्त्र' के दशमांश से भी इसका आकार छोटा है। डाक्टर राघवन् ने लिखा है कि अपने ३६ अध्यायों में यह 'नाट्यशास्त्र' अरिस्टाटिल की रचना की अपेक्षा अधिक पूर्ण और संस्कृत नाट्यसाहित्य के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान प्रदान करता है।[1] नाट्यशास्त्र के दो संस्करण प्राप्त होते हैं—काव्यमाला बम्बई (निर्णयसागर) का संस्करण और संस्कृत सीरीज़ काशी (चौखम्बा) का संस्करण। दोनों में क्रमशः ३७ और ३६ अध्याय हैं। काशी का संस्करण ही ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि अभिनव ने भरत के सूत्रों की संख्या ३६ बतलाई है।[2] सूत्र का सम्भवतः तात्पर्य अध्यायों से ही है। 'नाट्यशास्त्र' में उतने ही अध्याय हैं, जितने शैवमतानुसार विश्व में तत्त्व होते हैं। 'नाट्यशास्त्र' के विवेचन के तीन भाग हैं—१–सूत्र २–भाष्य ३–श्लोक या कारिका। ३६ अध्यायों में विभक्त 'नाट्यशास्त्र' नाट्य-विधानों का एक अमर विश्वकोष है। इसमें नाट्यकला के विस्तृत विवेचन के अतिरिक्त छंद, अलंकार, नृत्य, संगीत आदि का भी वर्णन है।

'नाट्यशास्त्र' के सत्रहवें अध्याय में काव्य के केवल चार अलंकारों का निरूपण प्राप्त होता है–उपमा, यमक रूपक तथा दीपक।[3] उपमा का वर्णन करते हुए भरत ने लिखा है कि काव्य-रचनाओं में जो भी सादृश्य से उपमित किया जाय, वह उपमा है। यह गुण और आकृति पर आधारित होती है।[4] यह चार प्रकार की होती है–एक की एक से उपमा, अनेक से एक की, एक से अनेक की तथा अनेक से अनेक की उपमा होती है।[5] इन चारों के पृथक्-पृथक् उदाहरण दिये गये हैं। तत्पश्चात् फिर उपमा के सोदाहरण पांच भेद बतलाए

1 The Natya Sastra, in 36 chapters, is more complete than the work of Aristotle, and provides a full view of Sanskrit dramatic poetry. —Encyclopedia of Literature.

२ षट्त्रिंशकात्मक जगत्गगनावभास—
संविन्मरीचिचयचुम्बितविश्वशोभन्
षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्
वन्देशिवं तदर्थविवेकि धाम्।
—'अभिनवभारती'

३ उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
अलंकारास्तुविज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः ॥१७।४३॥

४ यत्किंचित् काव्यवन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
उपमानाम विज्ञेया गुणाकृति समाश्रया ॥१७।४४॥

५ एकस्यैकेन सा कार्यानेकैनाप्यथवापुनः।
अनेकस्म तथैकेन बहूनां बहुमिस्तथा ॥१७।४५॥

गये हैं—(१) प्रशंसा (२) निंदा (३) कल्पिता (४) सदृशी और (५) किंचित् सदृशी।[१] इन भेदों के बाद यह कहा गया है कि उपमा के यही भेद संक्षेप से जानने चाहिए, शेष जो लक्षणों द्वारा नहीं कहे गये हैं, उनका लोक से लक्षण जान लेना चाहिये।[२] इस कथन से ज्ञात होता है कि उपमा के और भी भेद प्रचलित थे, किन्तु वे साधारण थे; अतः उनका वर्णन अनावश्यक समझा गया। उपमोपरांत रूपक का लक्षण करते हुए लिखा है कि नाना द्रव्यों से जो गुणाश्रय उपमा हुआ करती है, जिसमें रूपक का सम्यक् वर्णन होता है, उसे रूपक कहते हैं।[३] अपने विकल्प से रचित तुल्य अवयवों वाला, कुछ सदृशता से युक्त रूप ही रूपक होता है।[४] भिन्न विषयों वाले शब्दों का दीपक की भाँति एक वाक्य द्वारा संयोग होने पर दीपक होता है[५] और शब्दों की पुनरावृत्ति यमक होती है।[६] यमक का भेदों सहित विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है; किन्तु रूपक और दीपक के भेद नहीं किये गये हैं।

भरत के 'नाट्यशास्त्र' के पश्चात् वेदव्यासकृत 'अग्निपुराण' प्राप्त होता है। इसके साहित्य-प्रकरण के अंश की रचना में विद्वानों को सन्देह है। फिर भी 'अग्निपुराण' में अलंकारों की अल्पसंख्या, जो भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' से कुछ ही अधिक है उसका साधारणतया निरूपण किया जाना हमको विकासोन्मुख प्रगतिशील अलंकारशास्त्र के दूसरे सोपान के रूप में दृष्टिगत होता है।[७] अग्निपुराण के ३३७ से ३४७ तक के अध्यायों में साहित्य-विवेचन हुआ है, जिसमें ३४२ से ३४४ अध्याय तक पन्द्रह अलंकारों का निरूपण है, पन्द्रह अलंकारों में से कुछ भामह से और कुछ दंडी से मिलते हैं। हो सकता है भामह और दंडी ही अग्निपुराण के अलंकार-निरूपण से प्रभावित हुए हों।

---

१ प्रशंसा चैव निंदा च कल्पिता सदृशी तथा।
किञ्चिच्च सदृशी ज्ञेया ह्युपमा पञ्चधा बुधैः ॥१७।५०॥

२ उपमाबुधैरेते भेदा ज्ञेयाः समासतः।
शेषा ये लक्षणैनोक्तास्ते ग्राह्यकाव्यलोक्तः ॥१७।५६॥

३ नानाद्रव्यानुषङ्गार्थैर्यदौपम्यंगुणाश्रयम्।
रूपनिर्वर्णनायुक्तं तद्रूपकमितिस्मृतम् ॥१७।५७॥

४ स्वविकल्पेन रचितं तुल्यावयवलक्षणम्।
किञ्चित्सादृश्यसंपन्नं यद्रूपंरूपकं तुतत् ॥१७।५८॥

५ नानाधिकरणस्थानानांशब्दानां संप्रदीयतः।
एकवाक्येनसंयोगोयस्तद्दीपक मुच्यते ॥१७।६०॥

६ शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषुविकल्पितम्म।
विशेषदर्शनं चास्य गदतो मे निबोधत ॥१७।६२॥

७ संस्कृत-साहित्य का इतिहास।
—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार।

आचार्य भामह भारतीय अलंकारशास्त्र के आद्यालंकारिक माने जाते हैं। इन्होंने ही सर्वप्रथम 'नाट्यशास्त्र' की परतन्त्रता से मुक्त होकर अलंकारशास्त्र का अभिनव अनुशीलन प्रस्तुत किया। भामह का 'काव्यालंकार' एक बहुत ही महत्वपूर्ण रचना है। इसकी महत्ता इसी से स्पष्ट है कि परवर्ती आनन्दवर्धन और मम्मट जैसे गम्भीररुचि के आचार्यों ने भी इनके मत का उल्लेख किया है। उद्भटाचार्य ने तो 'भामह विवरण' नाम से भाष्य ही लिख डाला। ४०० श्लोकों वाले 'काव्यालंकार' के छः परिच्छेदों में पाँच विषयों का विवेचन हुआ है[१] जो इस प्रकार हैं—काव्यशरीर, अलंकार, दोष, न्याय-निर्णय और शब्द-शुद्धि। दूसरे और तीसरे परिच्छेदों के एक सौ साठ श्लोकों में अलंकार-निरूपण हुआ है।

भामह अलंकारवादी आचार्य हैं। वह अलंकारों का मूलाधार वक्रोक्ति मानते हैं। भामह की वक्रोक्ति अतिशयोक्ति का पर्याय हैं। उनके अनुसार जो वचन किसी निमित्त से लोकसीमा का अतिक्रमण कर जाय उसे अतिशयोक्ति कहा जाता है।[२] यह सारी अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति है। इससे अर्थ चमत्कृत हो जाता है। कवि को इसी में यत्न करना चाहिए। कौन अलंकार है जो इससे रहित हो।[३] इसी सिद्धान्त को मानने के कारण ही तो भामह ने हेतु, सूक्ष्म और लेश को अलंकार नहीं माना, क्योंकि ये इतिवृत्तात्मकता के वाचक हैं और वक्रोक्ति के अभिधान से शून्य हैं।[४] उदाहरणार्थ सूर्यास्त हो गया, चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षीगण निवास के लिये जा रहे हैं, यह भी कोई काव्य है? इसे तो 'वार्ता' कहते है।[५] वक्रोक्ति का माहात्म्य-वर्णन करते हुए भामह ने लिखा है कि 'नितान्त' आदि शब्दों द्वारा व्यक्त अतिशयोक्ति से ही वाणी-सौष्ठव नहीं हो जाता। वक्र शब्द और अर्थ की उक्ति ही वाणी का काम्य अलंकार है।[६]

---

१ षष्ठ्या शरीरं निर्णीतं शतषष्ठ्या त्वलङ्कृतिः।
पन्चाशता दोषदृष्टिः सप्तत्या न्यायनिर्णयः॥
षष्ठ्या शब्दस्य शुद्धिः स्यादित्येवंवस्तुपन्चकम्।
उक्तं षड्भिः परिच्छेदैः भामहेन क्रमेण वः॥ 'काव्यालंकार'

२ निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्ति तामलङ्कारतया यथा॥ २। ८१॥

३ सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यतोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनयाविना॥ २। ८५॥

४ हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः।
समुदायाऽभिधानस्य वक्रोक्त्यनाभिधानतः॥ २। ८६॥

५ गतोऽस्तमार्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्त्तामेनां प्रचक्षते॥ २। ८७॥

६ नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।
वक्राऽभिधेय शब्दोक्तिरिष्टवाचामलङ्कृतिः॥ १। ३६॥

भामह ने 'काव्यालंकार' में अपने पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों का नामोल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि भरत और भामह के मध्यकालीन आचार्यों ने अलंकारों की संख्या में वृद्धि की थी, किन्तु उनके ग्रंथ अनुपलब्ध हैं। उन्हीं आचार्यों द्वारा निरूपित अलंकारों के आधार पर द्वितीय परिच्छेद में अलंकारों के पृथक्-पृथक् वर्ग निश्चित किये गये हैं। जैसे 'पन्चैवा न्यैरुदाहृता' कह कर अनुप्रास, यमक रूपक दीपक और उपमा नामक पाँच अलंकारों को एक वर्ग में रक्खा है।[1] किसी अन्य आचार्य द्वारा निरूपित आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति और अतिशयोक्ति नाम से छः अलंकारों को दूसरे वर्ग में रक्खा है।[2] इसी प्रकार किसी दूसरे आचार्य के हेतु, सूक्ष्म तथा लेश अलंकारों को 'वार्ता' कह कर इनका खण्डन किया है और अन्त में प्रचलित यथासंख्य, उत्प्रेक्षा और स्वभावोक्ति अलंकारों का वर्णन किया है। स्वभावोक्ति को भामह ने कोई महत्त्व नहीं प्रदान दिया है। इस प्रकार द्वितीय परिच्छेद में केवल सत्रह अलंकारों का वर्णन किया गया है। तृतीय परिच्छेद में प्रेयस्, रसवत्, उर्जस्वी, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट, अपन्हुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्योगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमारूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससंदेह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, संसृष्टि, भाविकत्व नामक तेइस अलंकारों का निरूपण हुआ हैं। अन्त में आशी अलंकार का वर्णन है। इस प्रकार 'काव्यालंकार' में कुल ४१ अलंकार हैं; किन्तु हेतु, सूक्ष्म और लेश में भामह अलंकारत्व नहीं मानते, अतः भामह वक्रोक्ति को काव्य का जीवातु मानते हैं। फिर भी, उन्होंने भट्टिकाव्यकार के सदृश, दुरूह रचना के प्रति असंतोष प्रकट किया है और प्रहेलिका को काव्य नहीं माना है।[3] भामह ने काव्यालंकार में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का केवल अनुकरण ही नहीं किया, अपितु कतिपय नवीन अलंकारों का आविष्कार भी किया है।[4]

भामह के पश्चात् दण्डी का समय आता है। यह भी अलंकारवाद के समर्थक हैं। इनका 'काव्यादर्श' बहुत ही लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है। इसमें तीन परिच्छेद और

---

१ अनुप्रासः समयको रूपकं दीपकोपमे।
इतिवाचामलङ्काराः पन्चै वान्येरुदाहृताः ॥ २ । ४ ॥

२ आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेकोविभावना।
समासातिशयोक्ती च षड्लङ्कृतयोऽपरा : ॥२।६६॥

३ काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवस्सुधियामेव हन्तादुर्मेधसो हता : ॥२।२१॥ 'काव्यालंकार।'
व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवस्सुधियामलम्।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन्विद्वत्प्रियचिकीर्षया ॥१२।३४॥ 'भट्टिकाव्य।'

४ इतिनिगदितास्तास्ता वाचामलङ्कृतयोमया।
बहुविधकृतीर्दृष्ट्वाऽन्येषां स्वयं परितर्क्य च ॥ ५ । ६६ ।

६६० श्लोक हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य की परिभाषा; उसके भेद, महाकाव्यलक्षण, गद्य के भेद, कथा और आख्यायिका की अभिन्नता तथा उनका विवरण, भाषाभेद, वैदर्भी तथा गौड़ी शैलियाँ, अनुप्रास, रस, गुण और अंत में कवित्व के तीन साधन-प्रतिभा, पठन, अभ्यास का वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद में संसृष्टि सहित ३५ अर्थालंकारों के लक्षण और उदाहरण हैं। तृतीय परिच्छेद में ७७ श्लोकों में यमक का विस्तार के साथ वर्णन १८ श्लोकों में चित्रबंध, २९ श्लोकों में प्रहेलिका तथा ६३ श्लोकों में दोष-विवेचन किया गया है।

दण्डी अलंकारों को काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्मों के रूप में स्वीकार करते हैं।[1] वह शब्द और अर्थ से सम्बन्धित दो प्रकार के अलंकार मानते है। शब्दालंकारों के अन्तर्गत पदासत्ति (श्रुत्यानुप्रास), अनुप्रास (वृत्यानुप्रास), यमक और चित्र आते हैं। इनमें अन्तिम दो को वे एकान्त मधुर नहीं मानते। इसलिये इनका अन्तिम परिच्छेद में वर्णन किया है। अर्थालंकारों के वर्णन में दण्डी ने सम्पूर्ण वाङ्मय को दो भागों स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति में विभक्त करते हुए श्लेष को प्रायः सभी वक्रोक्तियों को शोभा देने वाला कहा है।[2] स्वभावोक्ति का आधार स्वभावाख्यान और वक्रोक्ति का आधार कल्पिताख्यान है। शास्त्रों में स्वभावोक्ति का अटल साम्राज्य है ही, काव्यों में भी वांछित है।[3] इस प्रकार स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति से अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में स्थित पदार्थों के रूप को स्पष्ट करती हुई स्वभावोक्ति प्रथमालंकार है।[4] जाति इसी का अपर पर्याय है। भामह ने इसके विपरीत स्वभावोक्ति को महत्त्वहीन स्वीकार किया। दण्डी ने भामह के छोड़े हुए सभी अलंकारों को स्वीकार कर लिया तथा उपमारूपक, उपमेयोपमा, ससंदेह, अनन्वय, उत्प्रेक्षवयव को स्वतन्त्र अलंकार मान कर अलंकार-भेद के रूप में माना। उपमारूपक को रूपक का भेद, उपमेयोपमा को अनन्योपमा, ससंदेह को संशयोपमा और अनन्वय को नियमोपमा माना। ये सभी दण्डीकृत उपमा-भेद हैं। उत्प्रेक्षावयव को काव्यादर्श में अचेनोत्प्रेक्षा कहा जा सकता है। कहीं-कहीं दण्डी ने अलंकारों के नामों में परिवर्तन भी कर दिया है; यथा लेश को लव, अप्रस्तुत-प्रशंसा को अप्रस्तुतस्तोत्र। साथ ही आवृत्ति और संकीर्ण नामक नवीन अलंकारों की उद्भावना की है। इसके अतिरिक्त चित्रबन्ध और प्रहेलिका को भी अलंकारान्तर्गत् वर्णन किया है, किन्तु भामह ने इन दोनों का विवेचन नहीं किया है।

---

१ काव्यशोभाकरान्धर्मान्लंकारान् प्रचक्षते ॥ २ । १ ॥ 'काव्यादर्श'

२ श्लेषः सर्वासु पुष्णातिप्रायो वक्रोक्तिषुश्रियम् ।
द्विधा स्वभावोक्तिः वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥ २ । ३६३ ॥

३ शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम् ॥ २ । १३ ॥

४ नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृष्वती ।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्यासालंकृतिर्यथा ॥ २ । ८ ॥

भामह और दण्डी के समान उद्भट भी अलंकार सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। संस्कृत–काव्यशास्त्र में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा है। लगभग सभी आचार्यों ने इनके मत का सादर उल्लेख किया है। इनका "काव्यालंकारसारसंग्रह" अलंकारों का एक बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रंथ है। छः वर्गों में विभक्त इस ग्रंथ में लगभग ७९ कारिकाओं द्वारा ४१ अलंकारों का निरूपण किया गया है। इनके अलंकार-विवेचन का बहुत कुछ आधार भामह का काव्यालंकार है। आक्षेप, विभावना, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, पर्यायोक्त, अपन्हृति, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, सहोक्ति, सन्देह और अनन्वय की परिभाषायें सर्वथा भामह के अनुसार हैं। इसके अतिरिक्त अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, रसवत्, भाविक आदि अलंकारों के लक्षणों में अत्यधिक साम्य है। भामह के समान उद्भट भी सूक्ष्म और लेश में अलंकारता नहीं मानते, किन्तु, इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उद्भट ने भामह का बिल्कुल अनुकरण ही किया है। कहीं-कहीं पर उद्भट ने भामह के निरूपित अलंकारों का उल्लेख तक नहीं किया है; यथा उपमारूपक, यमक, उत्प्रेक्षावयव, और आशी नामक अलंकार। इसके अतिरिक्त काव्यालंकार-सार- संग्रह में ऐसे भी अलंकार आये हैं, जिनका काव्यालंकार में नाम तक नहीं प्राप्त होता; उदाहरणार्थ काव्यलिंग (काव्यहेतु), काव्यदृष्टान्त, संकर और पुनरुक्तवदाभास। उद्भट के ये अलंकार सर्वथा नवाविष्कृत है, जो अलंकारशास्त्र को मौलिक देन हैं। निदर्शना को उद्भट विदर्शना कहते हैं। रसभावादि को यह भी रसवदादि अलंकारों के अन्तर्गत मानते हैं। इन अलंकारों को सर्व प्रथम व्यवस्थितरूप देने का श्रेय उद्भट को ही है।

"अर्थभेदेन तावत शब्दाः भिद्यन्ते" के अनुसार शब्द और अर्थ के भेद से श्लेष के दो भिन्न रूप दिखला कर दोनों को अर्थालंकार में रक्खा है तथा अलंकारों के योग में श्लेष की प्रबलता प्रदर्शित की है। इसका खण्डन मम्मटाचार्य ने अपने 'काव्य-प्रकाश' में किया है। अनुप्रास अलंकार के अन्तर्गत् उपनागरिका आदि वृत्तियों के निरूपण करने की जो शैली मम्मट ने चलाई थी, उसका आधार काव्यालंकार सार-संग्रह ही है। व्याकरणानुसार उपमा-भेद का प्रतिपादन सर्व प्रथम उद्भटाचार्य ही ने किया था। बाद में इसी का विस्तृत विवेचन मम्मटादि आचार्यों द्वारा हुआ। भट्टोद्भट ने भामह के लक्षणों का अनुकरण, परिवर्तन और त्याग स्वाभिमतानुकूल किया है। जहाँ कहीं उद्भट भामह से सहमत थे वहाँ तो उनके लक्षणों को उसी रूप में ग्रहण कर लिया है, जहां थोड़ा मतभेद था वहां लक्षणों में परिवर्तन कर दिया है और जहां बिल्कुल असहमत थे, वहां नवीन परिभाषाओं का निर्माण कर कतिपय मौलिक उद्भावनायें की हैं। इस प्रकार उद्भट का 'काव्यालंकार सार-संग्रह' पर्याप्त मौलिक ग्रंथ है। यह भारतीय अलंकार-शास्त्र की परम्परा में सदा सादर स्मरणीय रहेगा।

रीति–सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "काव्यालंकार–सूत्रवृत्ति" के पांच अधिकरणों में १२ अध्याय और ३१६ सूत्र हैं। "यह ग्रन्थ सूत्रों

में है और इस पर वृत्ति स्वयं वामन ने लिखी है। इसके प्रथम अधिकरण में काव्य-लक्षण, काव्याप्रयोजन, अधिकारी, रीति और काव्य के अनेक प्रकारों का वर्णन है। दूसरे अधिकरण में पद, वाक्य और वाक्यार्थ दोषों का विवेचन किया गया है। तीसरे अधिकरण में अलंकार और गुण की भिन्नता का निरूपण कर शब्द और अर्थ के दश गुणों का पृथक्-पृथक् विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। चौथे अधिकरण में अलंकार-वर्णन हुआ है और पांचवा प्रकरण शब्द-शुद्धि का है।

वामन का सिद्धान्त है कि अलंकार के योग से ही काव्य उपादेय होता है[1] और काव्य में सौन्दर्य के आधायक तत्व का नाम अलंकार है[2]। गुण और अलंकार के पार्थक्य का निरूपण करते हुए वामन ने कहा है कि गुणकाव्य के शोभाधायकधर्म है तथा अलंकार काव्य के उत्कर्षाधायक हेतु है[3]। इस प्रकार गुण काव्य के नित्य अंग और अलंकार अनित्य अंग हुए।

वामन ने कुल ३३ अलंकारों का विवेचन किया है। जिसमें ३१ पूर्ववर्ती आचार्यों के समान है और शेष दो व्याजोक्ति तथा वक्रोक्ति नवाविष्कृति हैं। वामन ने उपमा को प्रमुख अलंकार माना है और इसी के प्रपन्चरूप में समस्त अलंकारों को स्वीकार किया है। इन्होंने भामह और दंडी द्वारा निरूपित स्वभावोक्ति, प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्ति, उदात्त, भाविक और आशी नामक आठ अलंकारों को छोड़ दिया है। इनके अतिरिक्त केवल दंडी द्वारा निरूपित संकीर्ण, आवृत्ति, हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकारों को भी नहीं लिया है। इसी प्रकार उद्‌भट के काव्यलिंग, दृष्टान्त का भी वर्णन नहीं प्राप्त होता।

भामह और दंडी वक्रोक्ति को अलंकार का मूलाधार मानते थे, किन्तु वामन ने नितान्त नवीन और विलक्षण कल्पना कर वक्रोक्ति को अर्थालंकार के रूप में माना है। इनका वक्रोक्ति लक्षण है कि सादृश्य से उत्पन्न होने वाली लक्षणा वक्रोक्ति कहलाती है[4]। इसी प्रकार इनकी विशेषोक्ति का लक्षण भी सर्वथा भिन्न है, जो पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार दृढ़ारोपरूपक है। वामन ने आक्षेप के दो भेद किये हैं। मम्मटानुसार इसमें से एक प्रतीप है और दूसरा समासोक्ति है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वामन के विवेचन की अपनी कुछ सीमायें हैं, किन्तु उनके अन्तर्गत उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण स्थापनायें की हैं जिनके कारण वह अन्यतम आचार्यों में प्रतिष्ठित किये जाते हैं।

आचार्य रुद्रट का 'काव्यालंकार' नामक ग्रन्थ काव्यशास्त्र का एक बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें अलंकारों का बहुत ही विद्वतापूर्ण अपूर्व शैली में प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ में १६ अध्याय और ७३४ आर्याछन्द हैं। पहले अध्याय में काव्य प्रयोजन, काव्यहेतु, दूसरे अध्याय में काव्यलक्षण, रीति, भाषाभेद,

(१) काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् ।। १। १। १।।
(२) सौन्दर्यमलङ्कारः ।। १। १। २।।
(३) काव्यशोभायाः कर्तारोधर्मागुणाः तदतिशयहेतवोऽलङ्काराः।।३। १। १, २ ।।
(४) सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिः ।।४।३।८।।

वक्रोक्ति आदि तीन शब्दालंकार; तीसरे अध्याय में यमकालंकार; चौथे अध्याय में श्लेषालंकार; पांचवें अध्याय में चित्रकाव्य; छठे अध्याय में शब्दकोष, सातवें, आठवें, नवें और दसवें अध्यायों में अर्थालंकार; ग्यारहवें अध्याय में अर्थालंकार-दोष; बारहवें, तेरहवें, चौदहवें और पन्द्रहवें अध्यायों में रस और नायिका-भेदादि-निरूपण तथा सोलहवें अध्याय में महाकाव्य प्रबन्धादि का विवेचन है। ग्रन्थ के विषय-विवेचन को देखने से ज्ञात होता है कि रुद्रट ने आठ अध्यायों में अलंकार-निरूपण और शेष अध्यायों में शेष विषयों का विवेचन किया है। इससे प्रतीत होता है कि यद्यपि रुद्रट का सुझाव अलंकारवाद की ओर ही था; फिर भी भरत के पश्चात् रस का व्यवस्थित और स्वतन्त्रनिरूपण इनके ही ग्रन्थ में प्राप्त होता है। नायक-नायिका-भेद का भी व्यवस्थितविवेचन इन्होंने ही सर्वप्रथम किया है।

रुद्रट ने पांच शब्दालंकार माने हैं—वक्रोक्ति, यमक, अनुप्रास, श्लेष और चित्र। अर्थालंकार-निरूपण में रुद्रट ने मौलिकता दिखलाई है। इन्होंने ही सर्वप्रथम अर्थालंकारों का वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया। यद्यपि वर्गीकरण को पूर्णरूपेण वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता; फिर भी किये गये प्रयास से अलंकारों के प्रति रुद्रट की सूक्ष्म बुद्धि का परिचय प्राप्त होता है। अर्थालंकारों को चार भागों में विभक्त किया है—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। अन्य समस्त अलंकार इन्हीं के विशेष रूप होते हैं।[1] जो वस्तु के स्वरूप का वर्णन करे, उसे वास्तव कहते हैं। यह अर्थ की पुष्टि करने वाला, विपरीत प्रतीति से निवृत्त कराने वाला तथा उपमा, अतिशय एवं श्लेष से भिन्न होता है।[2] इसके २३ भेद होते हैं जिनमें १४ नाम नये हैं—समुच्चय, भाव, पर्याय, विषय, अनुमान, परिकर, परिसंख्या कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सार, अवसर, मीलित और एकावली। भावालंकार के अतिरिक्त इस वर्ग के सभी अलंकारों को उत्तरकालीन आचार्यों ने ग्रहण कर लिया है। जिसमें वक्ता किसी वस्तु के स्वरूप का सम्यक् प्रतिपादन करने के लिये उसके समान दूसरी वस्तु का वर्णन करे उसमें औपम्य अलंकार होता है।[3] इसके २१ भेद होते हैं जिनमें आठ नवीन हैं—मत, प्रतीप, उभयन्यास, भ्रांतिमत्, प्रत्यनीक पूर्व, साम्य और स्मरण। आगे चल कर इनमें से प्रतीप, भ्रांतिमान, प्रत्यनीक और स्मरण अपना लिये गये। जहाँ कोई अर्थ और धर्म का नियम कहीं प्रसिद्धि के बाद से लोक का उल्लंघन करके अन्यथा स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, वहाँ अतिशय

---

१ अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यतिशयः श्लेषः।
एषामेवविशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषः ॥७।६॥ 'काव्यालंकार'।

२ वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथन यत्।
पुष्टार्थमविपरीतं निरूपमनतिशयमश्लेषम् ॥७।१०॥

३ सम्यक्प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति।
वस्त्वन्तरमभिदध्याद्वक्ता यस्मिस्तदौपम्यम् ॥८।१॥

अलंकार होता है।[1] इसके बारह भेद होते हैं जिनमें छः नवीन हैं—विशेष, तद्गुण, अधिक, असंगति, पिहित और व्याघात। जहाँ अनेकार्थकपदों से एक ही वाक्य अनेक अर्थों का बोध कराता है, वहाँ श्लेष अलंकार होता है।[2] इसके दो भेद हैं—शुद्ध और संकीर्ण। शुद्ध के दस भेद होते हैं और संकीर्ण के दो भेद। शुद्ध श्लेष में विरोध ने तो विरोधाभास नाम से स्वतन्त्र अलंकार का रूप धारण कर लिया है और व्याजश्लेष व्याजस्तुति है। इस प्रकार रुद्रट ने ५ शब्दालंकार और ६८ अर्थालंकारों का निरूपण किया है। अर्थालंकारों में कुछ अलंकार ऐसे हैं जो दो-दो वर्गों में आ गये हैं। यथा-सहोक्ति, समुच्चय, उत्तर, उत्प्रेक्षा, पूर्व आदि हैं। श्लेषालंकार शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों में आया है। इस प्रकार के अलंकारों में नाम-साम्य अवश्य है, किन्तु लक्षणों में विभिन्नता है। अच्छा होता यदि इन अलंकारों के नामों में भी विभिन्नता होती।

इतने विवेचन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि रुद्रट ने न केवल अलंकारों को एक नवीन वर्गीकरण में रक्खा; अपितु अनेक अलंकारों का आविष्कार कर अलंकारशास्त्र को समृद्ध बनाने का स्तुत्य कार्य किया।

रुद्रट के पश्चात् युगान्तरकारी आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' में ध्वनि नामक सार्वभौम सिद्धान्त की स्थापना की। 'ध्वन्यालोक' में चार उद्योत और ११७ कारिकाएं हैं। प्रथम उद्योत में ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की गई है। द्वितीय उद्योत में ध्वनि-भेदों का विस्तृत निरूपण, प्रसंगवश गुण, रीति पदवाक्य-व्यंजकता, संघटना, रसौचित्य है और चतुर्थ उद्योत में ध्वनिप्रयोजन का पर्याप्त निरूपण किया गया है। 'ध्वन्यालोक' में तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण।

आनन्दवर्धन ने गुण और अलंकार का भेद स्पष्ट करते हुये लिखा है कि गुण रसादि अङ्गी अर्थों का, शौर्यादि के समान, अवलम्बन करते हैं और अलंकार वाच्यवाचक कटकादिवत् आश्रय लेते हैं।[3] अर्थात् शब्द-अर्थ काव्य के अंग हैं, अलंकार काव्य के आभूषण और ध्वनित रस काव्य की आत्मा है। आनन्दवर्धन को ध्वनिकाव्य में वे ही अलंकार मान्य हैं जिनकी रचना रस आक्षिप्त रूप में बिना

---

१ यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धिवाधाद्विपर्ययं याति।
कश्चित्क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य ॥९।१॥

२ यत्रैकमनेकार्थवाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन्।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः ॥१०।१॥

३ तमर्थमवलम्बते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा: मन्तव्या कटकादिवत् ॥२।६॥ ध्व० लो०

किसी अन्य प्रयत्न के हो सके ।[१] कोई-कोई रसयुक्तरचनाएँ महाकवि के रस निबन्धानुकूल एक ही व्यापार से सालंकार भी बन जाती हैं । परन्तु यमकादि की रचना में तो प्रतिभावान् कवि को भी पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है । इसीलिये वे रस के अङ्ग नहीं होते । हाँ, रसाभासों में उनको अङ्ग बनाने का निषेध नहीं है, केवल प्रधानभूत ध्वनिरूप शृंगार आदि रसों में यमकादि-निबन्धन निषिद्ध है । इसीलिये ध्वन्यात्मक शृंगार में अवसर की अनुकूलता और प्रतिकूलता को सोचसमझ कर रूपकादि अलंकार प्रयुक्त किये जाने चाहिये । तभी वे वास्तविक अलंकारता को प्राप्त होते हैं ।[२] (अलंकारादि से युक्त होने पर भी जैसे लज्जा ही कुलबधुओं का मुख्य अलंकार है, उसी प्रकार उपमादि अलंकारों से भूषित होने पर भी व्यंग्यार्थ की छाया ही महाकवियों की वाणी का मुख्य अलंकार है ।[३]) रसभावादि की विवक्षा के अभाव में अलंकारों की जो रचना होती है उसे चित्रकाव्य माना है ।[४] आनन्दवर्धन के अनुसार व्यंग्य के संस्पर्श होने पर शोभातिशय को प्राप्त होने वाले रूपकादि सभी अलंकार गुणीभूतव्यंग्य के मार्ग हैं । यह गुणीभूतव्यंग्यत्व व्यंग्यसंस्पर्श चारुत्वयोगी सभी अलंकारों में सामान्यरूप से रहता है । उस गुणीभूतव्यग्य के लक्षण को समझ लेने पर सभी अलंकार स्पष्ट हो जाते है । सामान्यलक्षण-रहित प्रत्येक अलंकार के पृथक्-पृथक् स्वरूप कथन से तो प्रतिपद पाठ से अनन्त शब्दों के ज्ञान के समान अनन्त अलंकारों का ज्ञान नहीं हो सकता । कथन की अनन्त शैलियां हैं और वे ही अलंकारों के अनन्त प्रकार हैं ।[५] आनन्दवर्धन के इस प्रकार के मौलिक विवेचन ने भामह, दंडी, उद्भटादि आचार्यों के अलंकारवाद को महत्वहीन बना दिया और ध्वनि को पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित कर दिया ।

आनन्दवर्धन और कुंतक के मध्यकाल में अभिनवगुप्त, राजशेखर, मुकुलभट्ट और धनञ्जय नामक आचार्यों के काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ प्राप्त होते हैं । साहित्य और दर्शन के मेधावी आचार्य अभिनव-

---

१ रसाक्षिपृतया यस्य बन्धः शक्यक्रियोभवेत् ।
अपृग्ययत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारोध्वनौमतः ॥२।१६॥

२ ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्यविनिवेशितः ।
रूपकादिलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम् ॥२।१७॥

३ मुख्यामहाकवि गिरामलंकृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैषाभूषा लज्जैवयोषिताम् ।३।३८॥

४ रसभावादिविषयविवक्षा विरहे सति ।
अलंकारनिबन्धो यः स चित्रविषयोमतः ॥३।४३ पर वृत्ति ॥

५ एकैकस्य स्वरूपविशेषकथनेन तु सामान्यलक्षणरहितेन प्रतिपदपाठे-
नैवशब्दा न शक्यन्तेतत्वतो निर्ज्ञातुम् । आनन्त्यात् ।
अनन्तता हिवाग्वि कल्पास्तत्प्रकाश एव चालंकाराः ॥
॥३।३७ पर वृत्ति ॥

गुप्त 'नाट्यशास्त्र' और 'ध्वन्यालोक' के व्याख्याता के के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनकी व्याख्यायें इतनी प्रौढ़ और पाडिण्त्यपूर्ण हैं कि वे मौलिकग्रन्थों से भी अधिक आदरणीय हो गई हैं। कविराज राजशेषर की 'काव्यमीमांसा' के अठारह अधिकरण माने जाते हैं, लेकिन 'कविरहस्य' नामक एक ही अधिकरण उपलब्ध है जिसमें अठारह अध्याय हैं। यह काव्यशास्त्र का अपने ढंग का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। आचार्य मुकुलभट्ट की केवल एक ही कृति 'अभिधावृत्तिमातृका' प्राप्त होती है। इसमें पन्द्रह कारिकायें हैं जिन पर मुकुलभट्ट ने स्वयं वृत्ति लिखी है। ग्रन्थ में अभिधा और और लक्षणा का विशिष्ट विवेचन किया गया है। आचार्य धनंजय का 'दशरूपक' भरत के 'नाट्यशास्त्र' का उपयोगी सारग्रन्थ है। इसमें चार अध्याय और लगभग तीन सौ कारिकायें हैं हैं। इसके टीकाकार धनंजय के भाई धनिक हैं।

ध्वनि-विरोधी आचार्यों में कुंतक और महिमभट्ट प्रसिद्ध हैं। वक्रोक्ति को काव्य का जीवनाधायक तत्व माननेवाले आचार्य कुंतक का 'वक्रोक्तिजीवितम्' भारतीय काव्यशास्त्र का एक मौलिक विवेचनापूर्ण ग्रन्थ है। इसके विवेचन के तीन अंग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। भामह से प्रेरणा प्राप्त कर कुंतक ने काव्य मे वक्रोक्ति का व्यापक विधान किया है। 'वाक्य-वक्रता' के अन्तर्गत ही समस्त अलंकारों का अन्तर्निवेश कर दिया है। कुंतक ने वक्रोक्ति को काव्य का प्राण और अलंकार दोनों माना है।[1] यद्यपि कुंतक ने 'सालंकरस्यकाव्यता' कह कर काव्य में अलंकारों की अनिवार्यता स्वीकार की है, फिर भी उन्होंने अलंकारों के विस्तार को महत्व नहीं दिया है। कुंतक ने अपने सिद्धांत के अनुसार अलंकारों का बहुत ही मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है। सर्व प्रथम तो आचार्य कुंतक ने स्वभावोक्ति को अलंकार मानने की परम्परा का विरोध करते हुए कहा कि जिन आलंकारिक आचार्यों के मत में स्वभावोक्ति भी अलंकार है, उनके मत में अलंकार्य क्या रह जाता है?[2] वह शरीर ही यदि स्वभावोक्ति नामक अलंकार हो जाय तो स्वभावोक्ति अलंकार अन्य किस अलंकार्य को अलंकृत करेगा? क्या कोई स्वयं अपने कंधे पर चढ़ सकता है, अर्थात् स्वभावोक्ति को अलंकार मानना उचित नहीं है।[3] स्वभावोक्ति की भांति भामह आदि के रसवत् अलंकारों का भी खंडन किया है कि किसी की प्रतीति न होने से तथा रस के साथ अलंकार शब्द का प्रयोग करने पर शब्द तथा

---

१ उभावेतावलंकार्यो तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव·········।
॥१।१०॥ 'वक्रोक्तिजीवितम्।

२ अलंकारवृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ॥१।११॥

३ शरीरंचेदलङ्कारः विमलंकुरुते परम्।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धम् क्वचिदप्यधिरोहति ॥१।१३॥

किसी अन्य प्रयत्न के हो सके ।[१] कोई-कोई रसयुक्तरचनाएँ महाकवि के रस निबन्धानुकूल एक ही व्यापार से सालंकार भी बन जाती हैं । परन्तु यमकादि की रचना में तो प्रतिभावान् कवि को भी पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है । इसीलिये वे रस के अङ्ग नहीं होते । हाँ, रसाभासों में उनको अङ्ग बनाने का निषेध नहीं है, केवल प्रधानभूत ध्वनिरूप श्रृंगार आदि रसों में यमकादि-निबन्धन निषिद्ध है । इसीलिये ध्वन्यात्मक श्रृंगार में अवसर की अनुकूलता और प्रतिकूलता को सोचसमझ कर रूपकादि अलंकार प्रयुक्त किये जाने चाहिये । तभी वे वास्तविक अलंकारता को प्राप्त होते हैं ।[२] (अलंकारादि से युक्त होने पर भी जैसे लज्जा ही कुलबधुओं का मुख्य अलंकार है, उसी प्रकार उपमादि अलंकारों से भूषित होने पर भी व्यंग्यार्थ की छाया ही महाकवियों की वाणी का मुख्य अलंकार है ।[३]) रसभावादि की विवक्षा के अभाव में अलंकारों की जो रचना होती है उसे चित्रकाव्य माना है ।[४] आनन्दवर्धन के अनुसार व्यंग्य के संस्पर्श होने पर शोभातिशय को प्राप्त होने वाले रूपकादि सभी अलंकार गुणीभूतव्यंग्य के मार्ग हैं । यह गुणीभूतव्यंग्यत्व व्यंग्यसंस्पर्श चारुत्वयोगी सभी अलंकारों में सामान्यरूप से रहता है । उस गुणीभूतव्यंग्य के लक्षण को समझ लेने पर सभी अलंकार स्पष्ट हो जाते है । सामान्यलक्षण-रहित प्रत्येक अलंकार के पृथक्-पृथक् स्वरूप कथन से तो प्रतिपद पाठ से अनन्त शब्दों के ज्ञान के समान अनन्त अलंकारों का ज्ञान नहीं हो सकता । कथन की अनन्त शैलियां हैं और वे ही अलंकारों के अनन्त प्रकार हैं ।[५] आनन्दवर्धन के इस प्रकार के मौलिक विवेचन ने भामह, दंडी, उद्भटादि आचार्यों के अलंकारवाद को महत्वहीन बना दिया और ध्वनि को पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित कर दिया ।

आनन्दवर्धन और कुंतक के मध्यकाल में अभिनवगुप्त, राजशेखर, मुकुलभट्ट और धनञ्जय नामक आचार्यों के काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ प्राप्त होते हैं । साहित्य और दर्शन के मेधावी आचार्य अभिनव-

---

१ रसाक्षिप्तया यस्य बन्धः शक्यक्रियोभवेत् ।
अपृग्ययत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारोध्वनौमतः ॥२।१६॥

२ ध्वन्यात्मभूते श्रृङ्गारे समीक्ष्यविनिवेशितः ।
रूपकादिलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम् ॥२।१७॥

३ मुख्यामहाकवि गिरामलंकृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैषाभूषा लज्जैवयोषिताम् ।३।३८॥

४ रसभावादिविषयविवक्षा विरहे सति ।
अलंकारनिबन्धो यः स चित्रविषयोमतः ॥३।४३ पर वृत्ति ॥

५ एकैकस्य स्वरूपविशेषकथनेन तु सामान्यलक्षणरहितेन प्रतिपदपाठे-
नैवशब्दा न शक्यन्तेतत्वतो निर्ज्ञातुम् । आनन्त्यात् ।
अनन्तता हिवाग्वि कल्पास्तत्प्रकाश एव चालंकाराः ॥
॥३।३७ पर वृत्ति ॥

गुप्त 'नाट्यशास्त्र' और 'ध्वन्यालोक' के व्याख्याता के के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनकी व्याख्यायें इतनी प्रौढ़ और पाडिण्त्यपूर्ण हैं कि वे मौलिकग्रन्थों से भी अधिक आदरणीय हो गई हैं। कविराज राजशेषर की 'काव्यमीमांसा' के अठारह अधिकरण माने जाते हैं, लेकिन 'कविरहस्य' नामक एक ही अधिकरण उपलब्ध है जिसमें अठारह अध्याय हैं। यह काव्यशास्त्र का अपने ढंग का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। आचार्य मुकुलभट्ट की केवल एक ही कृति 'अभिधावृत्तिमातृका' प्राप्त होती है। इसमें पन्द्रह कारिकायें हैं जिन पर मुकुलभट्ट ने स्वयं वृत्ति लिखी है। ग्रन्थ में अभिधा और और लक्षणा का विशिष्ट विवेचन किया गया है। आचार्य धनंजय का 'दशरूपक' भरत के 'नाट्यशास्त्र' का उपयोगी सारग्रन्थ है। इसमें चार अध्याय और लगभग तीन सौ कारिकायें हैं हैं। इसके टीकाकार धनंजय के भाई धनिक हैं।

ध्वनि-विरोधी आचार्यों में कुंतक और महिमभट्ट प्रसिद्ध हैं। वक्रोक्ति को काव्य का जीवनाधायक तत्व माननेवाले आचार्य कुंतक का 'वक्रोक्तिजीवितम्' भारतीय काव्यशास्त्र का एक मौलिक विवेचनापूर्ण ग्रन्थ है। इसके विवेचन के तीन अंग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। भामह से प्रेरणा प्राप्त कर कुंतक ने काव्य मे वक्रोक्ति का व्यापक विधान किया है। 'वाक्य-वक्रता' के अन्तर्गत ही समस्त अलंकारों का अन्तर्निवेश कर दिया है। कुंतक ने वक्रोक्ति को काव्य का प्राण और अलंकार दोनों माना है।[1] यद्यपि कुंतक ने 'सालंकरस्यकाव्यता' कह कर काव्य में अलंकारों की अनिवार्यता स्वीकार की है, फिर भी उन्होंने अलंकारों के विस्तार को महत्व नहीं दिया है। कुंतक ने अपने सिद्धांत के अनुसार अलंकारों का बहुत ही मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है। सर्व प्रथम तो आचार्य कुंतक ने स्वभावोक्ति को अलंकार मानने की परम्परा का विरोध करते हुए कहा कि जिन आलंकारिक आचार्यों के मत में स्वभावोक्ति भी अलंकार है, उनके मत में अलंकार्य क्या रह जाता है?[2] वह शरीर ही यदि स्वभावोक्ति नामक अलंकार हो जाय तो स्वभावोक्ति अलंकार अन्य किस अलंकार्य को अलंकृत करेगा? क्या कोई स्वयं अपने कंधे पर चढ़ सकता है, अर्थात् स्वभावोक्ति को अलंकार मानना उचित नहीं है।[3] स्वभावोक्ति की भांति भामह आदि के रसवत् अलंकारों का भी खंडन किया है कि किसी की प्रतीति न होने से तथा रस के साथ अलंकार शब्द का प्रयोग करने पर शब्द तथा

---

१ उभावेतावलंकार्यो तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव.........।
॥१।१०॥ 'वक्रोक्तिजीवितम्।

२ अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ।१।११।

३ शरीरंचेदलङ्कारः विमलंकुरुते परम्।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धम् क्वचिदप्यधिरोहति ॥१।१३॥

अर्थ की संगति भी न होने से रसवत् अलंकार नहीं हो सकते ।[१] इसके अतिरिक्त और भी छोटे-मोटे तर्क रसवत् अलंकार-खण्डनार्थ प्रस्तुत किए गए हैं। इसी प्रकार रसवत् वर्ग के प्रेयस्, ऊर्जस्वी और समाहित अलंकारों के साथ उदात्त को भी अमान्य घोषित किया है । रसवत् अलंकारों की सत्ता तो कुंतक को मान्य है; किन्तु पूर्वाचार्यों से भिन्न रूप में । रसतत्व के विधान से सहृदयों के आल्हाददायक होने से जो कोई अलंकार रस के समान हो जाता है, वह अलंकार कुंतक के मतानुसार रसवत् अलंकार कहा जा सकता है ।[२] इन्हीं अलंकारों के सदृश कुछ और भी अलंकार हैं, जिनका वास्तव में सम्बन्ध वर्णन शैली से न होकर वर्ण्य-विषय से है । ये अलंकार हैं आशी, विशेषोक्ति आदि । '[illegible]मीदम्' कहकर कुंतक ने इन्हें अलंकार नहीं माना है । कतिपय तथाकथित अलंकारों में अलंकारता का निषेध इस आधार पर किया है कि वे चमत्कार रहित हैं । इस प्रकार के अलंकारों में यथासंख्य, हेतु, सूक्ष्म, लेश आदि हैं, जिनमें भणिति-वैचित्र्य के अभाव में कोई सौंदर्यदृष्टिगत नहीं होता। इसी आधार पर संदेह के भेदों का भी खंडन किया है । अलंकारों के भेद-विस्तार को महत्व न देने के कारण कुंतक ने अनेक अलंकारों का महत्वपूर्ण अलंकारों में अन्तर्निवेश कर दिया है । जैसे प्रतिवस्तूपमा, तुल्ययोगिता, निदर्शना, परिवृत्ति और अनन्वय का उपमालंकार में अन्तर्भाव कर दिया है । इसी दृष्टिकोण से उन्होंने अनन्वय को कल्पितोपमान उपमा नाम दिया है । समासोक्ति की सत्ता भी श्लेष से पृथक् कुंतक को अमान्य है । इस प्रकार कुंतक ने दीपक, रूपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, उपमा, श्लेष, व्यतिरेक, सहोक्ति, दृष्टान्त, अर्थान्तर-न्यास और आक्षेप नामक अलंकारों को ही मान्यता प्रदान की है । इनके अतिरिक्त विभावना, सन्देह, अपन्हुति, संसृष्टि और संकर को भी अलंकार माना है; किन्तु इन्हें कोई विशेष महत्व नहीं दिया है । कुंतक के समान महिमभट्ट ने भी 'व्यक्तिविवेक' (व्यक्ति=व्यंजना; विवेक=समीक्षा) नामक ग्रन्थ की रचना कर ध्वनि-सिद्धांत का अनेक युक्तियों से खण्डन किया है ।

महाराज भोज का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'सरस्वतीकंठाभरण' पांच परिच्छेदों में विभक्त है । पहले परिच्छेद में दोष-वर्णन है । दूसरे, तीसरे और चौथे परिच्छेदों में क्रमश: शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार-निरूपण है। पांचवे परिच्छेद में रस, भाव, पंच-संधि और नायक-नायक भेद का विवेचन किया गया है ।

---

१ अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात् ।
स्वरूपादतिरिक्तस्यशब्दार्थासंगतेरपि ॥३।११॥

२ रसेन वर्तते तुल्यं रसवत्यविधानत: ।
योऽलङ्कारः स रसवत् तद्विदाल्हादनिर्मितेः ॥३।१५॥

'सरस्वतीकंठाभरण' के द्वितीय परिच्छेद में शब्दालंकारों पर विचार किया गया है। प्रारम्भ में अलंकारों को तीन भागों में विभक्त किया गया है—वाह्य, आभ्यंतर और उभय, जिनका-क्रमशः अर्थ शब्दालकार, अर्थालंकार और उभयालंकार है। शब्दालंकारों की संख्या चौबीस है—जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या, पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ़, प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य तथा अभिनीति। यमक और चित्र का विस्तारपूर्वक वर्णन है। रीतियों को शब्दालंकारों के अन्तर्गत वर्णन किया गया है। तीसरे परिच्छेद में चौबीस अर्थालंकारों का निरूपण है—जाति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, उत्तर, विरोध, सम्भव, अन्योन्य, परिवृत्ति, निदर्शना, भेद, समाहित, भ्रांति, वितर्क, मीलित, स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव। जाति अलंकार शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों में आया है। महर्षि जैमिनि के छः प्रमाणों को भी अर्थालंकारों के अन्तर्गत रक्खा है। चौथे परिच्छेद में चौबीस उभयालंकारों का विवेचन प्रस्तुत कियो गया है—उपमा, रूपक, साम्य, संशय अपन्हुति, समाधि, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुत प्रशंसा, तुल्ययोगिता, लेश, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशयोक्ति, श्लेष, भाविक तथा संसृष्टि। उपमा, आक्षेप, अपन्हुति, रूपकादि को शब्दार्थालंकार मानना बिलक्षण लगता है; क्योंकि किसी भी आचार्य ने इन्हें उभयालंकार नहीं माना है।

यद्यपि 'सरस्वती कंठाभरण' को सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने मौलिक सिद्ध करने का प्रयास किया है, किन्तु वास्तविकता यह है कि उसमें मौलिकता की अपेक्षा संग्रह अधिक है। इस ग्रंथ का उपजीव्य दंडीकृत 'काव्यादर्श' है। भोजराज का दूसरा विपुलकायग्रंथ 'शृंगार प्रकाश' है। जिसमें ३६ अध्याय हैं। इसमें गुण, दोष, महाकाव्य, नाटक और रसों का सांगोपांग वर्णन किया गया है।

भोजराज के पश्चात् औचित्य सिद्धान्त के व्याख्याता महाकवि क्षेमेन्द्र के 'औचित्यविचारचर्चा' और 'कविकंठाभरण' नामक काव्यशास्त्रसम्बन्धी ग्रंथ उपलब्ध होते हैं। 'औचित्यविचारचर्चा' में औचित्यसिद्धांत की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की गई है। 'कविकंठाभरण' कविशिक्षाविषयक ग्रन्थ है। इन ग्रंथों के अतिरिक्त क्षेमेन्द्र ने अलंकारों पर भी 'कविकर्णिका' नामक ग्रंथ की रचना की थी, जिसका उल्लेख उन्होंने 'औचित्यविचारचर्चा' में किया है, किन्तु यह ग्रंथ अनुपलब्ध है।

मम्मटाचार्य का 'काव्यप्रकाश' साहित्य-संसार का प्रचुर प्रतिष्ठाप्राप्त ग्रंथ है। इसके विवेचन की प्रौढ़ता और पाण्डित्य अद्यापि अक्षुण्य है। इसके दस उल्लासों में एक सौ बयालिस कारिकायें और छः सौ तीन उदाहरण हैं। प्रथम उल्लास में काव्यस्वरूप-निरूपण, द्वितीय में शब्दार्थ-स्वरूप-निरूपण, तृतीय में आर्थीव्यंजना-निरूपण चतुर्थ में ध्वनिकाव्य-निरूपण, पंचम में गुणीभूतव्यंग्यकाव्य-निरूपण, षष्ठ में

चित्रकाव्य-निरूपण, सप्तम में दोष-निरूपण, अष्टम में गुण-निरूपण, नवम में शब्दालंकार-निरूपण और दशम उल्लास में अर्थालंकार-निरूपण किया गया है।

मम्मट ने काव्य के स्वरूप का विवेचन करते हुये कहा है कि जिसके शब्दों और अर्थों में दोष तो नहीं ही हो, किन्तु गुण अवश्य हो, चाहे अलंकार कहीं-कहीं पर न हो, उसे काव्य कहते हैं।[1] यह कह कर मम्मट ने काव्य में अलंकारों की अनिवार्यता का निषेध किया है। इसी प्रकार गुण और अलंकार का अन्तर स्पष्ट करते हुये लिखा है कि काव्य में रस अंगी हैं, उसके नित्य धर्म गुण हैं, ये उसी प्रकार हैं जैसे व्यक्ति में शौर्य आदि। अलंकार हारादि आभूषणों के समान हैं। ये कदाचित् रस का उपकार करते है, सदा नहीं, जहाँ रस नहीं वहाँ भी अलंकार हो सकते हैं।[2]

'काव्य प्रकाश' के नवम उल्लास में वक्रोक्ति (श्लेष और काकु), अनुप्रास (छेक, वृत्ति, लाट) यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास नामक शब्दालंकारों का विवेचन किया गया है। अनुप्रास अलंकार के अन्तर्गत रीतियों की भी चर्चा की गई है। शब्दालंकार सभी पुराने हैं। दशम उल्लास में ६२ अर्थालंकार हैं। प्रायः सभी पुराने अलंकार है, केवल अतद्गुण, मालादीपक, विनोक्ति, सामान्य और सम सम्भवतः मम्मट द्वारा नवाविष्कृत, प्रतीत होते हैं। मम्मट में मौलिकता तो अधिक नहीं हैं किन्तु साहित्य-संसार में उनके प्रतिपादन की प्रौढ़ता एवं पांडित्य प्रसिद्ध है। विवेचन की इन्हीं विशेषताओं के कारण तो महेश्वर भट्टाचार्य ने कहा था कि 'काव्यप्रकाश' की घर-घर में टीकाएँ होने पर भी वह दुर्गम है।[3] हिन्दी के सर्वाङ्गनिरूपक प्रायः सभी आचार्यों ने 'काव्यप्रकाश' का ही अनुकरण किया है।

मम्मटाचार्य के पश्चाद्वर्ती आचार्य रुय्यक का 'अलंकारसर्वस्व' जिसे 'अलंकार-सूत्र' भी कहा जाता है, एक प्रौढ़ और प्रामाणिक अलंकार प्रधान ग्रंथ है। इसके ८९ सूत्रों में छः शब्दालंकार और सात रसवदादि तथा संकर–संसृष्टि को मिलाकर ७५ अर्थालंकारों का निरूपण किया गया है। अलंकारों के लक्षण सूत्रों में और वृत्ति में विस्तृत विवेचन हुआ है।

---

१ तद्दोषौशब्दार्थौं सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि ॥

२ ये रसस्याङ्गिनोधर्मः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्तुस्युरचलस्थितयोगुणाः ॥८।६६॥
उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥८।६७॥

३ काव्यप्रकाशस्यकृतागृहेगृहे टीकास्तथाप्येषतथैव दुर्गम इति।

ग्रन्थारम्भ में रुय्यक ने पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्यशास्त्र सम्बन्धी विचारों का पर्यवेक्षण करते हुए लिखा है कि "इस साहित्य-संसार में भामह, उद्भट आदि प्राचीन आलंकारिकों ने प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ को वाच्यार्थ का उत्कर्ष करने वाला होने से उसे अलंकारों की ओर लगाया है। जैसे कि पर्यायोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति, उपमेयोपमा, अनन्वय, आदि अलकारों में ने वस्तुरूप व्यंग्य को उन्होंने 'स्वसिद्धयेपराक्षेप:' और 'परार्थ स्वसमर्पणं' इन दो प्रकार की शैली से बतलाया है।

रुद्रट ने तो भावालंकार को ही दो प्रकार का कहा है—रूपक, दीपक, अपन्हुति, तुल्ययोगिता आदि अलंकारों में उपमा आदि अलंकार को अर्थ का उपस्कारक माना है। उत्प्रेक्षा को तो स्वयं ही प्रतीयमान माना है। रसवत्, प्रेयस् आदि अलंकारों में रसभावादि को वाच्यार्थ की शोभा का हेतु कहा है। इस प्रकार तीन ही प्रकार के व्यंग्य को अलंकार रूप से रक्खा है।

वामन ने तो सदृश्य–निबन्धन (गौणी) लक्षणा को वक्रोक्ति कहते हुए कई ध्वनि-भेदों को अलंकार-रूप से ही कहा है। केवल गुणयुक्त पद–रचनात्मिका रीति को काव्य की आत्मा माना है। उद्भट आदि ने तो गुण और अलंकारों की प्रायश: समता ही सूचित की है। विषयमात्र से ही केवल इनमें भेद माना है और संघटना धर्मत्व से चेष्टा की है। इस प्रकार अलंकार ही प्रधान है—यह प्राच्य आलंकारिकों का मत है।"[1] प्राचीन आलंकारिकों के पश्चात् कुंतक, भट्टनायक, आनन्दवर्धन, महिमभट्ट की धारणाओं का विवेचन किया है। विभिन्न सिद्धान्तों का यह समीक्षण संक्षिप्त होते हुये भी बहुत ही सुसम्बद्ध और सारगर्भित है।

रुय्यक ने अपने ग्रन्थ में मम्मट से अधिक अलंकारों का निरूपण किया है। अलंकारों की शब्दगतता अथवा अर्थगतता का आधार मम्मट ने अन्वयव्यतिरेक को माना था, पर रुय्यक ने आश्रयाश्रयिभाव को मान है। अलंकार-निरूपण में रुय्यक ने विचित्र और विकल्प नामक दो नवीन अलंकारों की उद्भावना की है। पश्चात्कालीन आचार्य विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, विद्याधर आदि ने 'अलंकारसर्वस्व' से प्रेरणा प्राप्त की है।

जैनधर्माचार्य हेमचन्द्र का 'काव्यानुशासन' अलंकारशास्त्र का एक उपयोगी ग्रन्थ है। इसकी रचना सूत्रात्मक शैली में हुई है। ग्रन्थकार ने स्वयं सूत्रों पर अलंकार चूड़ामणि नामक वृत्ति और विवेक नामक टीका लिखी है। 'काव्यानुशासन' में आठ अध्याय हैं। पाँचवें में शब्दालंकार और छठवें में अर्थालंकार का विवेचन हुआ है। शब्दालकार छ: हैं—अनुप्रास, यमक, चित्र श्लेष, वक्रोक्ति तथा पुनरुक्ताभास। अर्थालंकार २९ हैं। इनकी संख्या कम इसलिये है कि कतिपय अलंकारों को अन्य

---

१ अलंकार-सर्वस्व।

अलंकारों के भीतर रख दिया गया है। संकर में संसृष्टि और दीपक में तुल्ययोगिता का सन्निवेश किया गया है। परावृत्ति नामक एक नवीन अलंकार का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसके अन्तर्गत मम्मटाचार्य द्वारा निरूपित पर्याय और परिवृत्ति नामक दोनों अलंकार आ जाते हैं। इसी प्रकार निदर्शना के भीतर प्रतिवस्तूपमा और दृष्टांत का समावेश किया गया है। रस और भाव से सम्बन्धित अलंकारों को छोड़ दिया गया है। भोजराज के 'सरस्वती-कंठाभरण' के समान 'काव्यानुशासन' में भी विशेष मौलिकता नहीं है, संग्रह अधिक है। ग्रन्थकार ने ध्वन्यालोक, लोचन, अभिनवभारती, वक्रोक्तिजीवित, काव्यमीमांसा और काव्यप्रकाश से पर्याप्त सहायता ली है। लगभग १५०० पद्य विभिन्न ग्रन्थों से उद्धृत किये गये हैं।

वाग्भट (प्रथम) की एकमात्र कृति 'वाग्भटालंकार' में पाँच परिच्छेद और २६० पद्य हैं, जिनमें साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों का संक्षेप में विवेचन किया गया है। 'वाग्भटालंकार' में केवल ४ ध्वन्यलंक्रिया (शब्दालंकार) हैं—चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास तथा यमक; चित्र के कुछ चित्र प्रथम परिच्छेद में भी आ चुके थे। चतुर्थ परिच्छेद (श्लोक २ से ६ तक) में ३५ अर्थालंकार गिनाये हैं, जिनका उसी क्रम से पंचम परिच्छेद में वर्णन है।"[१]

वाग्भट (द्वितीय) का 'काव्यानुशासन' सूत्रात्मक पद्धति का ग्रन्थ है। इसके सूत्रों पर ग्रन्थकार ने स्वयं अलकारतिलक नामक टीका लिखी है। इस ग्रन्थ के विवेचन का बहुत कुछ आधार 'काव्यप्रकाश' और 'काव्यमीमांसा' है। "इसमें पाँच अध्याय हैं, जिनमें काव्यप्रयोजन, कविसमय, काव्यलक्षण, दोष, गुण, रीति, ६४ अर्थालंकार, ६ शब्दालंकार, नवरस और उनके विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव एवं नायक-नायिकादि भेद निरूपित हैं। इसमें एक 'आशी' अलंकार भट्टि, भामह और दण्डी द्वारा निरूपित और चार अलंकार भाव, मत, उभयन्यास और पूर्व रुद्रट द्वारा निरूपित ये पाँच अलंकार ऐसे लिखे हैं, जिनको इनके आविष्कारकों के सिवा इसके पूर्ववर्ती मम्मट आदि किसी ने निरूपित नहीं किये थे और २ अलंकार 'अन्य' तथा 'अपर' नवीन भी लिखे हैं; किन्तु ये दोनों ही महत्त्वसूचक नहीं है। जिसे इसने 'अन्य' कहा है वह प्राचीनों की तुल्ययोगिता के अन्तर्गत है।"[२]

जयदेवकृत 'चन्द्रालोक' अलंकारशास्त्र की एक अत्यन्त लोकप्रिय रचना है। हिन्दी-अलंकार-साहित्य पर इसका बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा है। महाराज जसवंतसिंह के 'भाषाभूषण' का आधार 'चन्द्रालोक' ही है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि बड़ी रोचक एवं ललितभाषा में श्लोक की प्रथम पंक्ति में अलंकार-लक्षण और द्वितीय

---

१ हिन्दी-अलंकार-साहित्य—डा० ओमप्रकाश।

२ संस्कृत-साहित्य का इतिहास —सेठ कन्हैयालाल पोद्दार।

में उसका उदाहरण दिया गया है। इस प्रकार का अलंकार-निरूपण अलंकार-साहित्य में अपूर्व है।

उदाहरणार्थ--

व्यतिरेको विशेषश्चेद उपमानोपमेययोः।
शैला इवोन्नताः सन्तः किन्तु प्रकृति कोमलाः। ॥५। ५६॥

चन्द्रालोक में १० मयूख और ३५० अनुष्टुप छंद हैं। पंचम मयूख में अलंकारों का विवेचन किया गया है। मम्मट के 'तद्दोषौशब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' पर आक्षेप करते हुए जयदेव ने कहा है कि जो अलंकार-शून्य शब्दार्थ में काव्यत्व मानता है, वह कृती अग्नि को ऊष्णताहीन क्यो नहीं स्वीकार करता ? यह कह कर चन्द्रालोककार ने काव्य में अलंकारों की अनिवार्यता की घोषणा की है। लेकिन अलंकार का लक्षण करते हुए जयदेव मम्मटकृत परिभाषा के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सके हैं और परिणमास्वरूप हारादि के समान अलंकारों का योग मनोहर माना है।[1] जयदेव ने आठ शब्दालंकारों का निवेचन किया-छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, लाटानुप्रास, स्फुटानुप्रास, अर्थानुप्रास, पुनरुक्तप्रतीकाश, यमक तथा चित्र। इसके अतिरिक्त लगभग सौ अर्थालंकारों का निरूपण हुआ है। चन्द्रालोक' के ही अलंकार प्रकरण को परिवर्धित करके अप्पयदीक्षित ने 'कुवलयानन्द' नामक अलंकारशास्त्रग्रंथ की रचना की।

विद्याधर के 'एकावली' नामक काव्यशास्त्र के ग्रंथ में आठ उन्मेष हैं। सातवें में शब्दालंकार और आठवें में अर्थालंकार निरूपित है। ग्रन्थ के विवेचन में तीन भाग हैं--कारिका, वृत्ति और उदाहरण। ये तीनों अंश ग्रन्थकार के स्वरचित हैं। लेखक ने ग्रंथ-निर्माण में 'ध्वन्यालोक' 'काव्यप्रकाश' और 'अलंकारसर्वस्व' का सहारा लिया है। इनमें से काव्यप्रकाश का सर्वाधिक प्रभाव है। वास्तव में 'एकावली' 'काव्यप्रकाश' का संक्षिप्त संस्करण है। 'काव्यप्रकाश' से ही प्रभावित होकर विद्यानाथ ने भी 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके सभी उदाहरण ग्रन्थकार के आश्रयदाता प्रताप रुद्रदेव की प्रशंसा में हैं। इसमें ९ प्रकरण हैं। यद्यपि विद्यानाथ ने विषय-प्रतिपादन में मम्मट को आदर्श माना है, किन्तु अलंकार प्रकरण में रुय्यक का आश्रय लिया है। उल्लेख, परिणाम, विचित्र तथा विकल्प नामक अलंकारों का विवेचन मम्मट ने नहीं किया है, किन्तु विद्यानाथ ने इन अलंकारों का विवेचन रुय्यक के आधार पर किया है।

---

१ हारा दिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः। —मम्मट

हारा दिवदलङ्कारः सन्निवेशो मनोहरः। —जयदेव

आचार्य विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' अलंकार-शास्त्र का एक बहुत ही प्रसिद्ध और प्रचलित ग्रन्थ है। इस ग्रंथ की यह विशेषता है कि इसमें श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य दोनों का ही विपुल वर्णन किया है। इसके विवेचन का आधार 'काव्य-प्रकाश' और 'अलंकार-सर्वस्व' हैं। इस ग्रन्थ में दस परिच्छेद हैं। दसवें परिच्छेद में अलंकार-निरूपण हुआ है। परिच्छेद के प्रारम्भ में अलंकार की परिभाषा करते हुए लिखा है कि शोभा को अतिशयित करने वाले रस, भाव आदि के उपकारक, जो शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं वे अंगदादि की भांति अलंकार कहलाते हैं।[1] आचार्य विश्वनाथ ने कुल मिलाकर ८९ अलंकारों का निरूपण किया। जिनमें १२ शब्दालंकार ७० अर्थालंकार और ७ रसवदादि अलंकार हैं। शब्दालंकार-वर्णन के प्रारम्भ में लिखा है कि शब्द और अर्थ इनमें से पहले शब्द ही बुद्धि में उपस्थित होता है, अतः शब्दालंकार ही पहले कहने चाहिये थे, परन्तु प्राचीनों ने एक शब्दार्थालंकार पुनरुक्तवदाभास को भी शब्दालंकारों में गिना दिया है। अतः सर्वप्रथम उसी का वर्णन किया गया है और इसके पश्चात् अन्य शब्दालंकारों का विवेचन किया गया है।[2] रस का बाधक होने से प्रहेलिका को अलंकार नहीं माना है। यह उक्ति की विचित्रता मात्र होती है। च्युताक्षरा, दत्ताक्षरा, च्युतदत्ताक्षरा आदि उसके भेद होते हैं।[3] अर्थालंकारों में सर्वप्रथम उपमालंकार का वर्णन है और परिच्छेद के अन्त में संसृष्टि-संकर का विवेचन है। "शब्दालंकारों में विश्वनाथ ने श्रुत्यानुप्रास, अन्त्यानुप्रास और भाषासम ये तीन नवीन लिखे हैं, पर ये अलंकार महत्वसूचक नहीं है। इसी प्रकार अर्थालंकारों में निश्चय और अनुकूल ये दो नवीन लिखे हैं, किन्तु ये भी वस्तुतः नवीन नहीं, नवीनता का आभासमात्र हैं, क्योंकि दंडी ने जिसे तत्वाख्यानोपमा और जयदेव ने भ्रान्तापन्हुति कहा है, उसे इसने निश्चय के नाम से लिखा है और अनुकूल में भी प्राचीनों के विषम के दूसरे भेद से अधिकांश में विशेषता नहीं है।"[4] 'साहित्यदर्पण' का अलंकार-प्रकरण बहुत कुछ 'अलंकारसर्वस्व' के आधार पर लिखा गया है। रुय्यक द्वारा आविष्कृत विचित्र और विकल्प नामक दो अलंकारों को विश्वनाथ ने ग्रहण कर लिया है। साथ ही अलंकारों की संख्या और उनके विवेचन का क्रम भी प्रायः रुय्यक के अनुसार ही है। इस प्रकार यद्यपि

---

१ शब्दार्थयोरस्थिरा धर्मारा: ये शोभातिशायिन: ।
रसादीनयकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥१०।१॥ 'साहित्यदर्पण' ।

२ शब्दार्थयो: प्रथमं शब्दस्य बुद्धिविषयत्वाच्छब्दालंकारेषु वक्तव्येषु शब्दार्थालंकारस्यापि पुनरुक्तवदाभासस्य चिरंतनैः शब्दालंकार मध्ये लक्षितत्वा प्रथमं तमेवाह ॥१०।१॥ की वृत्ति ।

३ रसस्यपरिपन्थित्वान्नालंकारः प्रहेलिका ।
उक्ति वैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका ॥१०।१३॥

४ संस्कृत-साहित्य का इतिहास—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ।

'साहित्यदर्पण' में कोई मौलिकता नहीं है, फिर भी साहित्य के सर्वांगों का सरल शैली में ललित उदाहरणों से युक्त रोचक प्रतिपादन के कारण इस ग्रंथ ने संस्कृत-साहित्यशास्त्र में सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त की है।

धर्मचन्द्र के पुत्र राजा माणिक्यचन्द्र के आग्रह पर पण्डित केशव मिश्र ने 'अलंकार शेषर' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। इस ग्रन्थ में ८ रत्न या अध्याय हैं और २२ मरीचि हैं, जिनमें काव्यशास्त्र के विभिन्न विषयों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। यह कोई मौलिक ग्रन्थ नहीं है, अपितु संग्रह-ग्रंथ है। इसमें काव्यादर्श, ध्वन्यालोक, काव्यमीमांसा, सरस्वतीकंठाभरण, काव्यप्रकाश आदि ग्रन्थों से सामग्री ली गई है। इसके चतुर्थ रत्न की चारों मरीचियों में अलंकार-निरूपण किया गया है। पहले आठ शब्दालंकारों का वर्णन है—चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास, गूढ़, श्लेष, प्रहेलिका, प्रश्नोत्तर तथा यमक। इसके पश्चात् १४ अर्थालंकार हैं—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अपन्हुति, समाहित, स्वभाव, विरोध, सार, दीपक, सहोक्ति, अन्यदेशत्व, विशेषोक्ति और विभावना।

शोभाकर मित्र ने 'अलंकाररत्नाकार' नामक एक अलंकार-ग्रन्थ लिखा है। सम्भवत: इन्हीं के 'अलंकार रत्नाकर' का उल्लेख पण्डितराज ने अपने 'रसगङ्गाधर' में किया हैं। 'अलंकार-रत्नाकर' तो अप्राप्य हैं, किन्तु इसका संक्षिप्त परिचय कविराज मुरारिदान कृत 'जसवंतजशोभूषण' से प्राप्त होता है। शोभाकर मित्र ने ३६ अलंकार पूर्वाचार्यों से अधिक लिखे हैं—अचिन्त्य, अतिशय, अनादर, उदाहरण, अनुकृति, अवरोह, अशक्य, आदर, आपत्ति, उद्भेद, उद्रेक, असम, क्रियातिपत्ति, गूढ़, तत्र, तुल्य, निश्चय, परभाग, प्रतिप्रसव, प्रतिभा, प्रत्यादेश, प्रत्यूह, प्रसंग, वर्द्धमानक, व्याप्ति, व्यासंग, संदेहाभास, [illegible], विकल्पाभास, विद्याभास, विनोद, विपर्यय, विवेक, वैधर्म्य, व्यत्यास और समता। इन अलंकारों में से बहुत से तो ऐसे हैं, जिनका अन्य अलंकारों में अन्तर्भाव हो जाता है और कुछ में कोई चमत्कार ही नहीं है। अत: उन्हें अलंकार ही नहीं कहा जा सकता। इसीलिए तो परवर्ती आचार्यों ने केवल असम तथा उदाहरण अलंकारों को ग्रहण किया और शेष को अस्वीकार कर दिया।

'अलंकाररत्नाकर' की भांति यशस्क का 'अलंकारोदाहरण' भी अप्राप्य है। इसका भी परिचय 'जसवंतजशोभूषण' द्वारा मिलता है। यशस्क ने आठ नवीन अलंकार माने हैं—अंग, अनंग, अप्रयत्नीक, अभ्यास, अभीष्ट, तात्पर्य, तादृशाकार और प्रतिषेध। इन आठ अलंकारों में से केवल प्रतिषेन्ध को तो 'कुवलयानन्द' में स्थान मिला हैं। शेष सात अलंकारों को किसी भी आचार्य ने स्वीकृति नहीं दी है।

भानुदत्त के 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' नामक दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, किन्तु इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने अपने 'संस्कृत-साहित्य का

इतिहास' में भानुदत्त के एक अन्य ग्रन्थ 'अलंकारतिलक' का उल्लेख किया है, जिसमें "दो अलंकार अनध्यवसाय और भङ्गि नवीन हैं। इन दोनों अलंकारों का इसके पूर्ववर्ती ग्रन्थों में निरूपण नहीं किया गया है। वस्तुत: 'अनध्यवसायतो' संदेह अलंकार में गतार्थ है और भङ्गि के उदाहरण प्राय: समासोक्ति में गतार्थ हैं।"

गोस्वामी कर्णपूर के 'अलंकारकौस्तुभ' की दस किरणों में काव्यशास्त्र के अनेक विषयों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस पर ग्रन्थकार ने स्वयं टीका लिखी है। अलंकार-प्रकरण में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का ही विवेचन हुआ है। उदाहरण प्राय: भगवान श्रीकृष्ण की स्तुति में दिए गए हैं। यह ग्रन्थ कोई महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि इसके विवेचन का आधार आद्यन्त प्राय: 'काव्यप्रकाश' है।

अप्पयदीक्षित का 'कुवलयानन्द' बहुत ही प्रसिद्ध अलंकार-ग्रन्थ है। लेखक ने इसकी रचना बेंकट नामक राजा के आदेशानुसार की थी।[1] इसकी रचना का आधार जयदेवकृत 'चन्द्रालोक' का अलंकार-प्रकरण पंचम मयूख है। इस बात को ग्रन्थान्त में स्पष्टरूपेण स्वीकार करते हुए अप्पयदीक्षित ने लिखा है कि शरदागम में उत्पन्न होने वाले चन्द्रालोक की विजय हो, जिसके प्रसाद से यह रमणीयं युवलयानन्द उद्भूत हुआ। शरदागमन से चन्द्र का आलोक स्पष्ट दिखलाई पड़ता है और तभी कुमुद विकसित होता है। इसमें श्लेषालंकार द्वारा ग्रन्थकार 'चन्द्रालोक' को 'कुवलयानन्द' का आधार-ग्रन्थ स्वीकार करता है।[2] अप्पयदीक्षित ने चन्द्रालोक के 'लक्ष्यलक्षणश्लोक' यथावत् ले लिये हैं और कुछ स्वयं भी रचे हैं।[3] कुवलयानन्द का हिन्दी-अलंकार-साहित्य पर बहुत प्रभाव पड़ा है।

कुवलयानन्द में चन्द्रालोककार द्वारा निरूपित अलंकारों के अतिरिक्त अन्य २४ अलंकारों का वर्णन हुआ है। कुल मिला कर ११८ अलंकारों का निरूपण कुवलयानन्द में किया गया है, जिनमें १०२ अर्थालंकार, ७ रसवदादि और ९ प्रत्यक्षादि प्रमाणालंकार है, शब्दालंकारों का विवेचन नहीं किया गया है। यद्यपि यह कोई मौलिक ग्रन्थ नहीं है, फिर भी अलंकार-ज्ञान प्राप्त करने के लिये बहुत ही उपादेय है। इनका एक दूसरा ग्रन्थ 'चित्रमीमांसा' है। यह अलंकार-विषयक एक स्वतन्त्र रचना है, किन्तु अपूर्ण है। इसमें केवल अतिशयोक्ति तक ही वर्णन प्राप्त होता है।

---

१ अमुं कुवलयानन्दमकरोदप्यदीक्षित: ।
नियोगाद्वेङ्कटपतेर्निरूपाधिकृपानिधे: ॥ —कुवलयानन्द

२ चन्द्रालोको विजयतां, शरदागमसम्भव: ।
हृद्य: कुवलयानन्दो यत् प्रसादादभूदयम् ॥ ,,

३ येषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोका: ।
प्रायस्त एव्वेषामितरेषां त्वभिनवाविरच्यन्ते ॥ ,,

ग्रन्थ की एक कारिका से ज्ञात होता है कि लेखक इसे पूर्ण नहीं कर सका है।[1] उपलब्ध अंश में अलंकारों का प्रौढ़ और विशिष्ट विवेचन किया गया है, जो ग्रन्थकार के पाण्डित्य का परिचायक है। इसकी विवेचन-विशिष्टता के कारण ही शायद पण्डितराज ने कुवलयानन्द का खण्डन न कर इसी का खण्डन किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ का 'रसगंगाधर' एक बहुत ही महत्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थ है। यद्यपि यह ग्रन्थ अपूर्ण है, किन्तु उपलब्ध अंश की ही शैली सिद्धान्त-प्रतिपादन की विचित्रता और परिपक्व विचारशक्ति तथा खण्डन करने की विलक्षण प्रतिभा इन्हें प्रौढ़ आचार्य मानने को बाध्य करती है। रसगङ्गाधर में विवेचन के तीन अंग हैं—लक्षण, वृत्ति तथा उदाहरण। लक्षण गद्य में हैं, किन्तु इन्हें सूत्र नहीं कहा जा सकता। वृत्ति में दूसरे के सिद्धान्तों का खण्डन और स्वसिद्धान्त की स्थापना है। पण्डितराज दूसरे के उदाहरण से सन्तुष्ट नहीं थे, अतः उदाहरण उनके स्वरचित हैं।[2] उन्होंने अनेक स्थलों पर अपने प्रचण्ड-पांडित्य का अभिमान व्यक्त करते हुए समकालीन विद्वानों में अपने को अद्वितीय विद्वान माना है।[3] यद्यपि ये उनकी गर्वोक्तियाँ हैं, किन्तु इन उक्तियों को उन्होंने अपनी प्रकाण्ड विद्वता द्वारा सार्थक सिद्ध किया है। संस्कृत-साहित्य-परम्परा के पण्डितराज महत्वपूर्ण अन्तिम आचार्य हैं, जिन्हें आनन्दवर्धनाचार्य और मम्मटाचार्य की श्रेणी में रखा जा सकता है।

रसगंगाधर के दो ही आनन प्राप्त हैं। प्रथम आनन में काव्यलक्षण, काव्यहेतु, और काव्यभेद के बाद रस-गुण आदि का बहुत विशद विवेचन किया गया है। द्वितीय आनन में ध्वनि, अभिधा, लक्षणा का व्याख्यान हुआ है और तत्पश्चात् उपमा से उत्तर तक ७० अर्थालंकारों का निरूपण हुआ है। इन्होंने काव्य का लक्षण करते हुए लिखा है कि रमणीय अर्थ के प्रतिपादन करने वाले शब्द को काव्य कहते हैं। अलौकिक आनन्दजनक ज्ञान का विषय होना रमणीयता है। अलौकिकत्व चमत्कारत्व का ही अपर पर्याय है। यह एक विशिष्ट प्रकार की आनन्ददायिनी

---

१ अप्यर्ध-चित्रमीमांसा न मुदे कस्य मांसला।
अनूरुवि धर्मांशोरधेन्दुरिवधूर्जटेः॥ —चित्रमीमांसा

२ निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
काव्यं मयात्र निहि न परस्य किंचित।
किं सेव्यते सुमनसांमनसापि गन्धः
कस्तूरिका जननशक्ति भृता मृगेण॥ —रसगङ्गाधर

३ दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डाः करत्तिः
करिण्यः कारूण्या स्पदमसमशीलाः खलु मृगाः।
इदानीं लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखानां पुनरयं
नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन्मृगपतिः॥ —भामिनीविलास

अनुभूति है। इसका कारण है एक विशिष्ट प्रकार की भावना जो अलौकिकत्व से युक्त शब्दार्थ के पुनः-पुनः अनुचिन्तन से उत्पन्न होता है।[1] काव्य का यह लक्षण अधिक सुबोध, स्पष्ट और परिपूर्ण है। प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत काव्य के तीन भेदों के स्थान पर पण्डितराज ने चार भेद माने हैं—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम।

रसगंगाधर में प्राय: 'अलंकारसर्वस्व' और 'काव्य प्रकाश' में निरूपित अलंकारों का ही विवेचन किया गया है, किन्तु कुछ अलंकार ऐसे भी हैं, जो इन दोनों ग्रन्थों में नहीं हैं और 'चन्द्रालोक' में हैं। असम और उदाहरण ये दोनों अलंकार 'अलंकार-रत्नाकर' से लिये गये हैं। तिरस्कार अलंकार सम्भवत: पण्डितराज द्वारा नवाविष्कृत है। शब्द-शक्ति प्रसंग में पण्डितराज ने अलंकारों पर नवीन दृष्टिकोण से विचार किया है। इस प्रकार अलंकार का आधार शब्दशक्ति हो गई है और मुख्याधार लक्षणा।

पण्डितराज जगन्नाथ के पश्चात् भी अनेक आचार्य हुए, जिन्होंने काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की, किन्तु इसका कोई विशेष महत्व नहीं रहा। इन आचार्यों में आशाधर भट्ट, विश्वेश्वर पण्डित और नरसिंह कवि उल्लेखनीय हैं।

जिस प्रकार से 'चन्द्रालोक' के अलंकार-प्रकरण का परिवर्धित रूप ही 'कुवलयानन्द' है उसी प्रकार तीन प्रकरण वाली आशाधर भट्ट की 'अलंकार-दीपिका' भी 'कुवलयानन्द' की व्याख्या है। प्रथम प्रकरण में 'कुवलयानन्द' की कारिकाओं की सुबोध शैली में व्याख्या की गई है। द्वितीय 'उद्दिष्टालंकार प्रकरण' में रसवत्, प्रेय आदि अलंकारों की कुवलयानन्द-शैली में कारिकाओं की रचना और व्याख्या की गई है। इन अलंकारों का 'कुवलयानन्द' में केवल नामोल्लेख किया गया है, कारिकाएँ नहीं लिखी गई हैं। तृतीय 'परिशेषप्रकरण' में पाँच भेदों सहित संसृष्टि-संकर का समावेश हुआ है। इन अलंकारों की कारिकाओं की भी रचना आशाधर ने ही की है। 'अलंकारदीपिका' की व्याख्या बहुत ही सुबोध होने के कारण अलंकार-ज्ञान के लिए यह बहुत ही उपादेय ग्रन्थ है।

अल्मोड़ा-निवासी विश्वेश्वर पण्डित ने 'अलंकारकौस्तुभ', 'अलंकारमुक्तावली', 'अलंकारप्रदीप' 'कवीन्द्रकंठाभरण' आदि अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें 'अलंकार-मुक्तावली' और 'अलंकारप्रदीप' तो बहुत ही साधारण ग्रन्थ हैं। 'कवीन्द्र कंठाभरण'

---

१ रमणीयार्थप्रतिपादक: शब्द: काव्यम् ॥
रमणीयता च लोकोत्तराल्हादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वं चाल्हाद-गतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेष:। कारणं च तदवच्छिन्ने-भावनाविशेष: पुनरनुसंधानात्मा ॥

—'रसगंगाधर'

चित्रकाव्य का एक रोचक और प्रमाणिक ग्रन्थ है। इसमें पूर्वाचार्यों के अलंकार विषयक विचारों की बड़ी ही तर्कपूर्ण शैली में आलोचना की गई है। उपमा के भेदोंपभेदों का बहुत ही विशद व्याख्यान हुआ है।

नरसिंह कवि ने विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के अनुकरण पर अपने आश्रयदाता नवराज की प्रशंसा में 'नवराजयशोभूषण' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके सात विलासों में श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य का विवेचन किया गया है। अन्तिम विलास में अलंकार-निरूपण है, जिसमें मौलिकता नहीं है।

निघण्टु एवं निरुक्त से लेकर नवराजयशोभूषण तक संस्कृत-अलंकारशास्त्र की यह ऐतिहासिक परम्परा विश्व-वाङ्मय में सर्वाधिक प्राचीन और परिपूर्ण है। संस्कृत में काव्यशास्त्र का, विशेषरूपेण अलंकारों का इतना सूक्ष्म विवेचन और विभाजन हुआ है कि संसार-साहित्य में इस प्रकार का अनुशीलन अन्यत्र अनुपलब्ध है। इस विषय में डाक्टर सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त का कथन सर्वथा सत्य, संगत और समीचीन है कि 'भरत से लेकर विश्वनाथ या जगन्नाथ पर्यन्त हमारे देश के अलंकार-ग्रन्थों में साहित्यविषयक जैसी आलोचना दीख पड़ती है वैसी आलोचना दूसरी भाषा में आज तक हुई है, यह मुझे ज्ञात नहीं है।"[१]

संस्कृत-समीक्षाशास्त्र का प्राचीनतमरूप अलंकार-विवेचन के रूप में ही प्राप्त होता है। संस्कृत का ऐसा कोई आचार्य नहीं है कि जिसने अलंकारों पर कुछ न कुछ कार्य न किया हो। यही कारण है कि भरत के चार अलंकारों के पश्चात् पण्डितराज तक अलंकारों की संख्या १६३ तक पहुँच गई। अलंकार-वृद्धि की दृष्टि से ईसा की आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक के काल को स्वर्णयुग कहा जा सकता है। इसी युगमें प्रधान अलंकारवादी हुए, जिनके विवेचन का मुख्य विषय अलंकार ही रहा। वैसे तो अलंकारवादियों के अतिरिक्त भी इस युग में आनन्दवर्धनाचार्य, अभिनवगुप्ताचार्य आदि हुए, जिन्होंने साहित्य के मौलिक तत्वों की उद्भावना की। अतः अलंकार-निरूपण का ही नहीं अपितु सम्पूर्ण समीक्षाशास्त्र का इसे स्वर्णयुग कहा जा सकता है। इसके अनन्तर ऐसे आचार्य नहीं हुए, जिन्होंने कोई बहुत मौलिक उद्भावनाएँ की हों।

संस्कृत-साहित्यशास्त्र की इस परम्परा को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) पूर्व-ध्वनिकाल (२) ध्वनिकाल (३) पश्चात्-ध्वनिकाल। पूर्व-ध्वनिकाल के प्रमुख आचार्य भामह, उद्भट, वामन, रुद्रट आदि हैं। इन लोगों ने अलंकारों के विशदविवेचन के साथ काव्यशास्त्र के अन्य विषयों पर भी विचार किया। इस युग को रचनाकाल कह सकते हैं। इसके पश्चात् ध्वनिकाल आता है।

---

१ काव्यविचार।

जिसमें पूर्वाचार्यों के विचारों का खण्डन , तथा अपने विचारों का मंडन कर नवीन सिद्धान्तों की स्थापना की गई। अतः इसे निर्णयात्मक काल कह सकते हैं। इस युग के प्रमुख आचार्य आनन्दवर्धन, कुन्तल और महिमभट्ट हैं। पश्चात्-ध्वनिकाल के आचार्य मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ और जगन्नाथ ध्वनिकालीन आचार्यों से प्रभावित थे। इन लोगों ने अलंकारवादियों द्वारा किये गये ध्वनि-विरोधों का उत्तर देकर ध्वनि को सुदृढ़ आधार पर सुप्रतिष्ठित किया। संस्कृत-साहित्यशास्त्र के अंतिम महत्वपूर्ण आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ के समय में संस्कृत-साहित्यशास्त्र के अनुकरण पर हिन्दी-अलंकार-साहित्य-रचना का श्रीगणेश हो गया था। उपलब्ध साहित्य के आधार पर इसका श्रेय आचार्य केशवदास को दिया जाता है। अगले अध्याय में इसी परम्परा को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

४

हिन्दी-अलंकार-साहित्य

हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार शिवसिंह सरोज के आधार पर हिन्दी में प्राचीनतम काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ सवत् ७७० में भोज के पूर्व पुरुष राजामान के सभासद पुंड या पुष्य नामक किसी बंदीजन द्वारा दोहों में संस्कृत-अलंकारों से अनूदित एक अलंकार-ग्रन्थ मानते हैं।[1] सरोजकार के इस कथन का आधार कर्नलटाड द्वारा लिखित 'राजस्थान' नामक ग्रन्थ है। यद्यपि यह तथ्य कोई असम्भव नहीं कि उस युग में कोई ऐसा अलंकार विषयक ग्रन्थ लिखा गया हो, फिर भी किसी प्रकार के प्रामाणिक विवरण की अनुपलब्धि में उक्त ग्रन्थ जनश्रुति तक ही सीमित रहता है। इसके आठ-नौ शताब्दी उपरान्त भक्तिकाल में अलंकार-विवेचन के कतिपय बीज प्राप्त होते हैं। कहा जाता है कि तुलसीदास ने बरवैछंदों में 'नायिका-भेद' लिखने वाले, अपने मित्र अब्दुर्रहीम खानखाना के आग्रह पर अलंकारों के उदाहरण के लिए 'बरवै रामायण' की रचना की थी। इसमें अलंकारों का कोई विशेष क्रम तो नही प्रतीत होता, किन्तु शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही प्रयुक्त हुए हैं। उपमा, रूपक, व्यक्तिरेक, निदर्शना, प्रतीप, देहरीदीपक, उन्मीलित, सूक्ष्म, उत्प्रेक्षा, व्याजस्तुति, अपन्हुति, विभावना तुल्ययोगिता, श्लेष, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास आदि सभी प्रचलित मुख्य अलंकारों का पुस्तक में सन्निवेश हुआ है। इसमें से निदर्शना, व्यक्तिरेक आदि कुछ अलंकारों का कई-कई छंदों में वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त अलकार-सम्बन्वी पुस्तकों में गोपा की 'अलंकार-चन्द्रिका'[2] और नरहरि कवि के साथ अकबरी दरबार में जाने वाले कवि करनेस के 'कर्णाभरण' 'श्रुतिभूषण' तथा 'भूपभूषण' का उल्लेख प्राप्त होता है[3]

---

१ मिश्रबन्धु विनोद प्रथम भाग तथा हिन्दी-साहित्य का इतिहास
—पण्डित रामचन्द्र शुक्ल

२ मिश्रनन्धु-विनोद प्रथम भाग।

३ हिन्दी-साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल।

किन्तु ये ग्रन्थ अलभ्य हैं। इस प्रकार अलंकार-सम्बन्धी ग्रन्थों में आचार्य केशवदास की 'कविप्रिया',[1] ही सर्वप्रथम कृति है, जिसमें लक्षणोदाहरण सहित अलंकारों का विशद विवेचन उपलब्ध होता है।

हिन्दी का कोई स्वतन्त्र काव्यशास्त्र नहीं है, वह तो संस्कृत-काव्य शास्त्र का ही उपजीवी है। आचार्य केशव की 'कविप्रिया' का विषयाधार भी संस्कृत-साहित्य ही है। केशवदास के आश्रयदाता राजा इन्द्रजीत के बहुत सी वेश्याएँ थीं, जिनमें छः अति प्रसिद्ध थीं। उनमें प्रवीणराय के प्रति केशव का विशेष आकर्षण था। इस रमा, सरस्वती और शिवा[2] के सदृश सम्पन्नगुणों वाली कवयित्री[3] वेश्या को कविता की रुचिर रचना की शिक्षा देने के लिये केशवदास ने सोलह शृंगारों[4] से सुसज्जित रमणी के समान सोलह 'प्रभावों' वाली कवियों की प्रिया[5] 'कविप्रिया' नामक पुस्तक की रचना की।[6] जिस व्यक्ति ने किसी पुस्तक की रचना सुकुमार बुद्धि-बालक-बालिकाओं[7] के विषय-बोधार्थ की हो, उसमें किसी बहुत बड़ी मौलिकता-शोध का प्रयास करना व्यर्थ है।

'कविप्रिया' का विषय-वर्णन सोलह प्रभावों में विभक्त है। प्रथम दो प्रभावों में आश्रयदाता के राजवंश तथा कविवंश का वर्णन है। तीसरे प्रभाव में काव्य-दोष वर्णन है। दोषों के विषय में केशव का कहना है कि किंचित दोष से भी कविता का स्वरूप भ्रष्ट हो जाता है। अतः कविता को सर्वथा दोषमुक्त होना अत्यावश्यक है।[8] इसी विचार से उन्होंने सर्वप्रथम दोषों का ही वर्णन किया है। केशव ने अठारह

---

१ रचनाकाल १६५८।

२ रतनाकर ललित सदा पहिरमानन्दलीन।
अमल कमल कमनीयकर, रमा कि रायप्रवीन॥
रायप्रवीनकि सारदा, सुचिरुचि रंजित अंग।
बीना पुस्तक धारिनी, राजहंसयुत संग॥
वृषभवाहिनी अंग उर वासुकि लसतप्रवीन।
शिव संग सोहैं सर्बदा सियाकि रायप्रवीन॥ —'कविप्रिया'।

३ तिनमें करत कवित्त इक, राय प्रवीन प्रवीन॥ ,,

४ कविप्रिया के जानिये ये सोरह शृंगार॥ ,,

५ कविप्रिया है कवि-प्रिया। ,,

६ सविता जू कविता दई, ताकहँ परम प्रकास।
ताके काज कविप्रिया कीन्हीं केशवदास॥ ,,

७ समझैं बाला बालकहु, वर्णन पंथ अगाध। ,,

८ रंजत रंच न दोषयुत, कविता बनिता मित्र। ,,
बूंदक हाला होत ज्यों, गंगा तट अपवित्र॥

दोष माने हैं ।[1] जिनमें कुछ में तो उनका मौलिक चिन्तन परिलक्षित होता है और शेष का आधार दण्डी का 'काव्यादर्श' है । कविता में अलंकारों की अनिवार्यता का निषेध करते हुये पं० कृष्णशंकर शुक्ल ने केशव के 'नग्नदोष' को व्यर्थ सिद्ध किया है ।[2] अधिकांश आलंकारिक विद्वानों ने अलंकार-नित्यता का विरोध किया है, किन्तु केशवदास ने कविता में अलंकारों की ही सर्वाधिक सत्ता-महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा है कि जिस प्रकार अभिजातकुलोत्पन्न' सुन्दरगुण-वर्ण से युक्त तथा सरसस्व-भाव वाली नारी भी नग्नावस्था में आकर्षक नहीं प्रतीत होती, उसी प्रकार सुन्दर भावों तथा छंदों आदि से सम्पन्न होने पर भी अलंकारहीन अर्थात् नग्नकविता शोभा नहीं देती है ।[3] जिस प्रकार रस, रीति-ध्वनिवादी आचार्य अपने-अपने तत्वाभाव में सुन्दर कविता का अस्तित्व नहीं स्वीकार करते, उसी प्रकार अलंकारों को काव्यात्मा मानने वाले अलंकारवादी आचार्य केशवदास भी कविता को बिना अलंकारों के शोभाहीन तथा दोषयुक्त मानते हैं । पीयूषवर्षी जयदेव ने भी ऐसा ही कहा है ।[4]

---

१ अंध बधिर अरु पंगु तजि, नग्न मृतक मतिसुद्ध ।
अंध-विरोधी पंथ को बधिर सु सब्द-बरुद्ध ।।
छंद-विरोधी पंगुमनि, नग्न जु भूषनहीन ।
मृतक कहावै अर्थबिनु, केसव सुनहु प्रवीन ।। 'कविप्रिया' ।

२ अलंकार-रहित कविता को केशव ने 'नग्नदोष' युक्त माना है । संस्कृत के आचार्यों की प्रायः सम्मति है कि अलंकार काव्य की शोभा-वृद्धि में सहायक तो अवश्य होते हैं, परन्तु ये काव्य के अनिवार्य धर्म नहीं हैं । अलंकारों की योजना के बिना भी काव्य हो सकता हैं । यही बात मम्मट ने 'अनलंकृती–पुनःक्वापि' के द्वारा कही है । दंडी ने भी अलंकारों को काव्य का अनिवार्य अंग नहीं माना है । उनकी अलंकारों की साधारण परिभाषा से ही यही ध्वनि निकलती है । वे कहते हैं कि—'काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान् प्रच–क्षते' । ऐसी ही आचार्य वामन की सम्मति है । ऐसी अवस्था में केशव का यह 'नग्नदोष' भी व्यर्थ हो जाता है ।

—केशव की काव्य-कला ।

३ जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुवरन सरस सुवृत्त ।
भूषण बिनु न बिराजई, कविता वनिता मित्त ।। 'कविप्रिया' ।

४ अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृतौ ।
असौ न मन्यते कस्मादगुष्णमनलंकृती ।। 'चन्द्रालोक' ।

अतः इस दृष्टिकोण के केशव का 'नग्नदोष' नितान्त निरर्थक नहीं है, अपितु उसमें भी कुछ सार्थकता है और वह भी परम्परागत।

चौथे प्रभाव में कवि-प्रकारों का वर्णन किया है। पांचवें प्रभाव में भामह, दंडी, उद्भटादि कालीन अलंकार और अलंकार्य में अभिन्नता मानते हुए वर्णन-प्रणाली और वर्ण्य-विषय को अलंकारान्तर्गत लेकर केशव ने परम्परानुसार अलंकारों के दो भेद किये हैं—एक सामान्य तथा दूसरा विशेष[१] सामान्यालंकार के चार भेद हैं वर्ण, वर्ण्य, भूश्री और राज्यश्री।[२] इन्हीं का क्रमशः अगले चार प्रभावों (पांचवें से लेकर आठवें तक) में वर्णन किया है। विशेषालंकार ही इनके वास्तविक अलंकार हैं। इनका वर्णन नवें प्रभाव से लेकर सोलहवें प्रभाव तक है। 'कविप्रिया' के अलंकारों के लक्षण और उदाहरणों का आधार प्रायः दंडी का काव्यादर्श है। केशव ने सब मिलाकर सैंतीस अलंकार माने हैं जिनके नाम और संख्या प्रभावानुसार निम्न-लिखित है:—

नवाँ प्रभाव—स्वभावोक्ति, विभावना, हेतु, विरोध, विशेष तथा उत्प्रेक्षा।

दसवाँ प्रभाव—आक्षेप।

ग्यारहवाँ प्रभाव—क्रम. गणना, आशिष, प्रेम, श्लेष, सूक्ष्म, लेश, निदर्शना, उर्जस्वि, रसवत्, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, अपन्हुति।

बारहवाँ प्रभाव—वक्रोक्ति, अन्योक्ति, व्यधिकरणोक्ति, विशेषोक्ति, सहोक्ति, व्याज-स्तुति, अमित, पर्यायोक्ति, युक्त।

तेरहवाँ प्रभाव—समाहित, सुसिद्ध, प्रसिद्ध, विपरीत, रूपक, दीपक, प्रहेलिका, परिवृत्ति।

चौदहवाँ प्रभाव—उपमा।

पन्द्रहवाँ प्रभाव—यमक।

सोलहवाँ प्रभाव—चित्र।

अब हम प्रत्येक प्रभावों के अलंकारों पर विचार करेंगे।

नवें प्रभाव में स्वभावोक्ति और विभावना अलंकारों की परिभाषाएँ तथा भेद दण्डी के अनुसार हैं। दण्डी ने हेतु के दो भेद किए हैं— कारक तथा ज्ञापक। कारक के दो उपभेद हैं। इन्हीं उपभेदों के आधार पर केशव के हेतु के दोनों भेद

---

१ कविन कहे कवितानि के अलकार हैं रूप।
एक कहे साधारणहि, एक विशिष्ट स्वरूप॥ 'कविप्रिया।'

२ सामान्यालंकार को चारि प्रकार प्रकास।
वर्ण, वर्ण्य, भूराजश्री, भूषण केशवदास॥ 'कविप्रिया।'

सभावहेतु और अभाव हेतु किए गये प्रतीत होते हैं। दण्डी ने विरोध में ही विरोधाभास का अन्तर्भाव दिखलाया है और केशव ने दोनों को अलग-अलग अलंकार माना है, किन्तु केशव दोनों में अन्तर स्पष्ट नहीं कर पाये है। विरोध का प्रथम उदाहरण तो विरोधाभास का सा और द्वितीय उदाहरण विभावना का सा हो गया है। विशेषालंकार की भी परिभाषा विभावनालंकार के एक भेद की सी परिभाषा हो गई है। केशव का उत्पेक्षालंकार दण्डी से भिन्न है, किन्तु उसे उन्होंने विशेष महत्त्व नहीं दिया है।सम्पूर्ण दसवें प्रभाव में आक्षेपालंकार का वर्णन है, जिसका आधार 'काव्यादर्श' है। दण्डी ने इसके चौवीस भेद किये हैं, किन्तु केशव ने केवल बारह ही भेद बतलाये हैं,[१] जिनमे छ: भेद का दण्डी के भेदों से नाम-साम्य है। आक्षेपालंकार निषेध की वक्रता पर होता है, परन्तु केशव ने वास्तविक निषेध में ही अलंकार की प्रतिष्ठा मान ली है। ग्यारहवें प्रभाव में केशव का क्रमालंकार शृंखला या एकावली अलंकार के समान हो गया है। गणनालंकार में कोई अलंकारत्व नहीं दृष्टिगत होता। अत: उसे तो सामान्यालंकार में परिगणित किया जाना चाहिये था। केशव ने आशिष, प्रेम, श्लेष, सूक्ष्म, निदर्शना, उर्जस्वि, रसवत् और व्यतिरेक अलंकारों में दण्डी का अनुकरण किया है। लेश अलंकार की परिभाषा स्पष्ट नहीं है। अर्थान्तिरन्यास के उपभेद तो दण्डी से मिलते हैं, परन्तु इनकी परिभाषाओं में भिन्नता है। दण्डी ने अपन्हुति के दो भेद किये है, लेकिन केशव ने एक ही को लिया है, जिसे छेकापन्हुति कहते हैं। बारहवें प्रभाव में उक्ति–वर्णन है। कथन का ढंग विशेष ही उक्ति है, जो सभी अलंकारों का मूलाधार है; लेकिन केशव ने इसे एक पृथक् अलंकार माना है। यह पांच प्रकार का होता है।[२] वक्रोक्ति, अन्योक्ति, व्याधिकरणोक्ति, सहोक्ति और व्याज-स्तुति नामक अलंकार दण्डी तथा अन्य प्राचीन आचार्यों से मिलते हैं। अमित अलंकार सम्भवत: नया अलंकार है। इसका लक्षण यह है कि जहाँ साधक की सिद्धि का साधन ही स्वयं भोग कर ले उसे अमित अलंकार कहते हैं। इसमें लगभग वही चमत्कार है, जो विषादन[३] अलंकार में होता है। व्याधिकरणोक्ति असंगति अलंकार के समान होता है और पर्यायोक्ति एक प्रकार का प्रहर्षण है। केशव के युक्तालंकार का साम्य उन्हीं के स्वभावोक्ति से है।[४] तेरहवें प्रभाव में सुसिद्ध, प्रसिद्ध और विप-

---

१ प्रेम, अधीरज, धीरजहु, संशय,मरण, प्रकास।
आशिख, धरम, उपाय कहि, शिक्षा केशवदास ।। 'कविप्रिया'

२ वक्र, अन्य, अधिकरण कहि और विशेष समान।
सहित सहोकति मैं कही, उक्ति सुपंच प्रमान ।। 'कविप्रिया'

३ इष्यमाण विरुद्धार्थ संप्राप्तिस्तु विषादनम्। 'कुवलयानन्द'

४ जाको जैसो रूप बल कहिए ताहीरूप।
ताको कविकुल उक्तिकहि बरनत विविध सरूप ।। 'कविप्रिया'
जाको जैसो रूप गुन कहिए ताही साज।
तासों जानि स्वभाव सब कहि बरनत कविराज ।।

रीत अलंकारों का कोई आधार नहीं ज्ञात होता। इनमें शायद केशव का स्वतन्त्र चिन्तन है। शेष अलंकार समाहित, रूपक, दीपक, प्रहेलिका और परिवृत्ति 'काव्यादर्श' के आधार पर हैं। दण्डी और केशव का समाहित साहित्यदर्पणकार से भिन्न है। इनके समाहित को काव्यप्रकाशकार और साहित्यदर्पणकार समाधि अलंकार मानते हैं। चौदहवें प्रभाव में केवल उपमालंकार वर्णन है। केशव ने बाइस और दण्डी ने बत्तिस उपमाएँ मानी हैं। केशव की बाइस उपमाओं में से पन्द्रह तो दण्डी के नामों और लक्षणों से मिलती हैं। पाँच में नामान्तर मात्र है और शेष दो संकीर्णोपमा तथा विपरीतोपमा दण्डी से भिन्न हैं, किन्तु उपमा के लिए अपेक्षित साम्याभाव में इन्हें उपमा कहना ही व्यर्थ है। पन्द्रहवें प्रभाव में यमक का वर्णन किया गया है। दण्डी ने इसका बहुत विस्तारपूर्वक विवेचन किया है और केशव ने भी इस विस्तार को लाने का प्रयत्न किया है, किन्तु दण्डीकृत समस्त भेदों को नहीं ला सके हैं। सोलहवें प्रभाव में चित्रालंकार का वर्णन है। यह अलंकार एक गहरा समुद्र है, जिसमें बड़े-बड़े मेधावी व्यक्ति भी बूड़ने लगते हैं।[१] अतः केशव ने इनमें से कुछ का ही वर्णन करके अपना काम चला लिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के आद्यालंकारिक आचार्य केशवदास ने अपनी 'कविप्रिया' में नवें प्रभाव से लेकर सोलहवें प्रभाव तक अलंकारों का विशद वर्णन किया है। यद्यपि उनके अलंकार-प्रकरण का आधार दण्डी का 'काव्यादर्श' है, फिर भी उन्होंने कतिपय नवीन अलंकारों की उद्भावना की है जो उनकी स्वतन्त्र सूझ-बूझ का परिचायक है। यदि केशवदास सुकुमार बुद्धि-बालक-बालिकाओं तथा प्रवीणराय को अलंकार-ज्ञान कराने का उद्देश्य लेकर यह पुस्तक न लिखते तो शायद वह किसी सुदृढ़ आधार पर अलंकारों का वैज्ञानिक विवेचन हिन्दी-साहित्य को दे जाते; क्योंकि इस प्रकार के सम्यक् विषय-निर्वाह की उनमें प्रतिभा और पांडित्य था, किन्तु उसका समुचित उपयोग न हो सका।

'कविप्रिया' की रचना के पचास वर्ष उपरांत हिन्दी रीति-ग्रन्थों की अखण्ड परम्परा चिंतामणि त्रिपाठी से आरम्भ होती है। इसीलिए इन्हीं से रीतिकाल का प्रारम्भ माना जाता है।[२] इन्होंने अपने 'कविकुलकल्पतरु'[३] नामक अलंकार-ग्रन्थ में अलंकारों के अतिरिक्त गुण, रस, शब्दशक्ति आदि विषयों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। सर्वप्रथम गद्य-पद्य का अन्तर बतलाते हुए काव्य के स्वरूप का वर्णन किया

---

१ केशवचित्र-समुद्र में, बूड़त परम विचित्र।
ताके बुन्दक के कणौ, बरनत हौं सुनि मित्र॥ 'कविप्रिया'

२ हिन्दी-साहित्य का इतिहास —पं० रामचन्द्र शुक्ल।

३ रचनाकाल संवत् १६०७।

है।[1] इनकी काव्य-परिभाषा में मम्मट की परिभाषा का प्रभाव परिलक्षित होता है। ग्रन्थ के दूसरे और तीसरे अध्याय में अलंकारों का वर्णन है। काव्य में अलंकारों की स्थिति के विषय में लिखा है :—

> अलंकार ज्यों पुरुष को हारादिक मन आनि।
> प्रासोपन आदिक कवित अलंकार ज्यों जानि ।।

चिंतामणि ने दो प्रकार के अलंकार माने हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार।[2] दूसरे अध्याय में शब्दालंकारों का और तीसरे अध्याय में अर्थालंकारों का वर्णन है। दोनों प्रकार के लक्षण और उदाहरण स्पष्ट हैं। इसमें उदाहरण तो बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं।

अधिकांश परिभाषाओं और उदाहरणों में 'काव्यप्रकाश' को आधार बनाया गया है। कहीं-कहीं 'साहि-दर्पण' का भी सहारा लिया गया है।[3]

महाराज जसवन्तसिंह का 'भाषाभूषण'[4] सर्वाधिक पठित ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ काव्य-रीति के अभ्यासियों के लिये वैसा ही प्रिय हुआ, जैसा कि संस्कृत विद्यार्थियों के लिये जयदेवकृत 'चन्द्रालोक'। 'भाषाभूषण' में रस, नायिका-भेद, अलंकार आदि का पांच प्रकाशों में वर्णन किया गया है। वर्णन में अलंकारों की प्रधानता है। इस ग्रन्थ की लोकप्रियता इसी से प्रतीत होती है कि इस पर बाद में अनेक टीकाएँ लिखी गईं।[5] लेखक ने संस्कृत न जानने वाले व्यक्तियों के लिए विभिन्न संस्कृत ग्रंथों के आधार पर शब्द और अर्थ के एक सौ आठ अलंकारों का वर्णन

---

१ छन्द निबद्ध सुपद्य कहि गद्य होत बिन छंद।
भाषा छंद निबद्ध सुनि सुकवि होत सानन्द ।।
सगुनालंकारन सहित दोषरहित जो होइ।
शब्द अर्थ ताको कवित कहत बिबुध सब कोइ ।। 'कविकुलकल्पतरु'

२ शब्द अर्थ गति भेद सों अलंकार द्वै भांति। 'कविकुलकल्पतरु'

३ हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास—डा० भागीरथ मिश्र।

४ रचनाकाल अठारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ।

५ 'भाषाभूषण' पर तीन टीकाएँ रची गईं—'अलंकार' रत्नाकर 'नामक टीका जिसे बंशीधर ने संवत् १७६२ में बनायी, दूसरी टीका प्रतापसिंह की और तीसरी गुलाब कवि की 'भूषण-चन्द्रिका'।
—हिन्दी-साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल।

इन टीकाओं के अतिरिक्त और भी टीकाएँ लिखी गई हैं, उनमें कुछ अप्राप्य हैं और कुछ अप्रसिद्ध हैं।

इस पुस्तक में किया है।[1] शब्दालंकारों का संक्षिप्त और अर्थालंकारों का विशद वर्णन किया गया है। इसकी वर्णन-शैली पर 'चन्द्रालोक' का प्रभाव है। जिस प्रकार जयदेव ने 'चन्द्रालोक' में प्राय: एक ही श्लोक के भीतर परिभाषा और उदाहरण का समावेश किया है, उसी प्रकार 'भाषाभूषण' में भी जसवन्तसिंह ने प्राय: एक ही दोहे के भीतर लक्षण और उदाहरण रक्खे हैं; लेकिन अलंकार-विवेचन में 'चन्द्रालोक' की अपेक्षा अप्पयदीक्षित के 'कुवलयानन्द' को अधिक मान्यता मिली है। शब्दालंकार-वर्णन में 'काव्यप्रकाश' और साहित्यदर्पण' का प्रभाव है। इस प्रकार संस्कृत के विविध ग्रन्थों पर यह ग्रन्थ आधारित है। यद्यपि लक्षण बहुत ही सूत्रवत् संक्षेप में हैं; किन्तु सर्वत्र सर्वथा शुद्ध और स्पष्ट उदाहरण अत्युपयुक्त हैं, जो लेखक की तत्व-ग्राहिणी बुद्धि के द्योतक हैं। इसी संक्षिप्तता और सरसता के कारण यह ग्रन्थ सर्वप्रिय हो सका। 'भाषाभूषण' के पश्चात् अलंकार और नायिका-भेद सम्बन्धी क्षेमराज का 'फतेह-प्रकाश' ग्रन्थ है। इसमें विषय में शास्त्रीय विवेचन का अभाव है। अत: इसका कोई विशेष महत्व नहीं है।

इसके उपरांत इस प्रकार के लेखक मिलते हैं, जो कविता और आचार्यत्व दोनों करते हैं। स्वतन्त्र रूप से काव्यशास्त्र का विवेचन करने वाला कोई आचार्य नहीं दृष्टिगत होता। "संस्कृत-साहित्य में कवि और आचार्य दो भिन्न-भिन्न श्रेणियों के व्यक्ति रहे। हिंदी-काव्य-क्षेत्र में यह भेद लुप्त सा हो गया। इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्यालोचन-शक्ति की अपेक्षा होती है, उसका विकास नहीं हुआ। कवि लोग दोहों में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कविकर्म में प्रवृत्त हो जाते थे। काव्यांगों का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खण्डन-मण्डन, नये-नये सिद्धांतों का प्रतिपादन आदि कुछ भी न हुआ।"[2] परिणामस्वरूप कोई भी व्यक्ति ऐसा न हो सका, जिसे संस्कृत-साहित्याचार्यों की परम्परा में प्रतिष्ठित किया जा सके। हाँ, एक विशेषता इस युग के लक्षण-ग्रन्थों में अवश्य मिलती है, वह यह कि लक्षण चाहे कितने ही शिथिल हों, किन्तु उदाहरण अवश्यमेव सरस, सुन्दर और आकर्षक हैं। इसका कारण यह है कि ये लोग कवि अधिक थे और आचार्य कम। इस प्रकार के आचार्यों में मतिराम, भूषणादि हैं।

---

१ ताही नर के हेतु यह कीन्हों ग्रन्थ नवीन।
जे पंडित भाषा-निपुन, कविता विषै प्रवीन ।।
अलंकार शब्दार्थ के कहे एक सौ आठ।
किये प्रकट भाषा-विषै देखि संस्कृतपाठ ।।
—'भाषाभूषण'।

२ हिन्दी-साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल।

मतिराम का 'ललितललाम'[१] अलंकार-ग्रन्थ है। इसमें लक्षण दोहों में और उदाहरण कवित्त तथा सवैयों में दिये गये हैं। लक्षण तो सभी स्पष्ट नहीं हैं, किन्तु उदाहरण अवश्य बहुत सुन्दर है। उदाहरणों की सुन्दरता के कारण मतिराम के 'रसराज' और 'ललितललाम' दोनों ही ग्रन्थों का पर्याप्त प्रचार हुआ। "वास्तव में अपने विषय के ये अनुपम ग्रन्थ हैं। उदाहरणों की रमणीयता से अनायास रसों और अलंकारों का अभ्यास होता चलता है। 'रसराज' का तो कहना ही क्या है। 'ललितललाम' में भी अलंकारों के उदाहरण बहुत सरल और स्पष्ट हैं। इसी सरसता और स्पष्टता के कारण ये दोनों ग्रन्थ अति सर्वप्रिय रहे हैं। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में पद्माकर को छोड़कर और किसी कवि में मतिराम की सी चलती भाषा और सरस व्यंजना नहीं मिलती।"[२] सम्पूर्ण ग्रन्थ में सौ अलंकारों का वर्णन किया गया है। शब्दालंकारों के अतिरिक्त चार रसवत् आदि, तीन भावोदय आदि और आठ प्रमाणालंकारों का वर्णन नहीं किया गया है। इसका कारण कोई सैद्धांतिक मतभेद नहीं प्रतीत होता। संयोगवश छूट गये हैं। अलंकारों के भेद-प्रभेद 'कुवलयानन्द' के आधार पर हैं। अलंकारों के लक्षणों में 'कुवलयानन्द' और 'चन्द्रालोक' के अतिरिक्त यत्र-तत्र 'काव्यप्रकाश' तथा साहित्यदर्पण' की भी शब्दावली प्रयुक्त हुई है। 'ललितललाम' के अतिरिक्त मतिराम का 'अलंकार पंचाशिका'[३] नामक एक और अलंकार-ग्रन्थ है जिसकी रचना लेखक ने कुमायूँ के राजा उदोतचन्द्र के पुत्र ज्ञानचन्द्र के लिये की थी।[४] इसके लक्षण दोहों में और उदाहरण कवित्तों में हैं। यह इनका कोई महत्वपूर्ण ग्रन्थ नहीं है। दोनों ग्रन्थों में उदाहरण कवि के मौलिक हैं।

मतिराम के समकालीन आगरा-निवासी कुलपति मिश्र ने मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' के आधार पर 'रसरहस्य'[५] नामक ग्रंथ की रचना की है। ये साहित्यशास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। अतः इनका लक्षण-निरूपण अन्यों की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ है।' 'रस रहस्य' में विविध विषयों का विवेचन किया गया है और अन्त में

---

१ रचनाकाल संवत् १७१६।

२ हिन्दी-साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल।

३ रचनाकाल संवत् १७४७।

४ ज्ञानचन्द के गुन घने गने भने गुनवंत।
वारिधि के मुक्तान को कौने पायो अन्त।
तदपि यथामति सों कर्यो शब्द अर्थ अभिराम।
अलंकारपंचाशिका रची रुचिर मतिराम॥
संसकिरित के अर्थ लै भाषा शुद्ध विचारि।
उदाहरण क्रम से किये लीजो सुकवि सुधार॥ —'अलं० पंचा०'।

५ रचनाकाल संवत् १७३७।

सातवें तथा आठवें वृत्तान्त में अलंकारों का वर्णन है। ये रस-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। अत: काव्य में रस का ही वैशिष्ट्य प्रतिपादित करते हुए अलंकार के स्वरूप का वर्णन किया है।[१] शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों की संख्या और विवेचन 'काव्यप्रकाश' के अनुसार हैं। प्रधान और बड़े अलंकारों के विवेचन में 'साहित्य-दर्पण' से भी सहायता ली गई है। 'रसरहस्य' में आलंकारिक परिभाषाओं की स्पष्टता के साथ-साथ कवित्त और सवैयों में दिये गये उदाहरण भी उपयुक्त और मौलिक हैं।

'रसरहस्य' के अनन्तर चिंतामणि और मतिराम के भाई वीररस के सुप्रसिद्ध कवि भूषण द्वारा लिखित 'शिवराजभूषण'[२] नामक अलंकार-ग्रन्थ प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त इनके दो और ग्रंथों—'भूषणउल्लास' और 'दूषण उल्लास'—का भी उल्लेख मिलता है; किन्तु ये अप्राप्य हैं। सम्भवत: ये भी अलंकार-ग्रन्थ हैं। 'ललित-ललाम' की भाँति भूषण ने 'शिवराजभूषण' में लगभग उसी क्रम में सौ अर्थालंकारों का वर्णन किया है। इन्होंने पाँच प्रसिद्ध शब्दालंकारों का भी वर्णन किया है। इनके लक्षण दोहों में और उदाहरण शिवा जी की प्रशंसा में वीररस-परिपूर्ण कवित्त और सवैयों में दिये गये हैं। लक्षण अस्पष्ट हैं। उदाहरणों को ही सुन्दर बनाने का प्रयास किया गया है, किन्तु परिणाम, लुप्तोपमा, भ्रम, निदर्शना, सम, परिकर, विभावना, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास एवं निरुक्ति में उदाहरण भी अनुपयुक्त हो गये हैं। लक्षणों की शिथिलता संकर, विरोध, लाटानुप्रास, छेकानुप्रास आदि में प्राप्त होती है। 'ललितललाम' के लक्षणों में 'शिवराज भूषण' की अपेक्षा अधिक स्पष्टता है।[३] "भूषण ने दो नये अलंकारों के निकालने का भी प्रयत्न किया है; पर उसमें सफलता नहीं मिली है। उन्होंने एक 'सामान्य विशेष' नामक अलंकार माना है, जिसमें विशेष का कथन करके सामान्यलक्षित कराया जाता है। यह अलंकार प्राचीन आलंकारिकों के अप्रस्तुत प्रशंसालंकार की विशेष निबन्धना से भिन्न नहीं है। इसके उदाहरण भी वैसे स्पष्ट नहीं हैं, जैसे होने चाहिये। एक दूसरा अलंकार है, 'भाविक-छवि'। इसका लक्षण है दूरस्थित वस्तु को संमुख देखना। भाविक अलंकार में समय की दूरी है और भाविक छवि में स्थान की दूरी। वस्तुत: यह भाविक छवि भाविक का ही एक अंग है, उससे भिन्न नहीं।" वास्तव में 'भाविकछवि' अलंकार का नाम-करण भी भूषण का नहीं है। नाम और लक्षण में भूषण ने जयदेव का अनुकरण किया है।[४] 'शिवराज भूषण' मतिराम के 'ललितललाम' के आधार पर लिखा गया

---

१ रसहि बढ़ावै होय जहँ, कबहुक अंग निवास।
अनुप्रास उपमादि हैं, अलंकार सुप्रकाश॥ —'रसरहस्य'

२ रचनाकाल संवत् १७३०।

३ भूषण-ग्रन्थावली का अन्तर्दर्शन—सम्पादक पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

४ देशात्मविप्रकृष्टस्य दर्शनं भाविकच्छविः॥ —'चन्द्रालोक'।

प्रतीत होता है; क्योंकि दोनों ग्रंथों के लक्षणों में बहुत साम्य है ।[1] यहाँ तक कि दोनों के कतिपय अलंकारों की परिभाषाओं में केवल कवि के नाम का अन्तर है और शेष शब्दावली एक ही है ।[2] इस प्रकार अलंकार-निरूपण की दृष्टि से 'शिवराजभूषण' कोई उत्तम ग्रंथ नहीं है । इसके रचनाकाल के आसपास गोपालराय का 'भूषणविलास' और बलवीर के 'उपमालंकार' नामक अलंकार-ग्रंथों की रचना हुई, लेकिन इनमें विषय का विवेचन बहुत साधारण हुआ । अतः साहित्यिक दृष्टि से इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं रहा ।

---

१ 'ललितललाम' और 'शिवराजभूषण' दोनों ही अलंकार-ग्रंथ हैं । दोनों ही में अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिये हुये हैं । दोनों कवियों के लक्षणों का ध्यानपूर्वक मिलान करने से हमें उभय कवियों के लक्षणों में अद्भुत सादृश्य दिखलाई पड़ता है । यह सादृश्य इतना अधिक बढ़ा हुआ है कि लक्षण दोहा के अन्तिम तुक भी मिल जाते है । किसी में तो कवि का नाम भर का भेद रह जाता है ।
—मतिराम-ग्रंथावली की भूमिका – संपादक पं० कृष्णविहारी मिश्र ।

२ अ— जहाँ एक उपमेय कौं होत बहुत उपमान ।
तहाँ कहत मालोपमा कवि मतिराम सुजान ।। –'ललितललाम' ।
जहाँ एक उपमेय के होत बहुत उपमान ।
ताहि कहत मालोपमा भूषण सुकवि सुजान ।। –'शिवराजभूषण' ।

ब— जहाँ और की संक तैं सांच छपावत बात ।
छेकापन्हुति कहत हैं तहाँ बुद्धि अवदात ।। –'ललितललाम' ।
जहाँ और को संककरि साँच छपावत बात ।
छेकापन्हुति कहत हैं भूषन कवि अवदात ।। –'शिवराजभूषण' ।

स— जहाँ आपनो रंग तजि, लेत और को रंग ।
तद्गुन तहं बरनन करत जे कवि बुद्धि उतंग ।।–'ललितललाम' ।
जहाँ आपने रंग तजि, गहै और को रंग ।
ताको तद्गुन कहत हैं भूषन बुद्धि उतंग ।। –'शिवराजभूषण' ।

द— जौ यौं होय तु होय यौं, जहं संभावन होय ।
संभावन तासौं कहत विमल ज्ञानमति धोय ।। –'ललितललाम' ।
जु यौं होय तो होय इमि जहं संभावन होय ।
ताहि कहत संभावना कवि भूषन सब कोय ।। –'शिवराजभूषण' ।

य— सदृश वाक्य जुग अर्थ को जहाँ एक आरोप ।
बरनत तहाँ निदर्शना कविजनमति अतिचोप ।। –'ललितललाम ।
सदृश वाक्य जुग अर्थ को करिये एक अरोप ।
भूषन ताहि निदर्शना, कहत बुद्धि दै ओप ।। –'शिवराजभूषण' ।

भूषण के 'शिवराजभूषण' के पश्चात् रससिद्धांतानुयायी महाकवि देव ने काव्यशास्त्र के 'भावविलास'[१] और 'काव्यरसायन'[२] नामक दो ग्रन्थों में अन्यविषयों के अतिरिक्त अलंकारों का भी वर्णन किया है। 'भावविलास' के पांचविलासों में रस, नायक-नायिकाभेद तथा अलंकारों का वर्णन है।[३] यह लेखक की अपरिपक्वावस्था की रचना है।[४] इसके अलंकार-विवेचन में शब्दालंकारों को छोड़ दिया गया है और जिन अलंकारों को मुख्य समझा है, उन्हीं ३९ अलंकारों का कवि ने वर्णन किया है तथा शेष को इनका भेद मात्र कहा है[५]। वास्तव में तथ्य ऐसा नहीं है; क्योंकि देव ने महत्त्वहीन रसवत्, ऊर्जस्वल, प्रेयस और आशिष जैसे अलंकारों का तो सन्निवेश किया है, परन्तु कारणमाला, परिसंख्या, दृष्टान्त आदि मुख्य अलंकारों को छोड़ दिया है, जो लेखक के अध्ययन-अपूर्णता का द्योतक है। इतना ही नहीं लक्षण तथा उदाहरण भी अशुद्ध एवं अनुपयुक्त हैं। यह ग्रन्थ महाकवि के व्यक्तित्व के अनुरूप नहीं है। इसी के चौदहवर्ष बाद देव ने अपनी प्रौढ़ावस्था में 'काव्य रसायन' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें शब्दशक्ति, रीति, गुण, रस और अलंकारों का विवेचन है। 'भावविलास' में देव ने शब्दालंकारों को छोड़ दिया था, किन्तु इस ग्रन्थ में यमक अनेक भेदों सहित, चित्र तथा अन्तर्लापिका का भी वर्णन किया है। अर्थालंकारों के दो वर्ग हैं—मुख्यालंकार तथा गौणालंकार; जिनकी संख्या क्रमशः चालीस और तीस है तथा उभय मिश्रण से अलंकारों के अनन्त भेद हो सकते हैं।[६] देव का 'संसयालंकार' अन्य आचार्यों द्वारा निरूपित संदेहालंकार से भिन्न है। देव के अनुसार संसयालंकार वहाँ होता है, जहाँ उपमामात्र देने में संसय हो। सिद्धान्त-निरूपण की दृष्टि से देव का यह ग्रन्थ भी अव्यवस्थित और अस्पष्ट है। भावविलास से अवश्य यह अधिक प्रौढ़ है।

---

१ रचनाकाल संवत् १७४६।

२ रचनाकाल संवत् १७६०।

३ सब नायिकादि नायक-सहित, अलंकार वर्णन रच्यौ। —'भावविलास'।

४ सुभ सत्रह सै छयालीस, चढ़त सोरहीं वर्ष।
कढ़ी देवमुख देवता, भावविलास सहर्ष॥ —'भावविलास'।

५ अलंकार मुख्य उनतालीस हैं देव कहें,
येई पुराननि मुनिमतनि मैं पाइए।
आधुनिक कविन के संगत अनेक और,
इन्हीं के भेद और विविध बताइए॥ —'भावविलास'।

६ अलंकार ये मुख्य हैं इनके भेद अनंत।
आन ग्रन्थ के पंथ लखि जानिलेहु मतिमंत॥ भावविलास।

आगरावासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण सूरतिमिश्र का 'भाषाभूषण' की शैली में लिखा हुआ[1] अलंकारमाला नामक ग्रन्थ हैं। इसमें भाषा-भूषण की सी लक्षणों और उदाहरणों में सफाई नहीं है। इनका एक दूसरा ग्रन्थ 'काव्यसिद्धान्त' है, जिसमें काव्यशास्त्र के विविध विषयों का विवेचन किया गया है। इसके अलंकारों के वर्णन में लक्षण को भी अधिक स्पष्ट और पूर्ण बनाने का प्रयत्न है, केवल उदाहरण भरने का ही नहीं। इससे सूरति का उद्देश्य काव्यशास्त्र का विवेचन कवि के रूप में नहीं वरन् आचार्य के रूप में करने का जान पड़ता है।[2]

प्रयाग निवासी ओझा ब्राह्मण कवि श्रीधर मुरलीधर[3] के आश्रयदाता नवाब मुसल्लेहखान थे।[4] इन्हीं के आश्रय में कवि श्रीधर ने भाषाभूषण[5] नामक अलंकार-ग्रन्थ की रचना की। "इसका आधार संस्कृत के 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द' ग्रंथ हैं। दोहे के पूर्वार्द्ध में अलंकार का लक्षण है। वर्णन साधारण है। उदाहरणों में भी कोई विशेषता नहीं है।"[6]

ओरछानरेश महाराज पृथ्वीसिंह के आश्रय में रहने वाले कवि गोप का रचना-काल मिश्रबन्धुओं के अनुसार संवत् १७७३ है तथा इनका ग्रन्थ 'रामालंकार' है; किन्तु डा० भगीरथ मिश्र ने दतिया—राजपुस्तकालय में इनका बनाया ग्रन्थ 'रामचन्द्र भूषण' और टीकमगढ़ के सवाई महेन्द्र पुस्तकालय (ओरछा) में 'रामचन्द्र-भूषण' और 'रामचन्द्राभरण' नामक दो ग्रन्थ देखे हैं। 'रामचन्द्रभूषण' प्राचीन शैली पर दोहों में लिखा हुआ अलंकार-ग्रन्थ है। इसमें अर्थालंकार और शब्दालंकार दोनों का वर्णन है। छंद के पूर्वार्द्ध में लक्षण और उत्तरार्द्ध में उदाहरण दिये गये हैं। रामचन्द्राभरण, रामचन्द्रभूषण के आधार पर लिखा गया है। दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

मिश्रबन्धुओं ने अपने 'मिश्रबन्धु-विनोद' में याकूब खाँ द्वारा लिखित रसभूषण[7] का उल्लेख किया है। ग्रन्थकार की दृष्टि में बिना अलंकारों के नायिका शोभा

---

१ रचनाकाल संवत् १७६६।
२ हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र।
३ श्रीधर ओझा विप्रवर, मुरलीधर जसनाम।
तीरथराज प्रयाग में, सुबस बस्यो रविधाम ॥ भाषाभूषण
४ नवल नवाब मुशल्लेहखान बहादुर सिन्धु सता सुदली है।
जाकी सभा कविराजै कलाधर, मंगलमयसुख साजी थली है ॥ वही ॥
५ रचनाकाल संवत् १७६७।
६ हिन्दी-अलंकार-साहित्य।
—डा० ओमप्रकाश।
७ रचनाकाल संवत् १७७५।

नहीं देती। अतः लेखक ने अपने ग्रंथ में अलंकार और नायिका-भेद का साथ-साथ वर्णन किया है।[1] लक्षणों को स्पष्ट करने के लिए यत्र-तत्र गद्य का भी प्रयोग हुआ है। लक्षण-विवेचन में तो कोई विद्वता नहीं प्रकट होती, किन्तु वर्णन-शैली अवश्य नवीन है और साथ ही उदाहरणों से कवि की अच्छी कवित्व-शक्ति का भी परिचय प्राप्त होता है।

तैलंग ब्राह्मण कुमार मणि भट्ट ने 'काव्यप्रकाश' के आधार पर 'रसिकरसाल'[2] नामक काव्यशास्त्र-ग्रन्थ का प्रणयन किया। इसमें रस, नायिका-भेद, अलंकार आदि विषयों का अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। आप संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। अत: विषय-विवेचन सर्वत्र शुद्ध और स्पष्ट है। विवेचन को और अधिक स्पष्ट करने के लिए गद्य में व्याख्या की गई है। अलंकार-प्रकरण का आधार आद्यन्त 'काव्य-प्रकाश' है। इस प्रकार 'रसिकरसाल' काव्यशास्त्र का एक उत्तम ग्रन्थ है।

कालपी-निवासी[3] आचार्य श्रीपति का तेरह दलों में 'काव्यसरोज'[4] नामक काव्यशास्त्र का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। काव्य में अलंकार-प्रयोग के विषय में आपका कहना है—

जदपि दोष बिनु गुनसहित सब तन परम अनूप।
तदपि न भूषन बिनु लसै बनिता कविता रूप॥

इसके पश्चात् दसवें, ग्यारहवें और बारहवें दलों में अलंकारों का वर्णन है। शब्दालंकारों में तत्पर और अतत्परविधान-चित्र नामक दो नवीन अलंकारों की उद्-भावना की है, किन्तु इनका लक्षण स्पष्ट नहीं है। अलंकार-वर्गीकरण में लेखक का आचार्यत्व परिलक्षित होता है, किन्तु अलंकारों का वर्णन बिल्कुल स्पष्ट नहीं हुआ है।

आगरा-निवासी रसिक सुमति ने 'अलंकार-चन्द्रोदय'[5] नामक एक अलंकार-ग्रन्थ कुवलयानन्द के आधार पर एक सौ सत्तासी दोहों में बनाया, जिसके एक सौ अस्सी दोहों में अर्थालंकार और शेष सात में शब्दालंकार-वर्णन है। अन्य लोगों से

---

१ अलंकार संयुक्त कहौं नायिका-भेद पुनि।
वरनौं क्रम निजु उक्ति लक्षन और उदाहरनि॥ रसभूषण।

२ रचनाकाल संवत् १७७६।

३ रचनाकाल संवत् १७७७।

४ सुकवि कालपी नगर को, द्विज मनि श्रीपति राइ।
जस समस्वाद जहान को, वरनत सुष समुदाइ॥
—काव्यसरोज।

५ रचनाकाल संवत् १७८६।

भिन्न अलंकार की परिभाषा करते हुए रसिकसुमति कहते हैं कि काव्य में वैचित्र्य का नाम अलंकार है, वह शब्द और अर्थ दो प्रकार का होता है तथा प्रत्येक प्रकार में इसके विविध भेद हैं।[1] इस ग्रन्थ में अलंकार-विवेचन सुन्दर हुआ है। इसी ग्रन्थ के रचनाकाल के आस-पास भूपति ने 'कंठाभरण' तथा दलपति और वंशीधर ने 'अलंकाररत्नाकर' नामक ग्रन्थों की रचना की। कंठाभरण साधारण महत्व का ग्रन्थ है। दलपतिराय और वंशीधर अहमदाबाद के रहने वाले थे। इन लोगों ने "उदयपुर के महाराणा जगतसिंह के नाम पर 'अलंकाररत्नाकर'[2] नामक ग्रन्थ बनाया। इसका आधार महाराज जसवंतसिंह का 'भाषाभूषण' है। इसका 'भाषाभूषण' के साथ प्रायः वही सम्बन्ध है जो कुवलयानन्द का 'चन्द्रालोक' के साथ। इस ग्रन्थ में विशेषता यह है कि इसमें अलंकारों का स्वरूप समझाने का प्रयत्न किया गया है। इस कार्य के लिए गद्य व्यवहृत हुआ है। रीतिकाल के भीतर व्याख्या के लिए कभी-कभी गद्य का उपयोग कुछ ग्रन्थकारों के सम्यक् निरूपण की उत्कंठा सूचित करता है। इस उत्कंठा के साथ ही गद्य की उन्नति की आकांक्षा का सूत्रपात समझना चाहिए जो सैकड़ों वर्ष बाद पूरी हुई। 'अलंकार रत्नाकर' में उदाहरणों पर अलंकार घटाकर बताये गये हैं। और उदाहरण दूसरे अच्छे कवियों के भी बहुत से हैं। इससे यह अध्ययन के लिये बहुत उपयोगी है। दंडी आदि कई संस्कृत आचार्यों के उदाहरण भी लिखे गये हैं। हिन्दी-कवियों की लम्बी नामावली ऐतिहासिक खोज में बहुत उपयोगी है।"[3]

आचार्य सोमनाथ भरतपुर महाराज वदनसिंह के कनिष्ठपुत्र प्रतापसिंह के आश्रय में रहते थे। इन्होंने 'रसपीयूषनिधि'[4] नामक एक सुप्रसिद्ध विशाल ग्रन्थ की रचना की। ग्रन्थ की अन्तिम तरंग में शब्दालंकार, अर्थालंकार और चित्रालंकार का विशद विवेचन है। गुण और अलंकार के भेद बतलाते हुए सोमनाथ ने कहा है—

दोऊ रस दायक प्रकट गुन औ भूषन जाति।
भेद दुहुंन में होय ज्यों कहिए सोहित ठानि॥

स्पष्ट करने के लिए गद्य में भी इसकी व्याख्या की है कि "याको उत्तर—गुण सदा एक रस है और अलंकार कहूँ रस को पोषत है, कहूँ उदास, कहूँ दूषक होय है। यह भेद।" इसके पश्चात् अलंकार-स्वरूप का वर्णन किया है—

अलंकार जो होत सो उक्ति भेद सों होत॥

---

१ सबद अरथ की चित्रिता विविध भाँति की होइ।
अलंकार तासों कहत रसिक विबुध कवि कोइ॥
अलंकार चन्द्रोदय।

२ रचनाकाल संवत् १७६२।

३ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल।

४ रचनाकाल संवत् १७६४

अलंकार-विवेचन में अर्थालंकार-प्रकरण के लिये 'कुवलयानन्द' को आधार बनाया गया है तथा शेष के लिये 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्य-दर्पण' को। आचार्य सोमनाथ शैली के निर्वाह में सफल रहे हैं। इनकी शैली शुद्ध, सुबोध, व्यवस्थित एवं आकर्षक है। विषय-सामग्री का प्रतिपादन भी उपयुक्त है। यह काव्यशास्त्र का उच्चकोटि का ग्रन्थ है।

काशीनरेश महाराज बरिवंडसिंह की सभा को सुशोभित करने वाले बंदीजन रघुनाथ एक प्रसिद्ध कवि हुए हैं। इनका 'रसिकमोहन'[१] नामक एक अलंकार-ग्रन्थ है। "इसमें अलंकारों के उदाहरण में जो पद्य आए हैं उनके प्रायः सब चरण प्रस्तुत अलंकार के सुन्दर और स्पष्ट उदाहरण होते हैं। इस प्रकार इनके कवित्त या सवैये का सारा कलेवर अलंकार को उदाहृत करने में प्रयुक्त हो जाता है। भूषण आदि बहुत से कवियों ने अलंकारों के उदाहरण में जो पद्य रखे हैं, उनका अंतिम या और कोई चरण ही वास्तव में उदाहरण होता है।"[२] लक्षण दोहों में तथा उदाहरण कवित्त और सवैयों में दिये गये हैं।

'भाषाभूषण' की शैली पर लिखा हुआ गोविन्दकृत 'कर्णाभरण'[३] अलंकार का ग्रंथ है। इसमें भेदसहित एक सौ अस्सी अलंकारों का वर्णन है। प्रायः प्रत्येक दोहे में अलंकार का लक्षण और उदाहरण दिया गया है। अलंकार-निरूपण बड़ी सुबोध शैली में है। अतः 'भाषाभूषण' के समान इसमें टीका की आवश्यकता नहीं। ग्रन्थ में कोई मौलिकता तो नहीं है, किन्तु अलंकारों को समझने के लिए बहुत अच्छा ग्रन्थ है। दूलह कवि का 'कविकुलकंठाभरण'[४] बहुत ही सुन्दर और सुप्रसिद्ध अलंकारों का ग्रन्थ है। इसमें 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के आधार पर एक सौ पंद्रह अलंकारों[५] का वर्णन किया गया है। इसकी परिभाषाएँ बहुत ही स्पष्ट एवं

---

१ रचनाकाल संवत् १७९४।

२ हिन्दी-साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल।

३ रचनाकाल संवत् १७९४।

४ रचनाकाल संवत् १८००।

५ अरथालंकृत शत प्राचीन कहे तो कहे,
आधुनिक सत्तरि-बहत्तरि प्रमाने हैं।
कहैं कवि दूलह सुपंचदस औरो सुनौ,
औरौ और ग्रन्थन सो जो वै ठीक ठाने हैं।
चारि रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्व, समाहित हैं,
तीन भाव उदै, संधि, सबलता साने हैं।
परत्यच्छ प्रमुख प्रमान आठौ अलंकार,
कुवलयानन्द में बखान जग जाने हैं।। —कविकुलकंठाभरण।

संक्षिप्त तथा उदाहरण उपयुक्त और सुन्दर हैं जो दूलह कवि के कवित्व एवं आचार्यत्व के परिचायक हैं। इस ग्रंथ का पर्याप्त प्रचार हुआ और यथार्थ में कवि-कुल-कंठाभरण हो गया।

हिन्दी-रीतिकालीन आचार्यों में भिखारीदास अग्रगण्य हैं। इनका 'काव्य-निर्णय'[1] हिन्दी-काव्यशास्त्र का सुप्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमें पच्चीस उल्लास और बारह सौ दस पद्य हैं। काव्यशास्त्र के लगभग सभी विषयों का इसमें विवेचन है। अलंकार-प्रसंग ग्रंथ में तीन बार आया है। पहली बार तीसरे उल्लास में, दूसरी बार आठवें से अठारहवें उल्लास तक और तीसरी बार बीसवें से इक्कीसवें उल्लास तक। इनके अलंकार-निरूपण का आधार प्रायः 'कुवलयानन्द' है, लेकिन अलंकारों को एक नवीन वर्गीकरण में प्रस्तुत करने का श्रेय इन्हीं को है। यह इनकी मौलिक देन है। हिन्दी-रीतिकालीन आचार्यों में केवल भिखारीदास ने ही इस प्रकार का प्रयत्न किया है। इनके अलंकार-अनुशीलन की एक और विशेषता है चित्रालंकार-निरूपण। इस प्रकार दास का हिन्दी-आचार्यों की परम्परा में एक महत्वपूर्णस्थान है।

'काव्यनिर्णय' के रचनाकाल के आस-पास ही शम्भुनाथ मिश्र (प्रथम) का 'अलंकारदीपक[2]' अधिकांश दोहों में लिखा हुआ अलंकार-ग्रंथ है। ये असोथर (जि० फतेहपुर) के राजा भगवंतराय खींची के यहाँ रहते थे। 'अलंकारदीपक' के उदाहरण अलंकारों के अधिक न होकर अपने आश्रयदाता की ही प्रशंसा में हैं। तुलसीभक्त रसरूप का 'तुलसीभूषण'[3] भी अलंकार-ग्रंथ है। इसमें एक सौ ग्यारह अलंकारों का वर्णन है।[4] अलंकारों के लक्षणों के लिये 'काव्य-प्रकाश' और 'कुवलयानन्द' को आधार बनाया है।[5] उदाहरण तुलसी-साहित्य, विशेषरूपेण 'रामायण' से ही लिये गये हैं। इसी से पुस्तक का नाम 'तुलसीभूषण' रखा है।

पन्ना नरेश हिन्दूसिंह के यहाँ रहने वाले कविरूपसाहि ने चौदह विलासों में 'रूपविलास'[6] नामक काव्यशास्त्र-ग्रन्थ की रचना की। इसके बारहवें और तेरहवें विलास में क्रमशः अर्थालंकार और शब्दालंकार का 'भाषाभूषण' की प्रणाली पर वर्णन है। 'भाषाभूषण' की ही शैली पर बैरीसाल ने भी 'भाषाभरण'[7] अलंकारों पर

---

१ रचनाकाल संवत् १८०३।
२ रचनाकाल संवत् १८०६।
३ रचनाकाल संवत् १८११।
४ एकादस अरु एकशत मुख्य अलंकृत रूप ॥ तुलसीभूषण ॥
५ सम्मत काव्यप्रकाश को और कुवलयानन्द ॥ तुलसीभूषण ॥
६ रचनाकाल संवत् १८११।
७ रचनाकाल संवत् १८२५।

ग्रन्थ लिखा। इसका अलंकार-विवेचन बहुत ही स्पष्ट, सुन्दर, संक्षिप्त एवं रोचक है। इसके उदाहरण बहुत ही रमणीय हैं। अलंकार-वर्णन का आधार 'कुवलयानन्द' है।[1] इन्होंने रसवत्, ऊर्जस्वि, भावसंधि, भावसबलता आदि को अलंकारों के अन्तर्गत परिगणित कर लिया है। काशी-निवासी गुजराती ब्राह्मण हरिनाथ का 'अलंकारदर्पण'[2] अलंकारों का एक छोटा-सा ग्रन्थ है। इसके एक-एक छंद के भीतर कई-कई उदाहरण भरे हुए हैं। वैसे साधारणतया लोगों ने एक अलंकार की परिभाषा के पश्चात् उसका उदाहरण दिया है; किन्तु इन्होंने ऐसा न करके पहले बहुत से अलंकारों के लक्षण लिख डाले हैं, तत्पश्चात् एक साथ उनके उदाहरण दिये हैं। रतन कवि का भी 'अलंकारदर्पण'[3] नामक अलंकार-ग्रन्थ है। इसके एक ही छंद में परिभाषा और उदाहरण दोनों ही दिये गये हैं। इसका अलंकार-निरूपण विशद है तथा उदाहरण भी बहुत मनोहर और सरल हैं। किसी समय में चरखारी के महाराज खुमानसिंह के दरबारी कवि दत ने 'लालित्यलता'[4] नामक एक अलंकार की पुस्तक लिखी थी, जिससे वह बहुत अच्छे कवि प्रतीत होते हैं।

ऋषिनाथ की 'अलंकार-मणि-मंजरी'[5] दोहों में लिखी हुई है। बीच-बीच में घनाक्षरी, छप्पय आदि हैं। इसमें शब्दालंकारों और अर्थालंकारों दोनों का वर्णन है। एक अलंकार के एक से अधिक उदाहरण दिये गये हैं।

जनराजकृत 'कविता रसविनोद'[6] काव्यशास्त्र के विविध विषयों पर प्रकाश डालने वाला ग्रंथ है। इसमें अर्थालंकारों को अधम काव्य के अन्तर्गत रक्खा गया है।[7] इसके अलंकार-निरूपण का बहुत कुछ आधार 'काव्यप्रकाश' है। महाराज रामसिंह ने 'कुवलयानन्द' के आधार पर 'अलंकार-दर्पण'[8] लिखा। इसकी आलंकारिक परिभाषायें बहुत ही संयत और सरल हैं। इन पुस्तकों के अतिरिक्त सेवादास का

---

१ तेहि नारायण ईश कौ, करिमन माह स्मर्ण।
रीति कुवलयानन्द की, कीन्हीं भाषाभर्ण॥ 'भाषाभरण'।

२ रचनाकाल सम्वत् १८२६।

३ रचनाकाल सम्वत् १८२७।

४ रचनाकाल सम्वत् १८३०।

५ रचनाकाल संवत् १८३१।

६ रचनाकाल संवत् १८३३।

७ अथ अधम काव्य वर्णन तासों अर्थालंकार कहत। कविता रसविनोद।

८ रचनाकाल संवत् १८३५।

'काव्याभरण', मानकवि का 'नरेन्द्रभूषण',[२] बेनीबंदीजन का 'टिकैयतरायप्रकाश',[३] गुरदीन पाण्डे का 'बागमनोहर'[४] आदि ग्रंथों की रचनायें हुई । इनमें से कुछ में तो अलंकारों के अतिरिक्त काव्यशास्त्र के अन्य विषयों का भी विवेचन किया गया है और कुछ में केवल अलंकार वर्णन है । ये सभी ग्रंथ साधारण महत्व के हैं ।

जगतसिंह के 'साहित्यसुधानिधि'[५] में काव्यशास्त्र के अनेक विषयों का निरूपण किया गया . ग्रंथ की छठवीं और सातवीं तरंग में शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का वर्णन है । लक्षण तथा उदाहरण दोनों शिथिल हैं और दोनों का आधार 'चन्द्रालोक' है । काशीनरेश महाराज उदित नारायण सिह के छोटे भाई बाबू दीपनारायण सिंह के आश्रित कवि ब्रह्मदत्त ने उनकी आज्ञा से सात प्रकाशों में विभक्त 'दीपप्रकाश'[६] की रचना की । इसके तीसरे प्रकाश में भावादि तथा शब्दालंकार हैं और चतुर्थ में अर्थालंकार हैं । सम्पूर्ण पुस्तक की रचना दोहों में हुई है । एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण दोनों को ही रखने का प्रयत्न किया गया है । अलंकार वर्णन 'चद्रालोक' के आधार पर साधारण ढंग का है ।

वैरीसालकृत 'भाषाभरण' के आधार पर[७] कविवर पद्माकर का 'पद्माभरण'[८] अलंकारों का ग्रंथ है । 'भाषाभरण' के अनुकरण पर[९] पद्माकर ने अलंकारों को तीन भागों में विभक्त किया है—शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार, किन्तु इन तीनों प्रकार के अलंकारों का वर्णन ग्रंथ में नहीं है । 'पद्माभरण' में

---

१ रचनाकाल संवत् १८४५ ।

२ रचनाकाल संवत् १८४५ ।

३ रचनाकाल संवत् १८४६ ।

४ रचनाकाल संवत् १८५८ ।

५ रचनाकाल संवत् १८६० ।

६ रचनाकाल संवत् १८६५ ।

७ पद्माकरपञ्चामृत का आमुख —सम्पादक पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ।

८ रचनाकाल संवत् १८६७ ।

९ अ—कहुं पद ते कहुं अर्थ ते, कहूं दुहुन ते ज़ोइ ।
अभिप्राय जैसो जहाँ अलंकार त्यों होइ ।।
अलंकार यक ठौर में जो, अनेक दरसाहिं ।
अभिप्राय कवि को जहाँ सो प्रधान तिन माहिं ।।
ज्यो ब्रज में ब्रजबधुन की निकसति सजी समाज ।
मन की रुचि जापरभई, ताहि लखत ब्रजराज ।। —भाषाभरण ।

दो प्रकरण हैं–अर्थालंकार प्रकरण और पंचदशअलंकार प्रकरण। अर्थालंकार प्रकरण में 'कुवलयानन्द' के आधार पर सौ अलंकारों का विवेचन है। पंचदश अलंकार प्रकरण में मतभेद वाले चार रसवत् आदि तीन भावोदय आदि तथा आठ प्रमाणालकारों का निरूपण है। ग्रंथ के अन्तिम बारह दोहे संसृष्टि-संकर के लिये प्रयुक्त हुये हैं। 'पद्माभरण' के लक्षण और उदाहरणों में कोई विशेषता नहीं हैं। यह एक सामान्य कोटि का ग्रन्थ है।

दतियानिवासी शिवप्रसाद का लिखा हुआ 'रसभूषण'[1] है। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि इसमें रस-विवेचन के साथ ही साथ अलंकारों का भी वर्णन हुआ है। ठीक इसी प्रकार का वर्णन याकूबखां के 'रसभूषण' में प्राप्त होता है। उन्होंने भी नायिका-भेद के साथ अलंकारों का वर्णन किया है। शिवप्रसादकृत 'रसभूषण' के अलंकार-अनुशीलन का क्रम 'भाषाभूषण' के अनुसार है। अलंकारों की परिभाषाओं में कोई विशेषता नहीं है; किन्तु उदाहरण अवश्य रमणीय हुए हैं।

काशिराज महाराज चेतसिंह के पुत्र बलवानसिंह ने भाषा में चित्र के अगाध समुद्र में थाह लेने के लिये संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, फारसी-साहित्य का अध्ययन कर 'चित्र-चन्द्रिका'[2] नामक विद्वतापूर्ण ग्रन्थ की रचना की। इसमें चित्र के तीन भेद किये गये हैं। शब्दचित्र, और उभयचित्र। शब्दचित्र तथा अर्थचित्र के क्रमशः सात और छः भेदों का वर्णन है और अन्त में संकर अर्थात् उभयालंकार चित्र का वर्णन किया है। भाषा-टीका तथा चित्रों के कारण ग्रन्थ बहुत उपयोगी हो गया है। चित्र काव्य की दुरूहता को स्पष्टता एवं सरलतापूर्वक समझने के लिए, चित्र-चन्द्रिका बहुत महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता गिरधरदास ने दोहा छंद में 'भारतीभूषण'[3] नामक अलंकार-पुस्तक की रचना की। इसमें अर्थालंकार सात का वर्णन करके दो शब्दालंकारों-अनुप्रास (छेक, वृत्ति, श्रुति, अन्त्य, लाट) और यमक (अखंड, खंड) का निरूपण किया गया। शब्दालंकार के विस्तृत विवेचन से लेखक का

ब—सब्दहुं ते कहुं अर्थ ते, कहुं दुहुं ते उर आनि।
अभिप्राय जिहि भाँति जहं, अलंकार सो मानि॥
अलंकार इक थलहि में, समुझि परै जु अनेक।
अभिप्राय कवि को जहाँ, बहै मुख्य गति एक॥
जा विधि एकै महल में, बहु मन्दिर इक मान।
जो नृप के मन में रुचै, मनियत वहै प्रधान॥ —पद्माभरण।

१ रचनाकाल संवत् १८६६।

२ रचनाकाल संवत् १८८६।

३ रचनाकाल संवत् १८६०।

मौलिक चिन्तन ज्ञात होता है। सामान्यत: पुस्तक का आधार 'कुवलयानन्द' है। अलंकार की परिभाषाओं में तो कोई विशेषता नहीं है, किन्तु उदाहरण अवश्य सरस है, जिनसे उनकी अच्छी कवित्वशक्ति का परिचय मिलता है।

रणधीरसिंह का 'काव्यरत्नाकर'[१] काव्यशास्त्र के अनेक अंगों पर प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ है। इसकी रचना का आधार 'चन्द्रालोक' और 'काव्यप्रकाश' है। परिभाषाएं और उदाहरण स्पष्ट एवं सुन्दर है। चित्रालंकार का विशेष विवेचन है। ग्रन्थ में विषय-विवेचन सामान्य श्रेणी का है। पं० कृष्णबिहारी मिश्र के पिता पं० नन्दकिशोर मिश्र उपनाम लेखराज ने दोहों तथा कवित्तों में 'गंगाभरण'[२] नामक अलंकारों पर एक पुस्तक लिखी। इसमें अलंकारों को तीन भागों में बांटा गया है— अर्थालंकार, शब्दालंकार और चित्रकाव्य। अर्थलंकारों का वर्णन 'भाषाभूषण' के अनुसार है। शब्दालंकार में सभी अनुप्रासों का वर्णन है। चित्रकाव्य के छ: भेद किये गये हैं। पुस्तक के विवेचन में कोई विशेषता नहीं है।

कविवर लछिराम ने गिद्धौर नरेश महाराज रावणेश्वर प्रसाद सिंह को प्रसन्न करने के लिए 'रावणेश्वर कल्पतरु'[३] की रचना की थी। इसके बारह कुसुमों में काव्यशास्त्र के विविध विषयों का वर्णन है। दसवें कुसुम में अर्थालंकारों का तथा ग्यारहवें कुसुम में शब्दालंकार और भट्टाचार्य के मतानुसार चित्रालंकारों का वर्णन है। वैसे लक्षण और उदाहरण स्पष्ट हैं, किन्तु कहीं-कहीं लक्षण और उदाहरण अशुद्ध एवं[४] अनुपयुक्त हैं। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त लछिराम का 'रामचन्द्र भूषण' नामक एक अलंकार-ग्रन्थ है। इसके लक्षण दोहों में और उदाहरण कवित्त सवैयों आदि में हैं। इसमें ९८ अर्थालंकार और एक शब्दालंकार अनुप्रास का वर्णन है। अर्थालंकारों का विवेचन प्राय: 'भाषाभूषण' के आधार पर है। उदाहरण सभी रामभक्ति विषयक हैं। लक्षणों में कोई विशेषता नहीं है और उदाहरणों में कोई चमत्कार नहीं है।

बूंदी नरेश महाराज रघुवीरसिंह की आज्ञानुसार कविराज गुलाबसिंह ने 'वनिताभूषण'[५] नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें अलंकारों का और नायिका-भेद का वर्णन साथ-साथ किया गया है। यह कोई अपूर्व विवेचन नहीं है। इनके पूर्व याकूब खां ने अपने 'रसभूषण' में अलंकार और रस का साथ-साथ निरूपण किया है। 'वनिताभूषण' के अलंकार-विवेचन का बहुत कुछ आधार 'कुवलयानन्द' है।

---

१ रचनाकाल संवत् १८९७।
२ रचनाकाल संवत् १९३५।
३ रचनाकाल संवत् १९४७।
४ रचनाकाल संवत् १९४७।
५ रचनाकाल संवत् १९४९।

मरुधराधीश महाराज जसवंतसिंह के प्रसन्नतार्थ राज्यकवि कविराज मुरारिदान ने 'जसवंतजशोभूषण'[1] नामक ग्रन्थ की रचना की। कविराज ने सुब्रह्मराय शास्त्री की सहायता से इसका संस्कृत अनुवाद भी 'यशवंतयशोभूषण' के नाम से किया। 'जसवंतजशोभूषण' में काव्यस्वरूप, शब्दशक्ति, गुणरीति, अलंकार आदि का विवेचन है, किन्तु ग्रन्थ में अलंकारों की ही प्रधानता है। कविराज ने ग्रन्थ की प्रस्तावना में लिखा है कि 'राजराजेश्वर की आज्ञानुसार मैंने नवीन ग्रन्थ-निर्माण का आरम्भ करके विचार किया कि संस्कृत और भाषा में अलंकारों के ग्रन्थ अनेक हैं, पिष्टपेषण तो व्यर्थ है। कोई नवीन युक्ति निकालनी चाहिए कि जिससे विद्वानों को इस ग्रन्थ के अवलोकन की रुचि होवे और विद्यार्थियों को इस ग्रन्थ के पढ़ने से विलक्षण लाभ होवे'। कविराज के कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ग्रंथ-रचना में उनका उद्देश्य विलक्षणता का प्रदर्शन करना है। उनके ग्रन्थ की विलक्षणता क्या है? यह उन्हीं के शब्दों में देखिये कि अलंकारों के नामों में ही लक्षण हैं। इस रहस्य को आज तक किसी साहित्याचार्य ने नहीं समझा अर्थात् इस रहस्य पर प्रथम प्रकाश डालने वाले हम हीं हैं। कविराज के अनुसार 'प्राचीनों को यह बात ज्ञात ही न थी कि अलंकारों के नामार्थ में ही लक्षण हैं, और उन्होंने व्युत्पत्ति नहीं लिखी। 'अन्यथा' यदि प्राचीनों को उक्त बात का ज्ञान होता तो वे लक्षणों का निर्माण ही क्यों करते।' इस प्रकार मुरारिदान जी ने संस्कृत-हिन्दी के समस्त आचार्यों को अनभिज्ञ घोषित कर दिया है, किन्तु कविराज स्वयं ही अलंकारों के नाम की व्युत्पत्ति से अपनी व्याख्या द्वारा लक्षण निकालने में समर्थ नहीं हुए हैं। प्रायः लक्षण अस्पष्ट ही रहे हैं। लेखक को इस प्रकार के [illegible]ता-प्रदर्शन की प्रेरणा जयदेवकृत 'चन्द्रालोक' की 'स्यात्स्मृतिभ्रान्तिसंदेहैस्तदाडालंकृतित्रयम्' कारिका से प्राप्त हुई। यह कथन केवल इन्हीं तीन अलंकारों के लिये उपयुक्त है, सभी अलंकारों के लिये नहीं। इन्हीं तीनों के लिए इस प्रकार का उल्लेख हिन्दी-आचार्यों ने भी किया है।[2] यदि सभी अलंकारों के लक्षणनाम से स्पष्ट हो जाते, तो जयदेव केवल स्मृति, भ्रान्ति और संदेह के विषय में ही ऐसा न कहते, अन्य अलंकारों की भी व्याख्या उन्हीं के नामों द्वारा करते, पृथक् लक्षण न प्रस्तुत करते।

'जसवंतजशोभूषण' में एक शब्दालंकार और अस्सी अर्थालंकारों का निरूपण है। अर्थालंकारों के क्रम में विलक्षणता है। उनमें 'उपमा अति प्रसिद्ध है, इसलिए उपमा को प्रथम कह कर फिर वर्णमालाक्रम से दूसरे अलंकार वर्णित हैं। उपमा-

---

१ रचनाकाल संवत् १९५० ।

२ अ—सुमिरन, सुमृति, सुभ्रान्ति, भ्रम बिन निश्चय संदेह ।
निश्चय बिन संदेह, ये जानि नाम.ते लेह ॥ 'देव' ।

(ब) सुमिरन भ्रम संदेह को, लच्छन प्रकटै नाम ॥ 'दास' ।

(स) लच्छन नाम प्रकास है, सुमिरन, भ्रम, संदेह ॥ 'दास' ।

लंकार के नाम की व्युत्पत्ति से व्याख्या द्वारा लक्षण निकालते हुए लिखा है कि यहाँ 'उप' उपसर्ग का अर्थ है समीप, कहा है चिन्तामणिकाशकार ने उपसामीप्ये। 'माङ्धातु से 'मा' शब्द बना है। माङ्धातु मान अर्थ में कहा है धातु पाठ में 'माङ्-माने'। मान, मिति और विज्ञान में पर्याय शब्द हैं। ''उप समीप्यात मा मानं उपमा'। अर्थ समीपता करके किया हुआ मान अर्थात् विशेषज्ञान। एक वस्तु के समीप करने से तीन प्रकार का निर्णय होता है, न्यूनता का अधिकता का और समता का। सो वर्णनीय की न्यूनता, तो मनोरंजनहीनता विहीन होने से इस शास्त्र में अग्राह्य है, अधिकता व्यतिरेक अलंकार का विषय है। समनिर्णय उपमा अलंकार की रूढ़ि है। इस प्रकार उपमा शब्द योगरूढ़ है। उपमा नाम अक्षरार्थ का विचार नहीं करते हुए समस्त प्राचीन उपमा का स्वरूप साधर्म्य मानते हैं सो भूल हैं।' इस सिद्धान्त के अन्तर्गत सभी सादृश्यमूलक अलंकार आ जाते है; क्योंकि उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक में भी तो समनिर्णय होता है। उपमा की इसी प्रकार की व्याख्या आचार्य वामन ने की है। मम्मटाचार्य ने 'काव्यप्रकाश' के अलंकार-प्रकरण में बहुत से अलंकारों के नामार्थ की व्युत्पत्ति करके लक्षण में समन्वय समझाया है।

अनुप्रास अलंकार को समझाते हुए कविराज ने लिखा है ''अनु = वीप्सा, अनेक बार। प्र = प्रकृष्ट, उत्तम। आस = न्यास; धरना। बारम्बार उत्तम धरना। अर्थ के बारम्बार धरने में पुनरुक्तिदूषण होता है, उसमें विपरीतभाव अर्थात् भूषण का बोध कराने के लिए इस नाम में 'प्र' उपसर्ग लगाया है। यहाँ काव्य के अलंकारों का प्रकरण है और काव्य में शब्द-अर्थ ये दो ही वस्तु होती हैं, सो अर्थ का बारम्बार धरना तो दूषण है उत्तम नहीं। इससे और शब्दालंकार प्रकरण से, यहाँ शब्द बारम्बार धरना अर्थसिद्ध है।'' कविराज की इस व्याख्या में प्रथम तो अर्थ की आवृत्ति में दूषण ही विचित्र लगता है, क्योंकि सम्भवत: किसी आचार्य ने इस प्रकार का उल्लेख नहीं किया है और द्वितीय पुनरुक्तप्रकाश तथा वीप्सा अलंकारों में भी आवृत्ति होती है। इसी अतिव्याप्ति-दोष परिहारार्थ तो आचार्यों ने अलंकारों की स्पष्ट परिभाषाएँ लिखी हैं।

मुरारिदान जी ने वक्रोक्ति अलंकार के नामार्थ लक्षण की इस प्रकार व्याख्या की है—''वक्र शब्द का अर्थ है कुटिल, इसका पर्याय है बाँका, टेढ़ा इत्यादि। वक्रोक्ति नाम की व्युत्पत्ति है बक्रीकृता उक्ति। बांकी की हुई उक्ति वह वक्रोक्ति। उक्ति का बाँका करना तो पर की उक्ति का ही होता है। परोक्ति का बाँका करना तो यह है कि वक्ता के विवक्षित अर्थ से अन्य अर्थ करना। वक्रोक्ति में कहीं श्लेष होता है, परन्तु यह गौण होता है, वक्रोक्ति की प्रधानता होती है। 'निरुक्ति' अलंकार में भी अन्यार्थ होता है; परन्तु वहाँ तो अपनी इच्छा के अनुसार प्रकृतार्थ लगाय लेना मात्र है, यहाँ तो पर की उक्ति को वक्र करना है इसलिए महान् विलक्षणता है।'' इतनी व्याख्या करने के बाद कविराज ने लिखा है—

"वक्र करन पर उक्ति को नृप वक्रोक्ति निहार।
स्वर-विकार श्लेषादि सौं होत जु बहुत प्रकार।"

कविराज मुरारिदान जी ने "वक्रोक्ति के नाम का अर्थ करते हुए जो यह लिखा है कि 'उक्ति का बांका करना पर की उक्ति का ही होता है।" यह अर्थ वक्रोक्ति के नाम में कहाँ से निकल सकता है। उक्ति का बाँका करना केवल परोक्ति में ही हो सकता है इसमें प्रमाण ही क्या? क्योंकि वक्ता अपनी उक्ति को भी वक्र कह सकता है जैसे—'अंधसुत कौरवन सार शत बंधुन को[1]' इत्यादि पद्य में भीमसेन ने स्वयं काकु द्वारा वक्रोक्ति की है। वह भी वक्रोक्ति है। किन्तु पूर्वाचार्यों ने लक्षण द्वारा 'वक्तोक्ति' अलंकार को एक विशेष अर्थ में (अर्थात् वक्ता का किसी अन्य द्वारा अन्यार्थ कल्पना किये जाने में) सीमाबद्ध कर दिया है; अतएव पूर्वोक्ति 'अंध-सुत कौरव' इत्यादि में जो स्वउक्ति में वक्र-उक्ति होती है, वह वक्रोक्ति अलंकार का विषय नहीं; किन्तु गुणीभूतव्यंग्य का विषय है। पर जब वक्रोक्ति के नामार्थ से स्वउक्ति और परोक्ति दोनों का ही बोध हो सकता है तब कविराज जी के 'नामार्थ ही लक्षण' के सिद्धांत अनुसार तो 'अंधसुत कौरव' पद्य में उनको अवश्य ही वक्रोक्ति अलंकार मानना पड़ेगा। किन्तु ऐसा मानने से उनके 'नामार्थ ही लक्षण' के सिद्धांत में अतिव्याप्तिदोषवलात् आ जाता है; क्योंकि 'काकुध्वनि' के ऐसे उदाहरणों में भी वक्रोक्ति होती है। उनका यह कहना कि हमारे नामार्थ लक्षण के सिद्धांत में अतिव्याप्ति दोष नहीं है, केवल मन-मोदक का आस्वादन मात्र है। उक्त विवेचना से स्पष्ट सिद्ध होता है कि 'अतिव्याप्ति' आदि दोषों के परिहार के लिये 'लक्षण' का निर्माण अनिवार्यतः अपेक्षित है। एतावता यह भी सिद्ध होता है कि 'पर की उक्ति' यह वाक्य कहे बिना लक्षण की सांगता नहीं हो सकती, इसीलिए कविराज जी को 'पर की उक्ति' जो नामार्थ में बोध नहीं होती है, अगत्या ऊपर से नामार्थ से अधिक कहना पड़ा है। 'नामार्थ में लक्षण' के सिद्धांत का समर्थन तो उसी अवस्था में समझा जा सकता था जब कि केवल नाम के अर्थ में ही अलंकार का यथार्थ-स्वरूप वे दिखा सकते। खेद है कि वे अपने कल्पित सिद्धांत को निराधार युक्तियों से अंशतः भी सिद्ध करने में कृतकार्य नहीं हुए और उनकी—

भोजसमय निकसी नहीं भरतादिक की भूल।
सो निकसी जसवंतसमय भवे भाग्यअनुकूल॥

---

१ अंध-सुतकौरवन सारे शत-बन्धुन को, ह्वै के क्रुद्ध-मत्त हैं न युद्ध में पछारौं ना। करिकै कबंध ताहि रंध्र सौं जु पीवे काज, दुःशासन उरहू सों रक्त को निहारौं ना। मारौं न सुयोधन हू बिदारौंना उरु और, मेरी वा प्रतिज्ञा की अवज्ञा विचारौं ना। करो क्यों न संध पाँच ग्रामन प्रबंधरूप, भूप वो तिहारो है न चारों हौ निवारौं ना।

वेणीसंहारनाटक—अनुवाद।

यह गर्वोक्ति एक विचारशून्य दुःसाहस मात्र रह गई[1]।" बहुत से ऐसे अलंकार हैं, जिनके नामों से उनका बहुत कुछ लक्षण व्यक्त होता है, किन्तु अलंकार के विशिष्ट अर्थ में उनका वास्तविक रूप क्या है, यह नहीं प्रकट होता। अलंकार के इसी वास्तविक स्वरूप को समझाने के लिए आचार्यों ने अलंकारों को परिभाषा-बद्ध किया है।

अस्सी अर्थालंकारों में से कविराज ने कतिपय नवीन अलंकारों की उद्भावना करने का प्रयत्न किया है—अतुल्ययोगिता, अनवसर, अपूर्वरूप, अप्रत्यनीक, आभास, नियम, प्रतिभा, मिस, संकोच आदि। इनमें से कुछ तो आचार्यों द्वारा निरूपित अलंकारों के विलोम हैं और कुछ में कोई काव्य-सौंदर्य ही नहीं दृष्टिगत होता। इसी प्रकार इन्होंने उपमा के दस भेद माने हैं। उनमें कुछ नवीन भेद दिखलाई पड़ते हैं, किन्तु ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि कुछ भेद तो अन्य अलंकारों का ही रूप धारण कर बैठे हैं। यथा विपरीतोपमा प्रतीप है। निजोपमा अनन्वय है और किसी-किसी में कोई अलंकारत्व ही नहीं है। इसके अतिरिक्त कविराज ने छठवीं आवृत्ति अन्तर्भावाकृति में अठारह अलंकारों का अन्य अलंकारों में अन्तर्भाव दिखलाया है। इसमें भी उन्होंने अपनी विलक्षण बुद्धि का प्रयोग किया है। कविराज चित्रकाव्य में शब्दालंकारता नहीं स्वीकार करते। चित्र काव्य का आधुनिक युग में कोई महत्व नहीं है। आजकाल इस प्रकार का बुद्धि-व्यायाम व्यर्थ समझा जाता है। अलंकारों के अतिरिक्त मुरारिदान जी ने रसवदादि, भावोदयादि, प्रमाण तथा संसृष्टि-संकर अलंकारों का पृथक् विवेचन किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कविराज मुरारिदान जी के अलंकारों के विलक्षण विवेचन से काव्यशास्त्र को कोई लाभ नहीं हुआ। हाँ, उन्हें अवश्य लाभ हुआ कि राज्य की ओर इस कृति के पुरस्कार-स्वरूप-पुष्कलधन और माल मिला।

दासापुर बलदेवनगर निवासी (जि० सीतापुर) पण्डित गंगाधर उपनाम द्विजगंग ने महाराज महेशबक्स की आज्ञानुसार 'माहेश्वरभूपण'[2] नामक ग्रंथ की रचना की। इसमें पाँच उल्लास हैं। तीसरे उल्लास में अलंकारों का वर्णन किया गया है और पाँचवें में चित्रकाव्य का। अलंकार-विवेचन में 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' का प्रभाव परिलक्षित होता है। यत्र-तत्र मम्मट और कैयट के नामों का भी उल्लेख हुआ है। यह रचना गद्ययुगीन होते हुए भी विषय-विवेचन की दृष्टि से मध्यकालीन है; क्योंकि तत्कालीन शैली का इसमें अनुकरण किया गया है। लक्षण दोहों में और उदाहरण कवित्त, सवैयों आदि में हैं। लक्षण अस्पष्ट हैं और उदाहरणों में भी मध्यकालीन सरसता का अभाव है।

---

१ काव्यकल्पद्रुम—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार।

१ रचनाकाल संवत् १९५२।

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने 'जसवंतजशोभूषण' की रचना के तीन वर्ष पश्चात् 'अलंकारप्रकाश'[1] लिखा। बाद में 'अलंकारप्रकाश' को ही परिवर्द्धित और संशोधित कर ध्वनि-विमर्श सहित 'काव्यकल्पद्रुम'[2] नामक ग्रंथ प्रकाशित कराया। इसी पुस्तक के अलंकार-प्रकरण का परिवर्धित रूप 'अलंकारमंजरी'[3] है। इसमें काव्य का स्थान, अलंकार क्या हैं, अलंकारों के नाम तथा लक्षण, संस्कृत साहित्य के प्राचीन अलंकार-ग्रंथ, अलंकारों का क्रमविकास और हिन्दी-साहित्य में अलंकार-ग्रंथ विषयों का विवेचन किया है। ग्रंथ में आद्यन्त विवेचन संस्कृत-साहित्यशास्त्र के आधार पर है। बीच-बीच में अनेक आचार्यों के विचारों की आलोचना भी की गई है। कविराज मुरारिदान के मत का भी खण्डन किया है। अपने मत को अत्यधिक महत्व देने के कारण पोद्दार जी की आलोचना में आलोच्य के प्रति अपेक्षित सहानुभूति नहीं आ पाई है।

सर्वप्रथम छः शब्दालंकारों का वर्णन किया गया है—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, पुनरुक्तवदाभास और चित्रालंकार। तत्पश्चात् सौ अर्थालंकारों का वर्णन है। इन दोनों के अनन्तर संसृष्टि-संकर का नि[illegible]पण है। इसके पश्चात् अलंकार-दोषों की विवेचना है। दोष तो सभी अलंकारों में हो सकते हैं, किन्तु लेखक ने कुछ ही अलंकारों के दोषों पर विचार किया है। ग्रंथ में अलंकार-वर्णन और बहुत कुछ क्रम भी 'काव्यप्रकाश' के आधार पर है। हिन्दी के अलंकार-ग्रंथों में अलंकारमंजरी का एक विशिष्ट स्थान है। इसमें प्रत्येक अलंकार का नू[illegible]न-से-नू[illegible]म भेद दिखलाया गया है। यहाँ तक कि किसी-किसी अलंकार के भेद-प्रभेदों को देख कर बुद्धि चकराने लगती है[illegible] उदाहरणार्थ श्लेष के अन्तिम उपभेद [illegible]—विशेष्य–समंग–श्लेष या अप्रकृयमात्र–आश्रित–श्लिष्ट–विशेष्य–अभंग–श्लेष'। अलंकारों की परिभाषायें गद्य में हैं और वे सभी स्पष्ट तथा शुद्ध हैं। उदाहरण अवश्य सभी सुन्दर नहीं हैं। पोद्दार जी के उदाहरण तीन प्रकार के हैं।

(१) स्वरचित,

(२) अनूदित और

(३) अन्यरचित।

इस प्रकार हम देखते हैं 'अलंकारमंजरी' का विषय-प्रतिपादन बहुत ही शास्त्रीय और पाण्डित्यपूर्ण है। निस्संदेह, यह हिन्दी के प्रथम श्रेणी के ग्रंथों में है।

---

१ रचनाकाल संवत् १९५३।

२ रचनाकाल संवत् १९८०।

३ रचनाकाल संवत् २००२।

जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' का 'काव्यप्रभाकर'[१] काव्यशास्त्र का एक वृहद्ग्रंथ है। इसके बारह मयूखों में काव्यशास्त्र के लगभग सभी विषयों का प्रतिपादन प्रस्तुत किया गया है। ग्रंथ के नवम् मयूख में अलंकार-वर्णन है। भानु जी ने अलंकार के तीन भेद माने हैं—

(१) शब्दालंकार,
(२) अर्थालंकार और
(३) उभयालंकार।

शब्दालंकार आठ हैं—पुनरुक्तवदाभास, यमक, वक्रोक्ति, भाषासमक, श्लेष, प्रहेलिका तथा चित्र। इन अलकारों के विवेचन में 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' से सहायता ली गई है। 'कुवलयानन्द' के अनुकरण पर सौ अर्थालंकारों का वर्णन है। अर्थालंकार-निरूपण में 'कुवलयानन्द' के अतिरिक्त 'चन्द्रालोक' और 'साहित्यदर्पण को' भी आधार बनाया गया है। उभयालंकारों में संसृष्टि और संकर का वर्णन है। अन्त में चार शब्दालंकार-दोष और नौ अर्थालंकार-दोषों को समझाया गया है। उभयालंकारों के अन्तर्गत 'न्यायदर्पण' है। इसमें छत्तीस न्यायों का वर्णन है जिनका प्रायः काव्य में प्रयोग किया जाता है। यथा अरण्यरोदन, क्षीरनीर, तिलतंदुल आदि।

अलंकार—वर्णन में प्रथम अलंकार का नाम, फिर संस्कृतलक्षण, भावार्थ और अन्त में एक नहीं अनेक उदाहरण दिये गये हैं। ग्रंथकार का उद्देश्य किसी विलक्षणता या मौलिकता का प्रदर्शन करना नहीं रहा है। केवल अलंकार ही नहीं अपितु समस्त काव्यशास्त्र को स्पष्ट एवं रोचक शैली में समझाना लक्ष्य रहा है।[२] इसीलिये लेखक ने सूचना, प्रश्नोत्तर और फुटनोट द्वारा प्रत्येक शंका का समाधान कर विषय को बिलकुल स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है और लेखक को इसमें पर्याप्त सफलता मिली है। विषयनिरूपण "ऐसी सरल और स्पष्ट भाषा में किया गया है कि पढ़ते ही विषय हृदयंगम हो जाता है, अन्त में उदाहरण यथासाध्य रामायणादि सद्ग्रन्थों से ललित और सुन्दर खोज-खोज कर लिखे गये हैं।" कहीं गद्य में भी उदाहरण दिये गये हैं। उदाहरण—बहुलता काव्य-प्रभाकर की सर्वप्रमुख विशेषता है।

---

१ रचनाकाल संवत् १९६६।

2 My only justification for such a venture is that though many books on rhetoric exist in Hindi, yet their treatment of the subject is mostly loose and intricate and further that none of them deals comprehensively with all the various branches of the subject.

—काव्यप्रभाकर की अंग्रेजी प्रस्तावना।

काव्यप्रभाकर के अलंकार-प्रकरण के लक्षणों और उदाहरणों में कोई मौलिकता नहीं है, किन्तु 'भानु' जी ने विनम्र विद्वता द्वारा जिस शैली में आवश्यक सामग्री को जुटाया है, वह अवश्य ही मौलिक है। उससे उनकी सारग्राहिणी बुद्धि का परिचय प्राप्त होता है। 'भानु' जी का 'काव्यप्रभाकर' साहित्यकारों के लिए एक बहुत उपयोगी ग्रन्थ है और हिन्दी-काव्यशास्त्र की परम्परा में उसका एक विशेष महत्व है।

अलंकारों के लिये लाला भगवानदीन 'दीन' की 'अलंकारमंजूषा'[1] विद्यार्थियों की परमप्रिय पुस्तक है। इसका अलंकारवर्णन चार पटलों में विभक्त है। प्रथम में शब्दालंकार द्वितीय में अर्थालंकार, तृतीय में उपमालंकार और चौथे में अलंकार-दोष-निरूपण है। 'दीन' जी रसवदादि अलंकारों को मानते नहीं हैं।

संस्कृत के प्रत्यक्ष प्रभाव से दूर 'दीन' जी ने अलंकारों के लक्षण दोहों में और उदाहरण हिन्दी-कवियों के दिये हैं, स्वरचित नहीं। लक्षण सभी शुद्ध और स्पष्ट हैं; जहाँ अलंकारलक्षण दोहे में नहीं स्पष्ट हो पाया है, वहाँ उसकी व्याख्या गद्य में कर दी गई है। भानु' जी की भाँति गद्य में भी उदाहरण दिये गये हैं। अलंकारों के भेद को स्पष्ट करते हुये हिन्दी के साथ-साथ यत्र-तत्र अंग्रेजी और फारसी के सदृश-अलंकारों को भी दिया है। शब्दालंकारों के अन्तर्गत अनुप्रास, चित्र, पुनरुक्तिप्रकाश, पुनरुक्तिवदाभास, प्रहेलिका, भाषासमक, यमक, वक्रोक्ति, वीप्सा और श्लेष नामक दस अलंकारों को लिया है। एक सौ आठ अर्थालंकारों का विवेचन है। उभयालंकारों में संसृष्टि-संकर का वर्णन है। स्मरण, उत्प्रेक्षा, क्रम, वक्रोक्ति, अत्युक्ति और तिरस्कार अलंकारों की परिभाषाओं में 'दीन' जी की मौलिकता दिखाई पड़ती है। इस मौलिकता में विलक्षणता नहीं औचित्य और उपयोगिता है। 'अलंकारमंजूषा' के उदाहरण सभी रोचक हैं। कतिपय उदाहरण लक्षणों के अनुपयुक्त हैं, जैसे तद्रूपरूपक, अत्यंतातिशयोक्ति आदि के।

अलंकार-दोष-निरूपण में अनुप्रास के मुख्य तीन दोष और यमक का एक दोष दिखलाया गया है। अर्थालंकारों में उपमा के नौ, समासोक्ति का एक, अन्योक्ति का एक और उत्प्रेक्षा के दो दोष दिखलाए गये हैं। 'अलंकारमंजरी' से अधिक सरल और सुगम 'काव्यप्रभाकर' है, किन्तु इससे भी अधिक सुबोध 'अलंकारमंजूषा' है। अपनी स्पष्टता और सरलता के ही कारण 'अलंकारमंजूषा' आज भी अलंकारों के लिये हिन्दी-जगत् की सर्वाधिक लोकप्रिय पुस्तक है।

अनुसंधान के रूप में डी० लिट्० उपाधि के लिए केवल अलंकारों पर ही अध्ययनपूर्ण प्रबन्ध प्रस्तुत करने का श्रेय डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' को है। यह

---

१ रचनाकाल संवत् १९७३।

प्रबन्ध फुलस्केप साइज के टाइप किए हुए लगभग डेढ़ सौ पृष्ठों में अंग्रेजी में लिखकर 'इवोलूशन आफ हिन्दी पोयेटिक्स' के नाम से प्रयाग विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया गया था। बाद में इसी के आधार पर हिन्दी में 'अलंकारपीयूष'[1] लिखा गया।'रसाल' जी के शोध-प्रबन्ध पर महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा और डा०धीरेन्द्रवर्मा ने बहुत ही प्रशंसापूर्ण अभिमत अभिव्यक्त किये थे।[2] 'अलंकारपीयूष' दो भागों में है। प्रथम भाग में 'काव्यालंकार का विषय-शास्त्र है या कला',काव्यालंकारशास्त्र के वर्ण्यविषय, काव्यशास्त्र के ग्रन्थों का विभाग, काव्यालंकारशास्त्र की परिभाषा, अलंकार की परिभाषा, काव्य में उनका स्थान, गद्य में उनका स्थान, अलंकारशास्त्र का इतिहास, हिन्दी–अलंकारशास्त्र का इतिहास, अलंकारों की संख्या एवं विकास (हिन्दी-आचार्यों द्वारा), वर्गीकरण और मूलतत्व, हिन्दी के आचार्यों का मत आदि विषयों का विद्वत्तापूर्वक विवेचन किया गया है। इन विषयों के पश्चात् शब्दालंकार, रसालंकार, भावालंकार और कुछ अर्थालंकारों का निरूपण है। अलंकारपीयूप के द्वितीय भाग में अवशेष अर्थालंकारों का विवेचन है।

रसाल जी ने काव्यालंकार को शास्त्र और कला दोनों मानते हुये अलंकार का मूलाधार 'वैलक्षण्य' स्वीकार किया है तथा रस-भावादि की प्रमुखता नाटकों में मानी है, काव्य में नहीं। इसीलिये काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में अलंकार ही प्रधानतत्व है। इस प्रकार की विचारधारा से प्रतीत होता है कि रसाल जी भामह, दण्डी आदि पूर्वाचार्यों के अनुयायी हैं। रसाल जी का उक्त सिद्धान्त उपयुक्त नहीं हैं। इसीलिए उन्होने भी ग्रंथ में आगे चल कर सौन्दर्य के दो रूपों—अन्तरंग और बहिरंग का विवेचन करते हुए काव्य में अलंकारों का गौणत्व स्थापित किया है और वास्तविकता भी यही है।

'अलंकारपीयूष' में संस्कृत-हिन्दी के अलंकारशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास दिया है, जिसमें हिन्दी का तो बहुत ही संक्षिप्त है और अपूर्ण भी। संस्कृत और हिन्दी के आचार्यों द्वारा अलंकारों की संख्या में किस प्रकार वृद्धि हुई इस पर भी प्रकाश डाला है। अलंकारों के वर्गीकरण के प्रयत्न के अध्ययन और आलोचना के अतिरिक्त प्रत्येक अलंकार के लक्षण और उसके तत्वों के सूक्ष्म विवेचन के साथ उसके विकास का इतिहास भी प्रस्तुत किया गया है। 'रसाल' जी ने अलंकारों के नवीन वर्गीकरण और कतिपय

---

१ रचनाकाल संवत् १९८५।

2 The thesis though short is learned and original.
—Mahamahopadhyay Dr. Ganga Nath Jha.

It is a very valuable contribution to the subject of Kavyalankershastra—in which no critical and scientific work exists as yet. Dr.Dhirendra Varma.

नून अलंकार भी बतलाये हैं। अलंकारों का विवेचन गद्य में किया है और उदाहरण स्वरूप बहुत कम पद्य दिये हैं। अतः ग्रन्थ परिचयात्मक की अपेक्षा विश्लेषणात्मक अधिक है। 'रसाल' जी ने भी पोद्दार जी की भांति स्वरचित उदाहरण दिये हैं जो बहुत सुन्दर नहीं है।

'अलंकार पीयूष' की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं, जो हिन्दी के अन्य अलंकार-ग्रन्थों में नहीं है। अलंकार-अनुशीलन का सर्वांगीण इतिहास प्रस्तुत करने वाला यह ग्रंथ हिन्दी-साहित्य में अनुपम है। यद्यपि 'रसाल' जी के अलंकार विषयक सभी विचार मान्य नहीं हैं और आज के युग में तो और भी अधिक मतभेद है, फिर भी जिस विद्वता से 'अलंकार पीयूष' की रचना हुई है, वह अवश्य स्तुत्य है। हिन्दी-जगत् में अभी तक इस प्रकार का अध्ययनपूर्ण अलंकार-विषयक ग्रंथ नहीं लिखा गया है।

अर्जुनदास केडिया का 'भारतीभूषण'[1] अलंकारों पर सुन्दर, शुद्ध एवं रोचक ग्रंथ है। अलंकारों के लक्षण गद्य में शुद्ध और स्पष्ट हैं। उदाहरण आधे स्वरचित और आधे हिन्दी-कवियों के हैं। केडिया जी ने आठ शब्दालंकार माने हैं। अनुप्रास-वर्णन में उत्तमचन्द भंडारी के अलंकार-आशय के आधार पर वैणसगाई अलंकार का भी उल्लेख किया है। चित्रालंकार का विस्तारपूर्वक वर्णन है। अलंकार-विवेचन में लेखक ने कहीं-कहीं स्वतन्त्र बुद्धि से भी कार्य लिया है। इस प्रकार केडिया जी का 'भारती-भूषण' एक सुन्दर रचना है।

विनावर के राजकवि बिहारी भट्ट का 'साहित्यसागर'[2] पन्द्रह तरंगों में विभक्त काव्यशास्त्र का एक विशाल ग्रंथ है। दसवें, ग्यारहवें और बारहवें तरंग में अलंकार-वर्णन है। भट्ट जी ने तीन प्रकार के अलंकार माने हैं—शब्द, अर्थ और उभय। अकारादि क्रम से दस शब्दालंकारों का वर्णन है। चित्रलंकार के अन्तर्गत अग्न्यस्त्रबंध, व्याघ्रबंध आदि कतिपय नवीन भेद प्रस्तुत किये हैं। अर्थालंकारों में कोई क्रम नहीं प्रतीत होता। इसके पश्चात् संसृष्टि और संकर दो अलंकारों का निरूपण है। पद्यों में लक्षण सामान्य हैं और उदाहरणों में कोई चमत्कार नहीं है।

मिश्र-बन्धुओं का 'साहित्यपारिजात'[3] काव्यशास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें अलंकारों का विद्वतापूर्ण विवेचन किया गया है। सभी मिला कर एक सौ चौबीस अलंकारों का वर्णन है। प्रतीप, व्यतिरेक, रूपक, भ्रांतिमान, सन्देह, भ्रान्तापन्हुति और वक्रोक्ति अलंकारों के निरूपण में नवीनता है। मिश्रालंकार के

---

१ रचनाकाल संवत् १९८७।
२ रचनाकाल सम्वत् १९९४।
३ रचनाकाल सम्वत् १९९७।

विषय में 'रसाल' जी का कथन है कि जब एक ही प्रकार के दो अलंकार एक साथ मिल कर ऐसी एकरूपता धारण कर लेते हैं कि वे पृथक् नहीं किये जा सकते, यद्यपि दोनों की सत्ता प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट दीखती है, तब मिश्रालंकार की उपस्थिति वहाँ मानी जाती है; किन्तु मिश्रबन्धुओं का कहना है कि मिश्रालंकार में दोनों प्रकार के या एक ही भाँति के एकाधिक अलंकार मिले रहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'साहित्यपारिजात' के अलंकार-विवेचन में पर्याप्त मौलिकता है। विषय प्रतिपादन की यह प्रौढ़ता लेखकों के आचार्यत्व के अनुरूप हैं।

स्वर्गीय पण्डित रामदहीन मिश्र का 'काव्यदर्पण'[१], काव्यशास्त्र का एक अध्ययनपूर्ण ग्रंथ है। इसके बारह प्रकाशों में शब्दशक्ति, रस, ध्वनि, गुण, रीति, अलंकार आदि विषयों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। ग्रंथ के ७४ पन्नों की भूमिका समस्त निरूपित विषय का सार-संचयन-सी है। मिश्र जी ने "प्राच्य तथा पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की विवेचना को सम्मिलित रूप से अपना कर दोनों दृष्टिकोणों को देखकर ही कविता का स्वाद लेने का प्रयास किया है अर्थात् प्राचीन विषय को नवीन शब्दावली में नवीन दृष्टिकोण से समझाने का प्रयत्न किया है।" मिश्र जी का कहना है कि "पुस्तक को प्रस्तुत करने में पाश्चात्य समीक्षा से भी लाभ उठाया है, फिर भी संस्कृत आचार्यों के आकर ग्रंथों को ही मूलाधार रक्खा है; क्योंकि पाश्चात्य विचार या सिद्धांत चक्कर काट कर इन्हीं सिद्धांतों पर आ जाते हैं। 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' के अनुरूप ही तो रस्किन की यह व्याख्या है—"कविता कल्पना द्वारा रुचिर मनोवेगों के लिये रमणीय क्षेत्र प्रस्तुत करती है।" निस्संदेह संस्कृत-साहित्य का विशाल और गम्भीर ज्ञान विश्व में बेजोड़ है तथा उसकी प्राचीनता भी निस्संदिग्ध है। इतना ही नहीं, पाश्चात्य साहित्य-जगत् में जिन विषयों को अत्याधुनिक और विवादास्पद समझा जाता है, उन्हीं का संतोषपूर्ण समाधान दिव्यदृष्टि मेधावी भारतीय आचार्यों ने शताब्दियों पूर्व प्रस्तुत कर दिया था; किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में कुछ भी नवीन नहीं है और उनका सब कुछ हमारे यहाँ है—इस कथन से मैं बहुत अधिक दूर तक नहीं सहमत हूँ; क्योंकि पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की भी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं और उनका हमारे यहाँ अभाव है।

'काव्यदर्पण' के ग्यारहवें और बारहवें प्रकाश में अलंकार-विवेचन है। ग्यारहवें प्रकाश में अलंकार के लक्षण, काव्यालंकारों की स्थिति, वाच्यार्थ और अलँकार, अलंकारों की सार्थकता, अलंकारों के रूप, अलंकार के कार्य, अलंकारों का आडम्बर, अलंकारों की अनन्तता और वर्गीकरण, अलंकार और मनोविज्ञान, शब्दार्थोभयालंकार शीर्षक विषयों का दस छायाओं में निरूपण है। बारहवें प्रकाश में शब्दालंकार, अर्थालंकार और कतिपय पाश्चात्य अलंकारों का वर्णन किया गया है।

---

१. रचनाकाल संवत् २००३

अलंकारों के लक्षण गद्य में तथा उदाहरण प्रसिद्ध नवीन कवियों के नवीन काव्यों से चुने गये हैं। यत्र-तत्र प्राचीनों की सरल कविताओं को भी उद्धृत किया गया है। कहीं-कहीं संस्कृत से अनूदित तथा राम-नाम से स्वरचित उदाहरण भी दिये गये हैं तथा प्रत्येक अलंकार का अंग्रेजी-पर्याय भी दिया गया है। 'काव्यदर्पण' में अन्य विषयों की तुलना में अलंकार-विवेचन बहुत ही साधारण और संक्षिप्त है। इस बात को लेखक ने भी स्वीकार किया है कि "दर्पण की छायाओं में रस के अनेक विषयों के लेने का लोभ संवरण न कर सका। इससे पुस्तक का कलेवर बढ़ गया और इसका परिणाम यह हुआ कि अलंकार के विषयों और उनके उदाहरणों को कम कर देना पड़ा" तथा "अलंकारों का सूक्ष्म विवेचन, उनकी विशेषता, एक का दूसरे से अन्तर्भाव आदि अनेक विषय 'काव्यालोक' के लिये छोड़ दिये गये थे।"

बारहवें प्रकाश की पहली छाया में अनुप्रास, यमक, पुनरुक्ति, पुनरुक्तवदाभास, वीप्सा, वक्रोक्ति और श्लेष नामक सात शब्दालंकारों का वर्णन है। भाषासमक और चित्रकाव्य का वर्णन नहीं किया गया है। दूसरी छाया से सोलहवीं छाया तक ७७ अर्थालंकारों और उभयालंकारों का वर्णन है। अलंकारों का वर्गीकरण किया गया है, किन्तु वर्गीकरण के आधार को नहीं समझाया गया है। 'प्रश्न' नामक एक नवीन अलंकार की शोध की गई है, जिसकी परिभाषा है कि "जहाँ किसी अज्ञात जिज्ञासा की शांति के लिये प्रश्न किया जाता है वहाँ यह अलंकार होता है।" सत्रहवीं छाया में तीन पाश्चात्य अलंकारों का विवेचन है—मानवीयकरण, ध्वन्यार्थव्यंजना, विशेषण विपर्यय या विशेषण व्यत्यय।

केशव से रामदहीन तक के हिन्दी-अलंकार-साहित्य का विकास प्रस्तुत करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी के समस्त अलंकार-साहित्य का आधार संस्कृत-साहित्यशास्त्र ही है और वह भी अधिकांश जयदेव के 'चन्द्रालोक', अप्पयदीक्षित के 'कुवलयानन्द', मम्मट के 'काव्यप्रकाश' और विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' के आधार पर है। हिन्दी का काव्यशास्त्र बहुत कुछ ब्रजभाषा में ही लिखा गया है। यहाँ तक कि अवध-निवासी भिखारीदास ने भी 'काव्यनिर्णय' जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना ब्रजभाषा में की। यद्यपि तुलसीदास जी ने रहीम के आग्रह पर अलंकारों के उदाहरणस्वरूप अवधी भाषा में 'बरवैरामायण' लिखी; किन्तु इसकी परम्परा नहीं चल सकी।

द्वितीय खण्ड

- आधुनिक हिन्दी-कविता में उपमान-योजना
- आधुनिक हिन्दी-कविता में प्रतीक-विधान
- आधुनिक अलङ्कृत उक्तियों में प्राचीन आलंकारिक परिभाषाओं का निर्वाह और अलंकारों की नवीन दिशा
- आधुनिक अलंकृत उक्तियाँ और शब्द-शक्ति
- आधुनिक अलंकृत उक्तियों में भाव और वस्तु-व्यंजना
- उपसंहार

५

आधुनिक हिन्दी-कविता में उपमान-योजना

काव्य में उपमान-योजना[1] का बहुत बड़ा महत्त्व है। इसका सम्बन्ध केवल उपमालंकार से ही नहीं है, अपितु समस्त औपम्यमूलक अलंकारों से है। 'नाट्यशास्त्र' में काव्य के केवल चार ही अलंकारों का उल्लेख उपलब्ध होता है,[2] जिनमें एक शब्दालंकार और तीन अर्थालंकार हैं। अर्थालंकारों में से उपमा का क्षेत्र इतना व्यापक माना है कि शेष अधिकांश अलंकार इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस प्रकार भरतमुनि का उपमा से तात्पर्य समस्त औपम्यमूलक अलंकारों से है। विद्वानों की 'उपमा कालिदासस्य' की उक्ति में भी उपमामूलक सभी अलंकारों का सौन्दर्य समाविष्ट है। चन्दबरदाई ने 'पृथ्वीराज रासो' में अनेक स्थलों पर सादृश्य-योजना को उपमालंकार के अभाव में भी उपमा ही अभिधान दिया है।[3] सूर और तुलसी

---

१. उपमा और उपमान के लिए अन्य शब्द भी प्रयुक्त होते हैं—उपमेय को प्रस्तुत, प्रासंगिक, प्राकरणिक,प्रकृत तथा प्रधान और उपमान को अप्रस्तुत, अप्रासंगिक, अप्राकरणिक, अप्रकृत तथा अप्रधान भी कहा जाता है।

२. उपमादीपकं चैव रूपकं-यमकं तथा ।। नाट्यशास्त्र १६ । ४३ ।।

३. उपमा चन्द जंपै सुअच्छ ।। पृष्ठ १०२२ ।।
दिखि सेन तिनं उपमा सुकरी ।। पृष्ट १०३७ ।।
सो कवि इह उप्पम कही ।। पृष्ठ १२६६ ।।
—पृथ्वीराज रासो।

ने भी उपमा का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है।[1] इस प्रकार अधिकांश अलंकारों का विधान सादृश्य के आधार पर किया जाता है। इसीलिये रुय्यक ने कहा है कि प्रकारभेद से उपमालंकार ही अनेक अलंकारों का मूल है।[2] अलंकार शास्त्र में उपमामूलक अलंकारों का सर्वाधिक महत्त्व है। यदि इन्हें छोड़ दिया जाय तो अलंकारशास्त्र में प्रायः कुछ बचता ही नहीं। इसीलिए राजशेखर ने अलंकारों को मुकुटमणि, काव्यश्री का सर्वस्व तथा कवियों की माता कह कर उपमा का स्तवन किया है।[3] अप्पय दीक्षित का कथन है कि काव्यरूपी रंगशाला में उपमारूपी नटी चित्रभूमिका के भेद से अनेक रंगरूपों में आकर नाचती हुई काव्य-मर्मज्ञों का मनोरंजन करती है।[4] इतना ही नहीं बल्कि ब्रह्मज्ञान से जैसे विचित्र विश्व का ज्ञान होता है, वैसे ही उपमा के ज्ञान से भी उसका ज्ञान होता है।[5]

उपमेय में उपमान की योजना का मनोविज्ञान यह है कि जब कवि अपने मनोगत भाव या आवेग को व्यक्त करना चाहता है, तो उसका आलम्बन खोजता है; कभी वह प्रकृति के चेतन रूपों और तत्वों में उसे मिल जाता है और कभी पृथ्वी के जड़ पदार्थों में। कोई विषय या भाव ऐसा नहीं है जो उपमान-योजना के द्वारा अधिक प्रभाव और सुन्दरता के साथ ग्रहण न कराया जा सके। दैनिक जीवन

---

१. दूध-दंत-दुति कहि न जात कछु अद्भुत उपमा पाई।
किलकत-हंसत दुरति प्रकटति मनु घन में बिज्जु छटाई॥
—दशमस्कन्ध, ७२६।

मानौ सुक-मौन-सनि-गुरु मिलि ससि कै बीच रसाल री।
उपमा बरनि न जाइ सखी री सुन्दर-मदनगोपाल री॥
—दशमस्कन्ध, ७५८।

उपमा एक अभूत भई तब जब जननी पट पीत ओढ़ाए।
नील जलद पर उडुगन निरखत तजि सुभाव मनों तड़ित छिपाये॥
—गीतावली, २६।

२. उपमैव च प्रकार वैचित्र्येण अनेकालंकारबीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्टा।
—काव्यालंकार।

३. अलंकार शिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
उपमा कवि अंशस्य मातैवेति मतिर्मम॥ अलंकारशेखर।

४. उपमैषाशैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदात्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥ चित्रमीमांसा।

५. तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानात्। ज्ञातंभवति॥
—चित्रमीमांसा।

में हम दो वस्तुओं का सादृश्य बतला कर अपने हृदय के भावों को सम्यक् प्रकारेण व्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं; काव्य में इसका महत्त्व साधारण-ज्ञान-बोध-प्रक्रिया तक ही सीमित नहीं है, काव्य में उपमान-योजना ज्ञान-बोध के साथ चारुत्व की भी सृष्टि करती है। यदि उपमान-योजना में सुन्दरता, सरसता, चमत्कार और विषय-बोध कराने की क्षमता नहीं है, तो काव्य में उसका कोई महत्त्व नहीं होगा। इसीलिए तो आचार्य वामन ने सादृश्य को कविप्रतिभात्मक और विच्छित्तिविशेषात्मक कहा है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी कहा है कि वाक्यार्थ को सुशोभित करने वाले सुन्दर सादृश्य का नाम उपमा अलंकार है। सुन्दरता का अर्थ चमत्कारक होना और चमत्कार का अर्थ है वह विशेष प्रकार का आनन्द जो सहृदयों का हृदयाह्लादक होता है।[1] सहृदय हृदय ही सुन्दरता का यथार्थ ज्ञाता है।

उपमान-योजना सादृश्य और साधर्म्य पर आश्रित रहती है। भावों द्वारा कल्पना को जितनी ही अधिक प्रेरणा प्राप्त होती है, उपमान-योजना उतनी ही अधिक सुन्दर और सार्थक होती है। तर्कपूर्ण विचारों से काव्य में उपमान-योजना नहीं होती; क्योंकि कवि किसी एक ही प्रकार के सादृश्य से सन्तुष्ट हो जाता है, लेकिन तार्किक इस अपूर्णता से असन्तुष्ट रहेगा।[2] यही बात साधर्म्य के लिए भी सत्य है। यदि सादृश्य या साधर्म्य के संकेतमात्र से भाव-प्रसार हो जाता है तो काव्य में उनके पूर्णारोप की अपेक्षा नहीं होती।

अब हम आलोच्य काल की उपमान-योजना पर विचार करेंगे। बीसवीं शताब्दी-हिन्दी-कविता के प्रवृत्तिपरक तीन विभाग हो सकते हैं—

(१) द्विवेदी-युग —सन् १९०१ से १९२० ई० तक
(२) छायावाद-युग —सन् १९२१ से १९३५ ई० तक।
(३) प्रगति-प्रयोगवाद-युग —सन् १९३६ से....................।

---

१. सादृश्यं सुन्दर वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालंकृति :।
चारुत्वं च चमत्काराधायकत्वं चमत्कारश्चानन्दविशेषः [illegible]।
—रसगंगाधर।

2 While the Voluntary thought only deals with likeness of practical value in reasoning, the poetic thought is free to recognise likeness of any kind whatsoever. For it likeness need not be extended; a likeness in any single point to afford a link for the mind is sufficient. Volunlary thought must see the resembleness and point out in what it consists-i.e.explain it poetic thought is satisfied with a mere recongnition of the resemblance, and may not be able at all to define it. This cannot be seen but felt.

—The Poetic Mind.
by, Presscott.

यह वर्ग-विभाजन अत्यन्त स्थूल तथा सामान्य है और केवल प्रवृत्तियों की विभिन्नता की ओर संकेत करता है; क्योंकि समर्थ कवियों को वर्ग की परिधि में बाँध रखना असम्भव है।

सन् १९०३ से १९२० तक 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी की बड़ी सेवा की है। द्विवेदी जी के सम्पादनकाल में 'सरस्वती' एक संस्था बन गई थी। उसने खड़ी बोली को काव्य-भाषा बनाने का बहुत बड़ा कार्य किया। द्विवेदी-युग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन यही है। द्विवेदी-युग के काव्य में नैतिक बुद्धिवाद का प्राधान्य था। प्रेम तथा शृंगार लुप्त हो चला था और इतिवृत्तात्मकता पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी। जन्म से ही कविता के बन्धन सीमा तक पहुँच चुके थे और इस युग तक तो काव्य-सृष्टि के बाह्याकार पर इतनी प्रचुर मात्रा में लिखा जा चुका था कि सन् १९२० के आस-पास कवि का हृदय बन्धनों से मुक्त होकर स्वच्छन्द अभिव्यक्ति तथा आत्म-दर्शन के लिये विद्रोह कर उठा। "वास्तव में जब मनुष्य स्थूल-संघर्ष से दब जाता है, तब उसकी प्रवृत्तियां क्रांति की ओर अग्रसर होती हैं। इसी को साहित्यिक भाषा में स्थूल के प्रति सूक्ष्मक विद्रोह कहा जाता है। इतिवृत्तात्मकता का सम्बन्ध स्थूल शरीर से है, बाह्य सौंदर्य से है, आन्तरिक तथा सूक्ष्म से नहीं।" यह इतिवृत्तात्मकता या स्थूलोपासना द्विवेदी-युग में एक निर्दिष्ट सीमा तक पहुँच चुकी थी। ऐसी परिस्थितियों में इसकी प्रतिक्रिया होना अनिवार्य था, क्योंकि प्रतिक्रिया जीवन का तत्व है। अतः स्थूल के प्रति सूक्ष्म ने विद्रोह किया, परिणामस्वरूप छायावाद का जन्म हुआ। इस युग में भारतेन्दु या द्विवेदी के समान ऐसा कोई व्यक्तित्व नहीं था जो सब पर छा जाता और अन्य लोग उससे प्रेरणा प्राप्त करते। इसी से इस युग का नामकरण किसी व्यक्ति के नाम पर न होकर एक प्रमुख प्रवृत्ति के नाम पर हुआ है।

अंग्रेजी के रोमान्टिसिज्म की भांति प्रायः छायावाद का उद्भव हुआ है। इस धारा के अधिकांश कवियों ने शैली, कीट्स, वर्डस्वर्थ, आदि रोमांटिक आंग्ल-कवियों से प्रेरणा प्राप्त की। उन्नीसवीं शताब्दी का अन्त होते-होते हिन्दी-साहित्यकार बंगला-काव्य से परिचित हो रहे थे। उसका भी प्रभाव इस युग पर पड़ा।

छायावाद एक कला-आन्दोलन है। इसमें भावना और कल्पना की रंगीनी-रम्याद्भुत का प्राधान्य है। इस युग का कवि सत्यं, शिवं, सुन्दरम् में से केवल सुन्दरम् का उपासक है। छायावादी कवि के सूक्ष्म-मुखी होने के कारण उसकी सौंदर्य-प्रियता भी अमूर्त और अशरीरी है। यह अमूर्तता, सूक्ष्मता छायावादी काव्य की विशेषता है, जिसका प्रभाव उसकी उपमान योजना पर भी पड़ा है। अन्य युगों के कवियों की भाँति छायावादी कविया ने भी उपमान-योजना का आश्रय लिया है। इस युग की उपमान-योजना की विशेषतायें हैं—मूर्त की अमूर्त्तोपमा और अमूर्त की मूर्तोपमा। जब उपमान के द्वारा बिम्ब-ग्रहण कराया जाता है, तब सादृश्य पर

अधिक ध्यान दिया जाता है और जब भाव को तीव्र कराना अभिप्रेत होता है, तब केवल साधर्म्य से काम चलाया जाता है; किन्तु दोनों में प्रभाव-साम्य छिपा रहता है। मूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त-प्रस्तुत-योजना का उद्देश्य स्थूल में निहित सूक्ष्म अर्थ को तीव्र कराना रहता है। उदाहरणार्थ—

छूते थे मनु और कंटकित होती थी वह बेली,
स्वस्थ व्यथा की लहरों-सी जो अंग लता थी फैली।

—कामायनी।

उसकी देह लता-सदृश फैली थी जैसे स्वस्थ व्यथा की लहरें हों। कहने का तात्पर्य यह है कि उसकी देह-लता में गहरी व्यथायें उठ रही थीं। श्रद्धा के लिये व्यथा की लहर का उपमान अमूर्त है। इस प्रकार के अमूर्त भावात्मक उपमान अमूर्त भावों को भी रूप प्रदान करते हैं। अमूर्त उपमान-योजना द्वारा नारी-सौंदर्य का वर्णन बहुत ही मनमोहक हुआ है—

चन्द्र की विश्राम राका बालिका-सी कांत।
विजयिनी-सी दीखती तुम माधुरी-सी शांत॥

—कामायनी।

हे नारी! तुम विश्रामदायिनी-चन्द्र की कान्त चन्द्रिका हो या बालिका-सी सुन्दर हो। विजयिनी होती हुई भी माधरी-सी मधुरता-सी, शान्त हो। नारी प्रस्तुत का सौंदर्य अमूर्त उपमान माधुरी से विशुद्धरूप में व्यञ्जित हुआ है।

निराला जी की 'विधवा' नामक कविता में प्रत्येक उपमान बड़ी ही सार्थकता से प्रयुक्त हुआ है। कराल-काल ने ताण्डव करते समय उस बेचारी विधवा के जीवन-धन के जीवन-दीप को बुझा दिया। उस ताण्डव की एक कठोर रेखा रह गई है। उसी विधवा का यह मार्मिक चित्रण है—

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शांत, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-तांडव की स्मृति रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की वही विधवा है।

—परिमल

इसमें प्रस्तुत विधवा मूर्त है और अप्रस्तुत कुछ मूर्त तथा अमूर्त दोनों हैं। मन्दिर की पूजा-सी, काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी अमूर्त अप्रस्तुत हैं। दीप-शिखा-सी शांत, टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन यद्यपि मूर्त अप्रस्तुत हैं, किन्तु दीनता के भाव की प्रबलता के कारण इन्हें भी अमूर्त अप्रस्तुत कह सकते हैं। इसी

प्रकार पन्त जी ने भी साकार जल की बूंद के साम्य के लिये गान, चाह, सुधि आदि अनेक अमूर्त अप्रस्तुत योजनायें की हैं—

जब अचानक अनिल की छवि में पला,
एक जल-कण, जलद-शिशु-सा, पलक पर,
आ पड़ा सुकुमारता-सा, गान-सा,
चाह-सा, सुधि-सा, सगुन-सा, स्वप्न-सा ।

—ग्रन्थि ।

इस प्रकार के व्यापार का तो छायावादी काव्य में प्राचुर्य है । पन्त जी ने कतिपय उपमाओं में मूर्त उपमेयों के लिये अमर्त उपमानों की योजना कर अचेतन को भी चेतन स्वरूप प्रदान किया है—

(क) गिरिवर ने उर से उठ-उठ कर
उच्चाकांक्षाओं से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर,
अनिमेष, अटल, कुछ चिंता पर ।

—पल्लव ।

(ख) कभी लोभ-सी लम्बी होकर,
कभी तृप्ति-सी हो फिर पीन ।

—पल्लव ।

(ग) धीरे—धीरे संशय—से उठ,
बढ़ अपयश-से शीघ्र अछोर,
नभ के उर में उमड़ मोह-से,
फैल लालसा – से निशि भोर ।

—पल्लव ।

प्रथम उदाहरण में तरु मूर्त है, आकांक्षायें अमूर्त, द्वितीय में छाया मूर्त है । लोभ और तृप्ति अमूर्त तथा तृतीय उदाहरण में बादल मूर्त है, संशय, अपयश, मोह एवं लालसा अमूर्त । सामान्य रूप से उपमाओं का कार्य इतने ही में समाप्त हो जाता है, किन्तु पन्त जी ने अपनी उपमाओं की पूरी मूर्ति निर्मित की है । 'पहाड़ पर ऊँचे-ऊँचे वृक्ष खड़े हैं' यह एक सामान्य कथनमात्र होता है; पर प्रथम पंक्ति में ही उन्होंने 'उर' शब्द का प्रयोग बड़े कौशल से किया है । गिरि के उर से तरुवर वैसे ही उठकर आकाश की ओर जा रहे हैं, जैसे व्यक्ति के उर से उच्चाकांक्षायें । ऐसी स्थिति में पहुँच कर पेड़ों को नीरव नभ का ताकना और व्यक्ति का दूर सूने में दृष्टि गड़ाये खड़ा होना बहुत ही परिचित व्यापार प्रतीत होता है । शेष दोनों

उपमायें भी बड़ी सार्थक हैं। इसी प्रकार की उपमायें महादेवी जी के भी काव्य में प्रयुक्त हुई हैं। उदाहरणार्थ, वह घटा छा जाने को मधुभार-सा कहती हैं—

शून्य नभ में जब उमड़ मधुभार-सी,
नैश तम में सघन छा जाती घटा,
बिखर जाती जुगुनुओं की पंक्ति भी,
जब सुनहले आँसुओं की हार-सी,
तब चमक जो लोचनों को मूँदता,
तड़ित की मुस्कान में वह कौन है। —यामा

यहाँ 'घटा' का घिरना 'मूर्त' है, पर 'मधुर-सा' अमूर्त है। मस्ती भी छा जाती है। यह मस्ती ही मधुभार है। अमूर्त उपमानों द्वारा 'दिनकर' ने भी बालिका का वर्णन बहुत सुन्दर किया है—

लदी हुई कलियों से मादक टहनी एक नरम-सी।
यौवन की विनती-सी भोली गुम-सुम खड़ी शरम-सी॥
—रसवंती : दिनकर।

इसमें प्रथम पंक्ति का प्रस्तुत तो मूर्त है, किन्तु द्वितीय पंक्ति के अप्रस्तुत विनती और शरम अमूर्त हैं।

काव्य में मूर्त की अमूर्त अप्रस्तुतयोजना इतनी कठिन नहीं समझी जाती, जितनी अमूर्त की मूर्त अप्रस्तुत योजना। आधुनिक हिन्दी-कविता में अमूर्त के मूर्त प्रयोग बहुत कम हुए हैं। संस्कृत-साहित्य में तो इस प्रकार के उदाहरणों का बाहुल्य है। उदाहरणार्थ, 'अभिज्ञान शकुन्तलम्' के प्रारम्भ में जब राजा दुष्यन्त शकुन्तला के साथ प्रणय-सम्बन्ध स्थापित कर अनिच्छापूर्वक अपनी राजधानी जा रहे हैं, उसी समय के वर्णन में कवि-कुल गुरु कालिदास ने जो अप्रस्तुतयोजना की है, वह अतिभव्य है—"जैसे रथ के आगे बढ़ने से उसमें लगी हुई रेशमीध्वजा पीछे की ओर जाती है, उसी प्रकार दुष्यन्त का शरीर तो आगे की ओर बढ़ रहा है, चिन्तु चंचल चित्त पीछे की ओर जा रहा है।"[१] इसमें उपमेय चित्त अमूर्त है और उपमान चीनांशुक मूर्त। दोनों में पीछे की ओर जाने का सादृश्य और साधर्म्य कितना सुन्दर और सानुपातिक है। यह उपमान दुष्यन्त के प्रणयासक्त मानस की अवस्था को पूर्णरूपेण प्रत्यक्ष कर देता है। इसी प्रकार विषाद एक भाव है, जो अमूर्त है। प्रसाद जी ने इसी अमूर्त की मूर्त अप्रस्तुत योजना 'विषाद' शीर्षक कविता में की है—

---

१ गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्थितं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य॥
—अभिज्ञान शाकुन्तलम्।

कौन प्रकृति करुण का काव्य-सा
वृक्ष-पत्र की मधुछाया में;
लिखा हुआ-सा अचल पड़ा है
अमृत-सदृश नश्वर काया में ?

अखिल विश्व के कोलाहल से—
दूर सुदूर निभृत निर्जन में
गोधूली के मलिनाञ्चल में,
कौन जंगली बैठा मन में ?

शिथिल पड़ी प्रत्यञ्चा किसकी ?
धनुष भग्न सब छिन्न जाल है;
बंशी नीरव पड़ी धूलि में
तरकस का भी बुरा हाल है।

× ×

निर्झर कौन बहुत बल खाकर
बिलखाता ठुकराता फिरता,
खोज रहा है स्थान धरा में
अपने ही चरणों में गिरता ?

किसी हृदय का यह विषाद है
छोड़ो मत यह सुख का कण है;
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ
करुणा का यह थका चरण है।

—झरना।

इसी प्रकार विरह-दशा का भी वर्णन किया है :-

जल उठा स्नेह दीपक-सा नवनीत हृदय था मेरा।
अब शेष धूम-रेखा से चित्रित कर रहा अंधेरा॥

—आँसू।

यहाँ विरह-दशा को दीपक की धूम-रेखा का चित्र कहना बहुत ही व्यञ्जना पूर्ण है। दीपक की लौ की प्रकाशित दशा और बुझी दशा की धूम्रमयता का अन्तर संयोग की सुखदता और वियोग की दुखदता के अन्तर की भाँति है। दीपक जल चुका, केवल धूम अवशेष है। संयोग के सुखद प्रकाश से प्रेमी वियोग के अंधकार में पड़ गया है। यहाँ साम्य प्रभावाश्रित है। हृदय मक्खन-सा स्निग्ध था, जिसमें दीपक-सा स्नेह जल उठा। यहाँ स्नेह अमूर्त प्रस्तुत के लिए मूर्त अप्रस्तुत दीपक व्यवहृत हुआ

है। इसी प्रकार प्रसाद जी ने और भी सूक्ष्म प्रस्तुतों के लिए स्थूल अप्रस्तुतों का विधान किया है जो उनकी कल्पना-प्रवणता का द्योतक है--

(अ) मकरंद मेघ माला-सी वह स्मृति मदमाती आती।
(ब) क्यों व्यथित व्योमगंगा-सी, छिटका कर दोनों छोरें।
चेतना-तरङ्गिनि मेरी लेती है मृदुल हिलोरें॥

—आँसू।

पंत जी ने भी अमूर्त प्रस्तुत उच्छ्वास के लिये मूर्त अप्रस्तुत लाल-बादल और गम्भीर मेघ दोनों की योजना की है–

सिसकते, अस्थिर मानस से
बाल-बादल-सा उठ कर आज
सरल, अस्फुट उच्छ्वास।
अपने छाया के पंखों में
(नीरव घोष भरे शंखों में)
मेरे आँसू गूंथ, फैल गम्भीर मेघ-सा,
आच्छादित कर ले सारा आकाश

—पल्लव

इसमें उच्छ्वास को मेघ के समान व्याप्त होने की कामना की गई है।

आधुनिक हिन्दी-कविता में मूर्त प्रस्तुत की मूर्त अप्रस्तुत योजनायें भी मार्मिक हुई हैं। यथा–

सुना यह मनु ने मधु गुंजार,
मधुकरी का सा जब सानन्द।
किए मुख नीचा कमल सामान,
प्रथम कवि का ज्यों सुन्दर छंद॥

—कामायनी।

मनु ने ग्रीवा को झुकाए हुए श्रद्धा के कमल के समान सुन्दर मुख की भ्रमरी की गुंजार जैसी मिठास भरी यह वाणी प्रसन्न मन से सुनी। वह मधु गुंजार प्रथम कवि बाल्मीकि के छन्द जैसा सुन्दर था। इसमें गुंजार, कमल और छंद मूर्त हैं। जब मुख कमल हुआ तब वाणी को मधुकरी का गुंजार कहना सार्थक ही है। छंद भी श्लोक रूप में था। गुंजार का श्रवण प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार सिंधु-लहरियों को फन फैलाये व्यालों से उपमा देने में बड़ी सार्थकता है—

उधर गरजती सिंधु-लहरियाँ कुटिल काल के जालों-सी।
चली आ रहीं फेन उगलती फन फैलाये व्यालों-सी।।

—कामायनी

मंद मरुत के मंद प्रवाह से छोटे-छोटे उज्ज्वल मेघ पहाड़ पर इधर-उधर बिखर जाने के भाव की पंत जी ने रूपक द्वारा बड़ी ही सुन्दर व्यंजना की है—

शिखर पर विचर मरुत रखवाल,
वेणु में भरता था जब स्वर।
मेमनों से मेघों के बाल,
फुदकते थे प्रमुदित गिरि पर।।

—पल्लव।

यहां मेमनें और मेघ दोनों ही मूर्त हैं। इसी प्रकार मूर्त पहाड़ों की उपमा मूर्त हाथियों से देते हुए कहा है—

द्विरद-दंतों से उठ सुन्दर, सुखद कर-सीकर से बढ़ कर,
भूति से शोभित शिखर बिखर फैल फिर कटि के से परिकर,
बदल यों विविध वेष जलधर बनाते थे गिरि को गजवर।।

—पल्लव।

निराला जी ने 'पंचवटी-प्रसंग' में गोदावरी-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए मूर्त प्रस्तुत की मूर्त अप्रस्तुत योजना की है—

बीच-बीच पुष्प गुंथे किन्तु तो भी बंधहीन
लहराते केशजाल जलद श्याम से क्या कभी
समता कर सकता है ?
नील नभ तड़ित्तारिकों का चित्र ले
क्षिप्रगति चलती अभिसारिका यह गोदावरी।

—अनामिका।

इन पंक्तियों में शूर्पणखा ने अपने पुष्पों से गुंथे केशों की तुलना तारों भरी रात में गोदावरी की लहरों से की है।

अमूर्त प्रस्तुत की अमूर्त-योजना कवि की प्रतिभा–सूचक हैं। ऐसी अप्रस्तुत-योजनाओं की भी आधुनिक हिन्दी-कविता में न्यूनता नहीं है—

निकल रही थी मर्म वेदना करुणा विकल कहानी–सी।
वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही हंसती–सी पहिचानी–सी।।

—कामायनी।

मनु अपनी गहरी मर्मव्यथा की कथा कह रहे थे, जो करुणा से परिपूर्ण कहानी थी। प्रकृति की उपेक्षा से शोक और गहरा हो गया है। यहाँ उपमेय और उपमान दोनों ही अमूर्त है।

दूर से जब कोई वस्तु कठोर वस्तु पर जोर से गिरती है, तब उसका घोष भी भीषण होता है। स्वप्न-सुख जब प्रस्तर हृदय पर गर्व-सा आ पड़ा, तो क्यों नहीं भीषण निर्घोष करेगा ! तभी तो उसे वज्र, भूकम्प और उत्पात सदृश कहा गया है—

गर्व-सा गिर उच्च निर्झर स्रोत से
स्वप्न-सुख मेरा शिलामय हृदय में
घोष भीषण कर रहा है वज्र-सा-
वात-सा, भूकम्प-सा, उत्पात-सा ॥

—ग्रंथि।
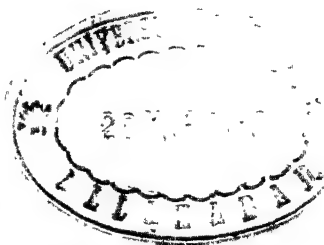
इसमें स्वप्न-सुख उपमेय अमूर्त्त है और उसके सभी उपमान अमूर्त हैं।

पीड़ा की कसक दुखदायिनी होती है, फिर भी वह इसलिए सुन्दर प्रतीत होती है कि वह सुख का कारण होती है। इसी से तो विरह हँस उठता है और प्राणों में एक पुलक का संचार हो जाता हैं—

आवे बन मधुर मिलन क्षण पीड़ा की मधुर कसम-सा।
हँस विरह उठे ओठों में प्राणों में एक पुलक-सा ॥

—यामा : महादेवी।

यहाँ मिलन-क्षण और विरह दोनों उपमेय अमूर्त तथा मधुर कसक और एक पुलक उपमान अमूर्त हैं।

छायावादी कवियों की अन्तर्दृष्टि ने यदि एक ओर लघु-लघु अमूर्त उपमाओं का विधान किया है, तो दूसरी ओर विराट उपमाओं की भी योजना की है। साम्य-विधान जितने ही विराट आधार पर प्रतिष्ठित होता है, हृदय में उतनी ही विराट भावना का उद्भव होता है। इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा है– "साम्य का आरोप भी निस्संदेह एक बड़ा विशाल सिद्धान्त लेकर काव्य में चला है। वह जगत के अनन्तरूपों या व्यापारों के बीच फैले हुए उन मोटे-महीन सम्बन्ध-सूत्रों की झलक सी दिखला कर नीरसता के सूनेपन का भाव दूर करता है, अखिल सत्ता के एकत्व की आनन्दमयी भावना जगा कर हमारे हृदय का बंधन खोलता है। जब हम रमणी के मुख के साथ कमल, स्मिति के साथ अधखिली कालिका सामने पाते हैं, तब हमें ऐसा अनुभव होता है कि एक ही सौन्दर्य-धारा से मनुष्य भी और

पेड़-पौधे भी रूप-रंग प्राप्त करते हैं।''[1] किन्तु यह कार्य समर्थ और विराट कल्पना वाले ही कवि कर सकते हैं। छायावादी कवियों को इस कार्य में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। उदाहरणार्थ निराला जी तो अपने विराट चित्रों के लिये प्रसिद्ध ही हैं। भगवान राम युद्ध स्थल से लौट रहे हैं। उनकी जटायें बिखर कर भुजाओं, वक्ष और पीठ पर फैल गई हैं तथा नेत्र चमक रहे हैं। निराला जी राम के इस रूप की उपमा उस पहाड़ से देते हैं जो रात्रि के अन्धकार से आच्छादित हो चला है और जिसके ऊपर दो तारिकायें चमक रही हैं—

दृढ़ जटा-मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर, विपुल
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार,
चमकती दूर तारायें ज्यों हों कहीं पार।

इस वर्णन से राम के रूप की विराटता का हृदय में अभ्युदय होता है। इसी प्रकार पंत जी ने अम्बुधि के रूप में सैकड़ों फन उठाये हुए विशाल भुजंगम का चित्रांकन किया है—

आलोड़ित अम्बुधि फेनोन्नत कर शत-शत फन।
मुग्ध भुजंगम-सा, इंगित पर करता नर्तन॥
—आधुनिक कवि।

महादेवी जी ने अवनि और अम्बर को विशाल सीपी बना कर उसमें अपार जलधि के तरल मोती की प्रतिष्ठा करते हुए छायावादी काव्य की विराट कल्पना का भद्र प्रमाण प्रस्तुत किया है—

अवनि अम्बर की रुपहली सीप में
सरल मोती-सा जलधि जब कांपता।
तैरते घन मृदुल हिम के पुञ्ज-से
ज्योत्सना के रजत पारावार में।
—यामा।

छायावादी कवियों ने अधिकांश अप्रस्तुत प्रकृति के उपकरणों से प्राप्त किये हैं। जड़ से चेतन का साम्य दिखला कर चेतन में चेतनता को और अधिक तीव्र कर दिया है। उदाहरणार्थ—

उषा की पहली लेखा कान्त,
माधुरी से भींगी भर मोद।

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास।

मदभरी जैसे उठे सलज्ज,
भोर की तारक-द्युति की गोद ।।

\+ + + +

नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग ।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ बन बीच गुलाबी रंग ।।

\+ + + +

गिर रहे थे घुंघराले बाल,
अंस अवलम्बित मुख के पास ।
नील घन-शावक से सुकुमार,
सुधा भरने को विधु के पास ।।

—कामायनी ।

प्रकृति से लिये गये अप्रस्तुतों के कारण श्रद्धा का यह वर्णन बहुत ही सजीव और स्वाभाविक हो उठा है । "प्रकृति को चेतनस्वरूप प्रदान करना तो छायावादी कवियों की अपनी विशेषता है ।" 'जुही की कली' आदि कवितायें इसी प्रकार की हैं । ऐसी कविताओं में अप्रस्तुत का ही महत्त्व रहता है, किन्तु अप्रस्तुत का चित्रण इतना सजीव होता है कि प्रस्तुत भी प्रस्फुटित हो उठता है । छायावादी काव्य-धारा के अन्तर्गत किये गये साम्य-विधान में मानवीय तत्त्वों का आरोप बहुत ही सौन्दर्य-वर्धक हुआ है । प्रकृति के निम्न चित्र में मानवीय सादृश्यतत्त्व ही प्रधान आकर्षण का केन्द्र है—

स्नेह–निर्झर बह गया है ।
रेत तम ज्यों रह गया है ।
आम की यह डाल जो सूखी दिखी,
कह रही है—
अब यहाँ पिक या शिखी
नहीं जिसका अर्थ—
नहीं आते, पंक्ति में वह है लिखी
जीवन दह गया है ।
—अणिमा : निराला ।

निम्नांकित पंक्तियों में नव-यौवन के आगमन की अभिलाषा कुंज, मदिरा, प्याली आदि के माध्यम से व्यक्त हुई है—

मंजरित विश्व में यौवन के
जगकर जग का पिक, मतवाली

निज अमर प्रणय-स्वर-मदिरा से
भर दे फिर नवयुग की प्याली।

--युगांत : पंत।

'संध्या के पद' और 'पुलक पंख' जैसे पद महादेवी की कविता में सूक्ष्म अनुभूति-पद्धति को रूप प्रदान करते हैं—

नित सुनहली सांझ के पद से लिपट आता अंधेरा;
पुलकपंखी विरह पर उड़ आ रहा है मिलन मेरा;

कौन जाने है बसा उस पार
तम या रागमय दिन ॥

—यामा।

छायावाद की यह मानवीकरण-पद्धति अलंकार की रूपक पद्धति से भिन्न है। रूपक में प्रस्तुत का महत्व बना रहता है और अप्रस्तुत आरोपित होता है, किन्तु मानवीकरण में अप्रस्तुत ही सर्वस्व रहता है और प्रस्तुत व्यंग्य होता है।

हिन्दी के अधिकांश विद्वानों ने साम्य केवल दो ही प्रकार का माना है— १. रूप-साम्य और २. गुण-धर्म-साम्य और द्वितीय के अन्तर्गत ही प्रभाव साम्य को ले लिया है। सौन्दर्यवर्धक साम्य-विधान के लिये तीनों ही अपेक्षित हैं। छायावादी कवियों ने प्रभाव-साम्य को ही सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है और अप्रस्तुत योजना की वास्तविकता भी यही है कि यदि कवि द्वारा की गई अप्रस्तुत योजना में प्रस्तुत के समान ही आकर्षण और प्रभविष्णुता नहीं है, तो वह निरर्थक समझी जायगी। प्रभाव साम्य के लिये तो छायावादी कवियों ने कहीं-कहीं रूप और गुण की भी उपेक्षा की है। प्रभाव-साम्य के ही दृष्टिकोण से समस्त अर्थवत्ता अलियों के मधुपान-चित्रण से व्यंजित करते हुये निराला जी ने कहा है—

आंखें अलियों-सी,
किस मधु की गलियों में फंसी
बंद कर पांखें ?
पी रही मधु मौन ?
अथवा सोई कमल-कोरकों में ?
बंद हो रहा गुंजार।
जागो फिर एक बार।

—परिमल

निम्नांकित पंक्तियों में केवल प्रभाव–साम्य ही है—

तड़ित है उपहार तेरा
बादलों-सा प्यार मेरा ।
—दीपशिखा : महादेवी ।

प्रभाव-साम्य-योजना में गुण-क्रिया के साम्य की भी व्यंजना रहती है, रूप-रंग के माध्यम से प्रभाव की समानता भी नियोजित रहती है। छायावादी काव्य में नीलम, रजत, स्वर्ण, प्रवाल, मरकत, हीरक आदि रंगों वाले जो पदार्थ प्रयुक्त हुये हैं, उनमें प्रभाव, साम्य के साथ-साथ वर्ण-साम्य भी रहता है। पंत जी ने निम्नलिखित उदाहरणों में वर्ण-साम्य को ही लक्ष्य रखा है—

अरुण अधरों का पल्लव-प्रात
मोतियों-सा हिलता हिय-हास
—गुंजन : पंत ।

यहां तो झरते निर्झर
स्वर्ण-किरणों के निर्झर
स्वर्ण-सुषमा के निर्झर ।
—स्वर्ण धूलि : पंत ।

तूल-सी मार्जार-बाला सामने
निरत थी निज बाल-क्रीड़ा में ।
—ग्रन्थि : पंत ।

महादेवी की कविता में भी वर्ण-साम्य और प्रभाव-साम्य के लिये रंगीन पदार्थ उपमान-रूप में व्यवहृत हुए हैं—

बिखर जाती जुगुनुओं की पांति भी ।
जब सुनहले आंसुओं के हार-सी ।
—यामा ।

इन कनक-रश्मियों में अथाह
लेता हिलोर तम-सिन्धु जाग
बनती प्रबाल का मृदुल फूल जो क्षितिज-रेख थी कुहर-म्लान ।
—यामा ।

विरोधमूलक अप्रस्तुत योजना भी छायावादी अभिव्यक्ति की एक प्रमुख पद्धति है। इसकी दो प्रणालियां है। प्रथम में तो दो विरोधी धर्मों वाले पदार्थों

का प्रभाव साम्य स्थापित किया जाता है और द्वितीय में विरोधपूर्ण शब्दों का प्रयोग किया जाता है। प्रथम प्रणाली का उदाहरण:—

ताज है जलती शिखा चिनगारियां श्रृंगारमाला,
ज्वाल अक्षय कोष है अंगार मेरी रंगशाला;
नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर हूं।

—यामा।

ताज और शिखा, चिनगारियां और श्रृंगारमाला तथा अंगार और रंगशाला में धर्मगत विरोध है। प्रेमिका अपने प्रियतम की प्रेम-साधना में प्राप्त शिखा, चिनगारी और अंगार को भी ताज श्रृंगारमालिका एवं रंगशाला का पद देकर उनसे संतोष प्राप्त करती है तथा अपनी शोभा समझती है, अन्यथा जानकर भी उसके स्वेच्छा-वरण में अन्य कौन सी वृत्ति निहित कही जा सकती है। त्याग, बलिदान, कष्ट, सहिष्णुता की अभिव्यक्ति बड़े ही तीव्ररूप में हुई है।

द्वितीय प्रणाली में विरोधपूर्ण शब्द या विशेषण प्रयुक्त होते हैं। ये विरोधपूर्ण शब्द उपमान का कार्य करते हैं और बहुत ही व्यंजनापूर्ण होते हैं। इस प्रकार की अप्रस्तुत-योजना में बड़ी ही बारीकियां होती हैं। बाहर से इस प्रकार की योजना में तो विरोध दिखाई पड़ता है, किन्तु अन्तरंग में प्रविष्ट होते ही विरोध न होकर बहुत मार्मिक भाव का व्यंजक हो जाता है। उदाहरणार्थ—

अरी व्याधि की सूत्रधारिणी अरी आधि मधुमय अभिशाप।
हृदय-गगन में धूमकेतु सी पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप॥

—कामायनी।

यहाँ दो विरोधमूलक विशेषण हैं—मधुमय (अभिशाप) और सुन्दर (पाप)। चिन्ता से मन व्याकुल रहता है, इससे इसको अभिशाप कहा जाना उचित ही है, पर चिन्तित मनुष्य इससे छुटकारा पाने का इच्छुक ही नहीं दिखाई पड़ता। यदि मनुष्य निश्चिन्त हो जाये तो लोक-जीवन में सुख-साधन का कोई प्रयत्न ही न करे। यह चिन्ता ही है जो मानव-जीवन में मधुरता लाती है, इसीसे मधुमय है। चिन्ता आत्मानन्द की विधायिका है, अतः पाप-रूप होने पर भी अपने रूपों में सुन्दर प्रतीत होती है। यह ऐसी न होती तो उसकी ओर मनुष्य का आकर्षण कैसे होता? दूसरी बात यह है कि अनिष्ट कार्य होने पर भी कोई उससे मुक्त नहीं है। वह अनिवार्य है; इसी से सुन्दर है। इस विरोध-प्रदर्शन का भाव यही है। अनिच्छित वस्तु को भी लाभदायक समझकर जैसे मनुष्य ग्रहण कर लेता है, वैसे ही दुःखदायिनी चिन्ता को

भी वह मधुमय और सुन्दर समझकर ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार ज्वाला भी शीतल होती है—

शीतल ज्वाला जलती है
ईंधन होता दृग-जल का
यह व्यर्थ श्वास चल-चल कर
करता है काम अनिल का।

—आंसू।

'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' के विपरीत पंत जी कहते हैं कि—

गिरा हो जाती सनयन,
नयन करते नीरव भाषण।
श्रवण तक आ जाता है मन,
स्वयं मन करता बात श्रवण॥

भाषण भी हो और वह नीरव रहे इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि आंखें देख कर मन के भाव जान लिए जाते हैं। नीरव व्यक्ति जैसे अपनी मुख-मुद्रा से मन के भाव व्यक्त कर देता है, वैसे ही प्रेमी के नयन अपने मन के भावों को इतने सुन्दर ढंग से प्रकट कर देते हैं कि जितना वे भाषण देकर भी नहीं अभिव्यक्त किये जा सकते। महादेवी जी भी यही कहती हैं—

आँखों की नीरव भिक्षा में आँसू के मिटते दागों में
ओठों की हँसती पीड़ा में आहों के बिखरे त्यागों में,
कन-कन में बिखरा है निर्मम मेरे मानस का सूनापन।

—यामा।

आँखों की भिक्षा नीरव है, पर वह शब्द-सी निकल पड़ती है और उसमें सूनापन समाया हुआ है। मूक भिक्षा के समान ही यह नीरव भिक्षा है।

निराला जी की 'तुम और मैं' शीर्षक कविता में बाहर से तो विरोध ही परिलक्षित होता है, किन्तु अन्तरंग में एकता का ही अधिवास है। भाव-भाष, विटप-छाया, प्राण-काया और ब्रह्ममाया में सम्बन्ध-भिन्नता नहीं है, अपितु अभिन्नता है—

तुम मृदु मानस के भाव और मैं मनोरंजिनी भाषा,
तुम नन्दनवन घन विटप और मैं सुख-शीतल तलशाखा
तुम प्राण और मैं काया, तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म,
मैं मन मोहिनी माया।

—परिमल।

इन पंक्तियों में दो वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को परम्परित रूपक में कहने का प्रयास किया गया है, जिसमें एक रूपक के आरोपित हो जाने पर परम्परा-सम्बन्ध-निर्वाह के लिये दूसरा अप्रस्तुत आरोपित होता है। इसी प्रकार डाक्टर रामकुमार वर्मा ने अपने को 'विश्व नर्तकी की विराट चेतना के नूपुरों का हास' कहा है, जो उन चरणों में लिपटा हुआ अलंकृत होता है। वे चरण यदि मौन गति कहते हैं, तो यह झंकार का हास्य उसको रागयुक्त बनाता है--

मैं तुम्हारे नूपुरों का हास,
चरण में लिपटा हुआ करता रहूँ चिर वास।
मैं तुम्हारी मौन गति में भर रहा हूँ राग,
बोलता हूँ यह जताने हूँ तुम्हारे पास।
चरण-कम्पन का तुम्हारे हृदय में मधुभाव,
कर रहा हूँ मैं तुम्हारे कण्ठ का अभ्यास।

—चन्द्रकिरण।

बच्चन ने अपने जीवन के 'खारे जल' एवं 'हलाहल' को किसी के मधुर स्वर में मधुमय बना कर विरोधी प्रतीकों से वैषम्य को तीव्र किया है। इसमें प्रस्तुत–अप्रस्तुत का विरोध नहीं है, अपितु विरोधी परिस्थितियों की ओर लक्ष्य है--

मेरे जीवन का खारा जल
मेरे जीवन का हालाहल
कोई अपने स्वर में मधु लय भर बरसाता, मैं सो जाता।

—एकान्त संगीत।

छायावादी काव्य-धारा में हिन्दी-कविता रीतिकालीन [illegible] और द्विवेदीयुगीन अतिनीतिवादी परम्परा का विद्रोह कर के आगे बढ़ गई। नये-नये उपमानों की इस युग में उद्भावना की गई, किन्तु कवि प्राचीन उपमानों के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं हो सके। "संस्कृत-साहित्य के सम्पर्क से अलंकारों की अनेक शैलियाँ हमारे साहित्य में सैकड़ों वर्षों से प्रचलित हैं। संस्कृत के कवियों का प्रकृति-निरीक्षण बहुत ही सूक्ष्म था। प्रकृति के रमणीय उपादानों की सहायता से जो अप्रस्तुत विधान किया जाता था, वह बहुत ही मार्मिक और हृदयाकर्षक होता था।" पीछे आने वाले कवियों ने अपनी-अपनी प्रतिभा तथा उद्भावना से कुछ नवीन उपमानों का अन्वेषण तथा प्राचीन उपमानों की योजना में विशेष चमत्कार को लक्ष्य में रख कर परिवर्तन किये। पर नवीन उद्भावनायें प्राचीनकाल में प्रयुक्त होने वाले उपमानों की रमणीयता में कमी न कर सकीं। हमारी सौन्दर्य-वृत्ति जिन दृश्यों पर अनादिकाल से मुग्ध होती आई है, उनका आकर्षण कभी कम हो ही नहीं सकता। किसी पुष्कर विशेष का कोई एक कमल अपने दिन पूरे करके मुरझा

जायगा; पर कवियों के मानस में कमलों ने अपने जिस रमणीय स्वरूप की प्रतिष्ठा कर ली है वह सदा डहडहा रहेगा। वर्षा-ऋतु में नीले-नीले, काले-काले उन्नमित मेघों को देख कर हमारा हृदय सदा ही आनन्द-विभोर होकर नाच उठेगा। शरच्चन्द्र की रमणीयता अजर है, अमर है। अतः, यह तो कभी भी आशा नहीं की जा सकती कि हमारे नवीन कवि- चाहे वे अंग्रेजी के उच्च कवियों का अध्ययन करें चाहे फारसी के—प्राचीन रमणीय उपमानों की सहायता के बिना अपनी अप्रस्तुत-विधान की पूर्ति करते चलेंगे। हाँ, यह बात दूसरी है—और वाञ्छनीय भी है कि नवीन कवियों के द्वारा परम्परा से प्राप्त प्राचीन उपमानों की योजना में भी कुछ अभिनव चमत्कार की स्थापना तथा उद्‌भावना हो।"[1] कमल, खंजन, मीन, शुक, दाड़िम, अलि, कदली, केहरि, कोयल, मराल आदि अति प्राचीनकाल से उपमानरूप में प्रयुक्त होते चले आ रहे है, किन्तु सहृदय छायावादी कवि के लिये उनकी रमणीयता कम नहीं हुई। उदाहरणार्थ—

बाँधा है विधु को किसने, इन काली जन्जीरों से,
मणि वाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से।
—आँसू : प्रसाद।

विद्रुम सीपी सम्पुट में मोती के दाने कैसे ?
हैं हंस न, शुक यह फिर क्यों चुगने को मुद्रा ऐसे ?
—आंसू

मदभरे ये नलिन नयन मलीन हैं,
अल्प जल में यह विकल लघु मीन हैं ?
या प्रतीक्षा में किसी की शर्वरी,
बीत जाने पर हुए ये दीन हैं।
—परिमल : निराला।

प्रथम, भय से मीन के लघु बाल जो
थे छिपे रहते गहन-जल में, तरल
उर्मियों के साथ क्रीड़ा की, उन्हें,
लालसा अब है विकल करने लगी,
कमल पर जो चारु दो खंजन, प्रथम
पंख फड़काना नहीं थे जानते,
चपल चोखी चोट कर अब पंख की
वे विकल करने लगे हैं भ्रमर को।
—ग्रंथि : पंत।

---

१. आधनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास, —पं० कृष्णशंकर शुक्ल।

दर्शन बिखराते ज्योत्स्ना-पुंज,
खोल आलोडित अधर-प्रवाल,
हृदय-सर में तिरते हैं प्राण !
चपल चितवन के बाल-मराल

—कसक : हृदयनारायण पाण्डेय 'हृदयेश'

यत्र-तत्र फारसी की उपमाये भी छायावादी कविता में प्राप्त होती हैं—

इन्द्र नील मणि महा चषक था
सोम रहित उलटा लटका ।
—कामायनी

आकाश की उपमा चषक से देना फारसी-साहित्य में बहुत प्रचलित है। भारतीय साहित्य में ऐसी उपमाओं का प्रचार नहीं है। एक और उदाहरण इसी प्रकार का देखिए—

चेतना रंगीन ज्वाला परिधि में सानन्द ।
मानती-सी दिव्य सुख कुछ गा रही है छन्द ॥
अग्निकीट समान जलती है अरी उत्साह ।
और जीवित है; न छाले हैं; न उसमें दाह ॥
—कामायनी ।

अन्तिम दो पंक्तियों में फारसी का प्रभाव स्पष्ट है। चेतना का अग्निकीट से उपमा देना और रंगीन ज्वाला में उसका जलना फारसी का प्रभाव है। हिन्दी का हालावादी काव्य तो फारसी-साहित्य के अनुकरण में ही लिखा गया।

कहीं-कहीं अंग्रेजी के मुहावरों से प्रभावित होकर बहुत ही व्यंजनापूर्ण अप्रस्तुत-योजना की गई है। निम्न पद में रेखांकित करने की भावना का बहुत ही काव्योचित प्रयोग किया गया है। काली अलक के लिए रेखा की उत्प्रेक्षा में प्रस्तुत-अप्रस्तुत का बहुत ही सुन्दर साम्य बन पड़ा है।

बाल-रजनी-सी अलक थी डोलती,
भ्रमित हो शशि के बदन के बीच में।
अचल रेखांकित कभी थी कर रही,
प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में।
—ग्रंथि : पंत ।

इसी प्रकार मोहर लगाने की प्रक्रिया का सम्बन्ध आधुनिकता से है। कवि ने इसका भी सुन्दर प्रयोग किया है—

देख रति ने मोतियों की लूट यह
मृदुल गालों पर सुमुखि के लाज से।
लाख-सी दी त्वरित लगवा, बन्द कर
अधर विद्रुम-द्वार अपने कोष के॥
—ग्रंथि : पन्त

प्रसाद जी ने 'अंजन-रेखा' की एक सर्वथा अभिनव उपमा दी है—

तिर रही अतृप्ति-जलधि में,
नीलम की नाव निराली।
काला-पानी वेला सी,
है अञ्जन-रेखा काली॥
—आंसू

जिस दर्शक की आंखें रमणी के नयनों में रञ्जित अंजन की रेखा को देख लेती है, वे वहीं अटक रहती हैं—ठहर जाती हैं। वह कज्जल-रेखा काले पानी के समुद्र के किनारे के समान है। जहां उतर कर कोई जल्दी वापस नहीं लौटता। गुरुतर अपराध में अपने देश में पहले अंग्रेजों के शासनकाल में 'काले पानी का दंड' दिया जाता था। अण्डमन टापू को भेजा जाना ही काले पानी का दण्ड था, जहां अपराधी पर्याप्त लम्बी अवधि बिताकर, यदि जीवित रहा तो घर लौट आता था। 'प्रिय' का 'रूप-दर्शन' भी एक भारी अपराध है, जिसका दण्ड काले पानी से क्या कम हो सकता है ? अत: जिसने उसकी कजरारी आंखे देख लीं, उसकी शीघ्र मुक्ति सम्भव नहीं है—वह उन्हीं में बंध जाता है। रूप को 'अतृप्त-जलधि' उचित ही कहा गया है। जिस प्रकार समुद्र का पानी खारा होने के कारण उससे किसी की प्यास नहीं बुझती-तृप्ति नहीं होती, उसी प्रकार प्रिय के रूप को बार-बार आंखों से पीकर भी उसकी प्यास नहीं बुझती। वे अतृप्त ही रह जाती हैं। वह जलधि जो प्यास को सर्वदा जगाए ही रहता है—'अतृप्ति-जलधि' ही कहा जाएगा। 'नीलम की नाव निराली'—प्रेमी दर्शक की आँखों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार अगणित अनूठे सौन्दर्य-चित्र आधुनिक कवियों ने अभिनव अप्रस्तुत-योजनाओं द्वारा प्रस्तुत किए हैं—

धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश
मधुर मुरली-सी फिर भी मौन।
किसी अज्ञात विश्व की निकल
वेदना-दूती सी तुम कौन।
—झरना : प्रसाद।

धरा पर झुकने की क्रिया को प्रार्थना सदृश कहने में उपमा की नवीनता ही नहीं है, अपितु भाव का मूर्त-रूप भी निहित है। एक स्थान पर तारों की अंगूरों से उपमा देने में अभिनवता है, प्रयोगात्मकता है—

उड़ने दो मुझको तू उस तक, जिसने हैं अंगूर बखेरे
सिर पर नीलम की थाली में, वन में ना सखि,
वनमाली में।

—हिमकिरीटिनी : माखनलाल चतुर्वेदी।

मालोपमा की परम्परा बहुत प्राचीन है और वह आधुनिक कवियों के लिए भी प्रिय है। ऐसी अप्रस्तुत-योजनायें कवि की भावुकता की परिचायक हैं। जिन कवियों ने अनुकरण-प्रियता को अपनाया है उनमें न तो भावुकता ही दृष्टिगत होती है और न अनुभूति ही। खड़ीबोली की कविता में पंत जी की 'छाया' शीर्षक कविता ने मालोपमा के लिए बड़ा यश अर्जन किया है। इसकी कतिपय पंक्तियाँ निम्नांकित हैं:—

गूढ़ कल्पना-सी कवियों की
अज्ञाता के विस्मय-सी,
ऋषियों के गम्भीर-हृदय-सी
बच्चों के तुतले-भय-सी;

भू-पलकों पर स्वप्न-जाल-सी
स्थल-सी, पर, चंचल जल-सी,
मौन-अश्रुओं के अंचल-सी,
गहन-गर्त में सम-तल-सी ?

तुम पथ-श्रांता द्रुपद-सुता-सी
कौन छिपी हो अलि ! अज्ञात
तुहिन-अश्रुओं से निजगिनती
चौदह दुखद-वर्ष दिन-रात ?

तरुवर की छायानुवाद-सी
उपमा-सी, भावुकता-सी
अविदित भावाकुल, भाषा-सी,
कटी-छँटी नव-कविता-सी;

—पल्लव।

श्री मैथिलशरण गुप्त ने भी उद्धव की उक्तियों को विस्तारपूर्वक मालोपमा का रूप दिया है—

अहा गोपियों की यह गोष्ठी वर्षा की ऊषा-सी
व्यस्त ससम्भ्रम उठ दौड़े की स्खलित ललित भूषा-सी
श्रमकर जो क्रम खोज रही हो उस भ्रमशीला स्मृति-सी

एक अतर्किक स्वप्न देख कर चकित चौंकती धृति-सी
हो-होकर भी हुई न पूरी ऐसी अभिलाषा-सी
कुछ भटकी आशा-सी अटकी भावुक की भाषा-सी
सत्य धर्म रक्षा हो जिससे ऐसी मर्म मृषा-सी
कलश-कूप में पास हाथ में ऐसी भ्रान्त तृषा-सी।

—द्वापर

ऊपर के दोनों उदाहरणों में उपमान मूर्त और अमूर्त दोनों ही प्रकार के आए हैं। इन उपमानों में भावुकता, नवीनता और कलात्मकता है। गुप्त जी के प्रस्तुत उदाहरण में उपमान-योजनायें बहुत कुछ छायावादी ढंग की हैं।

छायावादी काव्य कल्पना-प्रधान है। इस युग में कल्पना और कविता एक दूसरे के पर्यायवाची हो गये। प्रसाद जी हिमालय को 'विश्व कल्पना' कहते हैं। निराला जी तो कविता मात्र को 'कल्पना के कानन की रानी' मानते हैं। पंत जी पल्लव को 'कल्पना के ये विह्वल बाल' बादल को 'त्रिभुवन की कल्पना महान' तथा छाया को 'कवियों की गूढ़-कल्पना-सी' मानते हैं। इस प्रकार छायावादी कवियों ने अपनी कल्पना-प्रियता के कारण बहुत ही भव्य, उदात्त और महान् उपमान-विधान किए हैं। छायावादी कवि सामान्य का विरोधी और वैयक्तिक वैशिष्ट्य का समर्थक था। सामान्य की अपेक्षा विशेष के प्रति विशेष प्रेम अन्य साहित्य के रोमान्टिक कवियों में भी देखा जाता है। आंग्ल-साहित्य के रोमान्टिक कवि ब्लैक स्पष्ट शब्दों में घोषणा करता है कि सामान्यीकरण करना मूर्खता है। प्रतिभा की विशेषता केवल विशेषीकरण में ही है। सामान्य ज्ञान वह ज्ञान है जो मूर्खों के पास होता है... सामान्य प्रकृति क्या है? है कोई ऐसी वस्तु? सामान्य ज्ञान क्या है? है कोई ऐसी वस्तु? ठीक-ठीक कहें तो सम्पूर्ण ज्ञान ही विशेष है।[1]

रोमान्टिक कवियों का यह कथन स्वाभाविक है; क्योंकि वे कल्पना-जीवी हैं। कल्पना की इसी अत्यधिक महत्ता के कारण छायावाद युग के औपम्य-विधान और मध्यकालीन कवियों के औपम्य-विधान में बहुत अन्तर है। मध्यकालीन कवियों की उपमान-योजना सर्वदा सामान्य व्यक्ति के अनुभव की पहुँच में होती थी। उनकी

---

1 To generalize is to be an idiot. To particularize is the alone distinction of merit. General knowledge are those that idiots possess......

......what is General Nature? It there such a thing? what is General knowledge? Is there such a thing? Strictly speaking all knowledge is particular.

Romantic imagination C. M. *Bowra*

उपमान योजना में छायावादी कवियों की निजी तरंग की अतिशयता नहीं होती थी। उनका उपमान जगत सीमित था। उनके अप्रस्तुत वर्ण्य-विषय की केवल व्याख्या करते थे, किसी नए वर्ण्य-विषय की सृष्टि नहीं; किन्तु छायावादी कवियों के उपमान व्याख्याता और सृष्टा दोनों हैं। मध्ययुगीन कवि पूर्व-परिचित वस्तुओं को कल्पना-शक्ति के द्वारा अधिक-से-अधिक थोड़ा-सा अलंकृत कर आकर्षक बना सकते थे; उन वस्तुओं में वे किसी सर्वथा अदृष्ट दृश्य का दृश्य-प्रदर्शन करने में असमर्थ थे। मध्य-युग और छायावादी कवि की अप्रस्तुत-योजना की कल्पना में यही अन्तर है। मध्य-युगीन और छायावादी कल्पना में अन्तर स्पष्ट करने के लिए बिहारी और निराला की यमुना-सम्बन्धी कविताओं की तुलना की जा सकती है। जमुना नदी को देखकर बिहारी कहते हैं—

> सघन, कुन्ज छाया–सुखद, शीतल सुरभि समीर।
> मन ह्वै जात अजौ वहै, वा जमुना के तीर।।

जब कि निराला 'यमुना' को देखते ही घोर स्वप्न में डूब जाते हैं और उनकी आंखों के सामने राधा-कृष्ण और गोपियों की विविध क्रीड़ाओं के चित्रों की लड़ी लग जाती है। निराला दिखाई पड़ने वाली सामान्य यमुना के ऊपर अतीत की यमुना को एकदम नए और मोहक रूप में पुनर्जीवित कर देते हैं; वस्तुतः निराला एक नयी यमुना की सृष्टि कर डालते हैं, जिसका आरम्भ इस प्रकार होता है—

> स्वप्नों-सी उन किन आँखों की
> पल्लव–छाया में अम्लान
> यौवन की माया-सा आया
> मोहन का सम्मोहन ध्यान ?
>
> गन्ध-लुब्ध किन अलि बालों के
> मुग्ध हृदय का मृदु गुन्जार
> तेरे दृग-कुसुमों की सुषमा
> जाँच रहा है बारम्बार ?
>
> —परिमल।

यमुना के किनारे बिहारी को केवल तीन चीजें दिखाई पड़ती हैं; सघन कुंज सुखद छाया तथा शीतल सुरभित समीर। और ये तीनों ही चीजें प्रत्यक्ष हैं। इस प्रस्तुत दृश्य से उनके हृदय में जिस अप्रस्तुत दृश्य की याद आती है, उसके वे संकेत भर करके रह जाते हैं। मध्य-युगीन कवि को इतना अवकाश नहीं है कि यहाँ थोड़े विस्तार में जाकर अप्रस्तुत दृश्य का वर्णन करे। वह प्रस्तुत से इतना बंधा हुआ है कि कल्पना के अप्रस्तुत-लोक में उड़ने की क्षमता ही नहीं है। उसका हृदय अत्यन्त मर्यादित है। इसके विपरीत निराला प्रस्तुत दृश्य की सर्वथा उपेक्षा करके अप्रस्तुत

का ही कल्पना-लोक रच देते हैं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि अप्रस्तुत-योजना में निराला राधा-कृष्ण की उन्हीं लीलाओं की याद करते हैं, जिनका वर्णन भागवत, सूरसागर, रासपंचाध्यायी आदि मध्ययुगीन काव्यों में हो चुका है; परन्तु यदि निराला के संस्मृत लीला-चित्रों की तुलना उन काव्यों के वर्णन से की जाये तो दो युगों का अन्तर स्पष्ट हो जायेगा। निराला के चित्र भागवत, सूरसागर, रास पंचाध्यायी आदि के चित्रों से अधिक कल्पना-प्रवण और मोहक हैं।

इसी तरह यदि कालिदास के 'मेघदूत' और पंत के 'बादल' की तुलना की जाये तो छायावादी स्वच्छन्द कल्पना की विशेषता स्पष्ट हो जायेगी। कालिदास ने वर्णन-क्रम में बस कहीं-कहीं मेघ को उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं से अलंकृत किया है, अन्यथा सम्पूर्ण काव्य में यथार्थ जगत का ही वर्णन है। पूर्व मेघ में मेघ का पथ बतलाने के बहाने रास्ते में पड़ने वाले प्रान्तों और नगरों का वर्णन किया गया है तथा उत्तर मेघ में भी अधिकांशतः अलकापुरी, अलकापुरी के नर-नारियों, यक्ष-प्रिया तथा प्रिया की विरह-व्यथा का वर्णन है। इस तरह कालिदास के काव्य में कल्पना कम, वास्तविकता अधिक है। इसके विपरीत पंत जी के 'बादल' में आदि से लेकर अन्त तक बादल के विविध रूपों की तुलना की गई है और फिर उन रूपों को मूर्त करने के लिए अद्भुत अप्रस्तुतों की योजना की गई है; जैसे बादल का यह कथन—

बुद्बुद् द्युति तारक-दल-तरलित
तम के यमुना-जल में श्याम
हम विशाल जम्बाल जाल-से
बहते हैं अभूल, अविराम;

दमयंती-सी कुमुद-कला के
रजत करों में फिर अभिराम
स्वर्ण हंस-से हम मृदु ध्वनि कर
कहते प्रिय सन्देश ललाम।
—पल्लव।

पन्त के बादल में आद्योपान्त इसी प्रकार कल्पना की ऊँची उड़ान है और कल्पना के ये चित्र मन में अद्भुत ढंग का विस्मय और आह्लाद उत्पन्न करते हैं। कालिदास के मेघ की तरह ये किसी गहरी अनुभूति में हमें निस्सन्देह नहीं डुबाते, किन्तु इन चित्रों की विलक्षणता से मन में जो आह्लादपूर्ण कम्पन मालूम होता है, वह अपूर्व है। इससे एक अद्भुत और अपरिचित प्रदेश में मानस-यात्रा करने की सुखद अनुभूति होती है।[1]

---

१ छायावाद—डा० नामवर सिंह

'काव्य में रसात्मक बोध के विविध रूप' शीर्षक निबन्ध में कल्पना के ऊपर लिखते हुए आचार्य शुक्ल ने भी स्वीकार किया है कि आज-कल तो भाव की बात दब सी गयी है, केवल इसी का नाम लिया जाता है, क्योंकि 'कवि की नूतन सृष्टि केवल इसी की कृति समझी जाती है।'[1]

कहीं-कहीं छायावादी कवियों की उपमान योजना बहुत ही असमर्थ भावापकर्षक और फीकी हुई है। कभी-कभी आवश्यकता से अधिक भावुक होना भी वैसे ही अप्रिय लगता है, जैसे अभावुक होना।

'स्याही की बूंद' पर निम्नलिखित फीके काल्पनिक वाग्जाल को देखिये—

गीत लिखती थी मैं उनके——
अचानक, यह स्याही का बूंद
लेखनी से गिर कर, सुकुमार
गोल तारा-सा नभ से कूद,
सोधने को क्या स्वर का तार
सजनि, आया है मेरे पास ?

अर्ध-निद्रित-सा, विस्मृत-सा,
न जागृत-सा, न विमूर्छित-सा,
अर्ध जीवित-सा, न विमर्षित-सा,
न हर्षित-सा, न विमर्षित-सा,
गिरा का है क्या यह परिहास ?

एकटक, पागल-सा यह आज,
अपरिचित-सा, वाचक-सा कौन,
यहाँ आया छिप-छिप निर्व्याज,
मुग्ध-सा, चिंतित-सा जड़-मौन,
सजनि, यह कौतुक है या रास ?

योग का-सा यह नीरव तार,
ब्रह्म-माया का-सा संसार,
सिंधु-सा घट में, – यह उपहार
कल्पना ने क्या दिया अपार,
कली में छिपा वसंत–विकास ?

—पल्लव।

---

१ चिन्तामणि, प्रथम भाग।

पंतजी की इसी प्रकार की अमार्मिक-अप्रस्तुत योजना का एक और उदाहरण देखिये :—

इन्दु दीप से दग्ध शलभ शिशु ! शुचि उलूक अब हुआ विहान,
अंधकारमय मेरे उर में, आवो छिपजावो अनजान।

इसकी आलोचना करते हुये पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "सवेरा होने पर नक्षत्र भी छिप जाते हैं, उल्लू भी। बस इतने से साधर्म्य को लेकर कवि ने नक्षत्रों को उल्लू बना डाला है और वे साफ-सुथरे ही क्यों न हों, उन्हें अंधेरे उर में छिपने के लिये आमन्त्रित कर दिया गया है। पर इतने उल्लू डेरा डालेंगे तो मन की क्या दशा होगी ? कवि को यदि अपने नैराश्य और अवसाद की व्यन्जना करनी ही थी तो नक्षत्रों को बिना उल्लू बनाये भी काम चल सकता था।"[1]

उपमान-योजना में साम्य भ्रामक न होना चाहिये, क्योंकि भ्रामक साम्य से उपमान-योजना में अपूर्णता रहती है। यथा—

हृदय कुसुम की खिली अचानक,
मधु से भींगी वे पांखें ।।
—कामायनी : प्रसाद।

कवि को यहाँ हृदय और कुसुम दोनों का साम्य देखना चाहिये, किन्तु कवि ने इसका ध्यान नहीं दिया है। कुसुम में तो पंखड़ियाँ होती हैं, लेकिन हृदय के पंख नहीं होते। अतः साम्य अपूर्ण है।

मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी-युग के सर्वोत्कृष्ट कवि माने जाते हैं, किन्तु द्विवेदी युग के पश्चात् जब छायावादी कविता का प्रचलन हुआ तो वह उससे भी काव्य-रचना में प्रभावित हुये जिसका प्रमाण उनका प्रमुख काव्य-ग्रंथ 'साकेत' की-गीतात्मक शैली है। यद्यपि यह रामायण की प्राचीन कथा से सम्बन्धित है, किन्तु इसकी वर्णन-शैली में आधुनिकता का पुट है। "साकेत"-जिसका समय द्विवेदी युग का अन्त और तृतीय उत्थान का आरम्भ है तथा फलस्वरूप जिसमें प्राचीनता और नवीनता का सम्यक् मिश्रण हुआ है—की उद्भावना बहुत बाद में हुई। उस समय इनमें मुक्तक गीतों की प्रवृत्ति के अत्यधिक विकास के कारण महाकाव्य के लिए अधिक स्थान नहीं था। फलतः 'साकेत' में मुक्तक गीतों की अधिकता है। भाषा में लाक्षणिकता और अभिव्यक्ति की अधिकता है। महाकाव्य की चार प्रमुख विशेषताओं में से जीवन की विविध दिशाओं को सामने लाने वाली कथा-वस्तु, वर्णन, सम्वाद तथा भावाभिव्यंजना में से 'साकेत' में केवल (अन्तिम) दो विशिष्ट-

---

१ रस-मीमांसा —पं० रामचन्द्र शुक्ल।

तायें ही लक्षित होती हैं। 'साकेत' की कथावस्तु भी महाकाव्य के उपयुक्त नहीं है और इसमें नवीन वर्णनों का ही आधिक्य है, इसलिए 'साकेत' को महाकाव्य नहीं कहा जा सकता। इसकी असफलता का प्रधान कारण कवि की गीतात्मक प्रवृत्ति है।"[१] गीतात्मकता और लाक्षणिक अभिव्यक्ति छायावाद की प्रमुख विशेषतायें हैं जिनका पर्याप्त प्रभाव 'साकेत' पर प्रतीत होता है। अत: अप्रस्तुत योजना की दृष्टि से उनका यहाँ अनुशीलन करना असंगत न होगा।

छायावादी कवियों ने अप्रस्तुत–योजना में सादृश्य और साधर्म्य की अपेक्षा प्रभाव–साम्य की ओर अधिक ध्यान दिया है। 'साकेत' में इस प्रकार की रमणीय अप्रस्तुत योजनायें पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होती हैं। उदाहरणार्थ—

वढ़ी तापिच्छ–शाखा–सी भुजायें,
अनुज की ओर दायें और बाँयें,
जगत संसार मानों क्रोड़-गत था,
क्षमा-छाया तले नत था, निरत था।

इस उदाहरण के प्रस्तुत-अप्रस्तुत में साधर्म्य अवश्य है, किन्तु प्रधानता प्रभाव-साम्य की ही है। राम के क्रोड में क्षमा की शान्ति और एक प्रकार की सघनता थी। क्षमा शब्द से सघनता व्यक्त होती है और उधर राम के क्रोड़ में भी यही बात है। शब्द में राम की श्यामता का प्रतिबिम्ब है। इसी प्रकार—

रथ मानो एक रिक्त घन था,
जल भी न था न वह गर्जन था।

इस उदाहरण में "सूने रथ की रिक्त घन से समानता दिखाई गई है। रथ का और घन का कोई सादृश्य नहीं, परन्तु रिक्त घन में जो अभाव और सूनापन होता है, वह रथ की शून्यता (राम हीनता) को व्यक्त करने में बडा सहायक हुआ है। रीते बादल जिस प्रकार अपना सब कुछ लुटा कर मन्थरगति से शान्त लौटते हैं, इसी प्रकार वह रथ राम को छोड़ कर आ रहा था। घोड़ों में कोई उत्साह नहीं था। सारथी व्यथा-विमूढ़ था। अत: उसकी गति में किसी प्रकार का जीवन नहीं रह गया था। वह उस सूने पथ पर अनन्त मार्ग में मन्थर गति से खिसकते हुये बादलों के समान चल रहा था। यहाँ साधर्म्य ही है, प्रभाव-साम्य भी रिक्तता के भाव में मिल जाता है।"[२]

साकेत में कहीं-कहीं विम्ब-प्रतिबिम्ब रूप को बड़े सूक्ष्म कौशल से ग्रहण कर सादृश्य की बड़ी ही सूक्ष्म व्यंजना की गई है। यथा—

---

१. आधुनिक काव्यधारा —डा० केसरी नारायण शुक्ल।

२. साकेत— एक अध्ययन —डा० नगेन्द्र

जिस पर पाले का एक पर्त-सा छाया,
हत जिसकी पंकज-पंक्ति, अचल-सी काया।
उस सरसी-सी आमरण-रहित सित वसना।
सिहरे प्रभु माँ को देख हुई जड़ रसना।

इसमें कौशल्या के विधवा-बेष का चित्रण किया गया है। कवि लंका का वर्णन करने के पश्चात् सीता की स्थिति की ओर संकेत करना चाहता है—उसमें वह मूर्त उपमेय के लिये अमूर्त उपमान का प्रयोग करता है—

उस भव-वैभव की विरक्ति-सी वैदेही व्याकुल मन में।

इसी प्रकार लक्ष्मण के शक्ति लग जाने के कारण शोक-विह्वल समाज में, जड़ी सहित हनुमान का आगमन, कवि को ऐसा लगा : मानों बुरे स्वप्न में वीर आ गया उद्बोधन-सा।

इसी प्रकार अमूर्त उपमेयों के मूर्त उपमान जुटाये जाते हैं। इस प्रकार के अप्रस्तुत-विधान के लिए बहुत ही सूक्ष्म निरीक्षण की आवश्यकता होती है। 'साकेत' में ऐसे प्रयोग मिलते हैं—

फिर भी एक विषाद वदन के तपस्तेज में बैठा था,
मानो लौह-तन्तु मोती को बेध उसी में बैठा था।

इसमें विषाद को लौह-तन्तु और माण्डवी के तेज-दीप्त मुख-मण्डल को मोती कहा गया है। जिस प्रकार मोती के नैसर्गिक सौंदर्य में लौह-तन्तु बाधक होता है, उसी प्रकार विषाद के कारण माण्डवी का तपस्तेज नैसर्गिक रूप में प्रकाशित नहीं हो रहा था।

गुप्त जी ने 'अभिलाषाओं की करवट' के समान 'वैसी हिलती-डुलती अभिलाषा' कहा है। प्रकृति के तत्वों पर मानव-व्यापारों का आरोपण कर पश्चिमी ढंग का मानवीकरण भी किया है। इस प्रकार के चित्रणों में प्रस्तुत तो होता है प्रकृति और अप्रस्तुत अधिकांशत: नारी होती है या कोई अन्य चेतन चित्र। जैसे—

अरुण संध्या को आगे ठेल
देखने को कुछ नूतन खेल,
सजे विधु की बेंदी से भाल
यामिनी आ पहुँची तत्काल।

एक और उदाहरण देखिये जिसमें सूक्ष्म भावनाओं पर मानव-व्यापारों का आरोप किया गया है—

श्रुति-पुट से लेकर पूर्वस्मृतियाँ खड़ी यहाँ पर खोल,
देख आप ही अरुण हुये हैं उनके पाण्डु कपोल।

इसमें पूर्वस्मृतियों को नारी-रूप में चित्रित कर प्रभाव-वृद्धि की गई है।

प्रातःकाल की अप्रस्तुत-योजना के उदाहरण में सूर्योदय के कारण तारागण के विलीन होने और धीरे-धीरे रश्मियों के पृथ्वीतल पर पहुँचने का सुन्दर वर्णन है—

सखि, नील नभस्सर से उतरा,
यह हंस अहा तरता-तरता,
अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं,
निकला जिनको चरता-चरता।

अपने हिम-बिन्दु बचे तब भी,
चलता उनको धरता-धरता।
गड़ जायें न कण्टक भूतल के
कर डाल रहा डरता-डरता।

इस प्रकार की गुप्त जी की वर्णन-शैली पर छायावाद के माध्यम से पाश्चात्य अभिव्यंजना-कौशल का प्रभाव है। छायावादी काव्य में इस प्रकार के प्रचुर प्रयोग हुए हैं। संस्कृत-साहित्य में रूपकातिशयोक्ति, अन्योक्ति, अप्रस्तुत-प्रशंसा आदि अलंकारों में किसी सीमा तक इस प्रकार का वर्णन होता है, किन्तु इन अलंकारों में प्रस्तुत की चेतना सदा बनी रहती है। अतः, उतनी सुन्दर अप्रस्तुत-योजनाा नहीं हो पाती, जितनी कि पाश्चात्य शैली में। पश्चिमी शैली में प्रस्तुत की उतनी चिन्ता नहीं रहती। वहाँ तो व्यंग्य होता है।

इतने विवेचन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि छायावाद खड़ी बोली कविता का स्वर्ण युग है। इसमें अभिनव उपमानों का बहुत ही भव्य विधान हुआ है। छायावादी "अभिव्यक्तियों में जो छाया की स्निग्धता है, तरलता है, वह विचित्र है। अलंकारों के भीतर आने पर भी ये उनसे कुछ अधिक हैं।"[१]

अप्पय दीक्षित का उपमा के विषय में कहना है कि उपमा नटी की भाँति सहृदयों की चेतना का भूमिका-भेद से अनेक रूप-रंगों में अनुरंजन किया करती है। इस कथन का पूर्ण विकास हमें छायावादी कविता में प्राप्त होता है। इसमें उपमा विभिन्न रूपों में अभिहित, लक्षित एवं व्यंजित हुई है। छायावादी कविता की उपमान-योजना में लाक्षणिकता का प्राधान्य देखकर हिन्दी के अनेक आलोचकों ने इसे लक्षणकाव्य की संज्ञा प्रदान की है। छायावादी कवि ने अन्तर्मुखी होने के कारण, वस्तु के सूक्ष्म अंतरंग को ग्रहण करके उपमान योजना का प्रयास किया है,

१ काव्य, कला तथा अन्य निबंध—जयशंकर प्रसाद

किन्तु अन्तर्मुखी कवि के सूक्ष्म का इतना आधिक्य हुआ कि प्रतिक्रियास्वरूप कवि बहिर्मुखी होकर स्थूल-चित्रण की ओर अग्रसर हुआ।

जिस प्रकार द्विवेदी-युगीन स्थूल के प्रति सूक्ष्म ने विद्रोह किया और परिणाम स्वरूप छायावाद का जन्म हुआ, उसी प्रकार छायावादी सूक्ष्म के प्रति स्थूल ने विद्रोह किया और प्रतिक्रियास्वरूप प्रगतिवाद का उद्भव हुआ। छायावादी कवि पृथ्वी पर पैर न रख कर आकाश में अपना 'नीड़' बसा कर, जीवन की वास्तविकता और कठोरता से पलायन कर, कल्पना-वैभव, सूक्ष्म-सौंदर्य में रमण करने लगे थे। इसीलिए इसका पतन हुआ और प्रगतिवादी काव्य की रचना प्रारम्भ हुई। कार्लमार्क्स के समाजवादी सिद्धांतों के आधार पर रूस में वर्गहीन समाज की स्थापना सन् १९१७ में होने लगी थी, जिसका शनैः शनैः प्रभाव भारत पर भी पड़ा। रूसी क्रांति का द्विवेदी-युग के कवियों ने भी स्वागत किया था।[१]

---

१ (अ) समदर्शी फिर 'साम्य रूप' धर जग में आया।
समता का सन्देश गया घर-घर 'पहुँचाया॥
धनद-रंक का ऊँच-नीच का भेद मिटाया।
विचलित हो वैषम्य बहुत रोया-चिल्लाया॥
काँटे बोये राह में फूल वही बनते गये।
साम्यवाद के स्नेह में सुजन सुधी सनते गये॥

× × ×

फैले हैं ये भाव नया युग लाने वाले।
घोर क्रान्तिकर उलट–फेर करवाने वाले॥
कलि में सतयुग सत्यरूप धर लाने वाले।
समता का संदेश सप्रेम सुनाने वाले॥
समता-सरि की बाढ़ में ऊँच-नीच बह जायगा।
समतल जल की ही तरह एक रूप रह जायगा॥

राष्ट्रीय मंत्र (१९२१) से 'साम्यवाद' शीर्षक कविता : गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'। आप इस प्रकार की राष्ट्रीय कविताएँ 'त्रिशूल' उपनाम से करते हैं।

(आ) ईश्वर ने इस जग को रच कर सबको स्वत्व समान दिया।
नहीं किसी का अब तक उसने न्यूनाधिक सम्मान किया॥
मुट्ठी बाँधे भेज सभी को हाथ पसारे बुलवाता।
और सभी को आदि अन्त में धरा–सेज पर सुलवाता॥
औरों के श्रम से धन पाकर चैन उड़ाता भाग्य नहीं।
यही स्वार्थ है, यही कपट है, यही अनय है, पाप यही॥
दोनों को तुम बैल बना कर निलज बने हो मनुज वृथा।
प्रथा यही क्या सदा रहेगी ? रह जावेगी अयशकथा॥

× × ×

भारत में मार्क्सवादी सिद्धांतों का अनुयायी एक कम्यूनिष्ट दल सन् १६२७ ई में स्थापित हुआ था, जिससे कुछ युवक सम्मिलित थे।

हिन्दी-साहित्य में इस विचारधारा का स्वर तब स्पष्ट हुआ जब सन् १६३६ में लखनऊ में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की प्रथम बैठक प्रेमचन्द जी के सभापतित्व में हुई। उन्होंने अपने अध्यक्ष पदीय भाषण में काव्य में उपयोगितावाद मत का प्रचार किया।[1] यहीं से आधुनिक हिन्दी-कविता ने एक नवीन मोड़ लिया। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इसके पूर्व इस विचार-धारा की रचनायें लिखीं ही नहीं गईं। लिखी अवश्य गईं, किन्तु किसी साहित्यिक संगठन या आन्दोलन के रूप में नहीं। सन् १६३४ में लाहौर से रामेश्वर 'करुण' का ब्रजभाषा में सात सौ दोहों का प्रगतिवादी विचारधारा का संग्रह 'करुण सतसई' के नाम से प्रकाशित हो चुका था। इसकी प्रशंसा पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी और पं० जवाहरलाल नेहरू ने भी की थी। 'करुण' जी रूसी साम्यवाद से प्रभावित थे। उन्होंने अपनी सतसई में किसानों आदि का बड़ा ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है।

सन् १६३६ के पश्चात् प्रगतिवादी विचारों से बहुत लोग प्रभावित हुए। यहां तक कि छायावादी कविता के प्रमुख कवि सुमित्रानन्दन पन्त प्रगतिवादी कविता के प्रमुख सूत्रधार बने। पंत ने 'पल्लव' की भूमिका के रूप में छायावाद का घोषणा-पत्र प्रस्तुत किया था और उन्होंने ही सन् १६३८ में 'रूपाभ' में कवियों को कल्पना-लोक से उतर कर जीवन की यथार्थता और कठोरता से संघर्ष करने तथा उसे ही कविता का विषय बनाने का आदेश दिया।[2] प्रगतिवाद के प्रमुख कवि केदारनाथ,

---

जहाँ आय से करका लेखा बढ़ कर देखा जाता है।
साम्यवाद भी वहीं प्रकट हो भीषण रूप दिखाता है।।
—राष्ट्र-भारती (१६२१) से 'साम्यवाद' शीर्षक कविता—रामचरित उपाध्याय।

१ नीतिशास्त्र और साहित्यशास्त्र का लक्ष्य एक ही-केवल उपदेश-विधि में अन्तर है। नीतिशास्त्र तर्कों और उपदेशों द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है। मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह साहित्य को उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। फूलों को देख कर हमें इसलिए आनन्द होता है कि उनसे फलों की आशा होती है।

२ इस युग की वास्तविकता ने जैसा उग्र रूप धारण कर लिया है, इससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गये हैं। श्रद्धा अवकाश में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो

नागार्जुन, रामविलास, शिवमंगल सिंह 'सुमन', गजानन माधव मुक्तिबोध, त्रिलोचन, रांगेयराघव, नेमिचन्द जैन और भारतभूषण अग्रवाल हैं। निराला, नरेन्द्र और अंचल की भी कुछ कविताएं प्रगतिवाद के अन्दर आती हैं। प्रारम्भ में पन्त जी उस दिशा की ओर मुड़े अवश्य, किन्तु प्रगतिवादी भौतिकता का अधिक दूर तक साथ न दे सके। आरम्भ में तो उन्हें साम्यवाद में ही स्वर्णयुग के दर्शन हुए—

साम्यवाद के साथ स्वर्णयुग करता मधुर पदार्पण।
मुक्तलिखित मानवता करती मानव का अभिवादन।।
—युगवाणी।

पंत ने कहा कि सत्य, शिव, सुन्दर आदि मूल्यों को किसी दर्शन के संसार में शोध करना व्यर्थ है, क्योंकि वे सब मानव में ही निहित हैं—

वहाँ खोजने जाते हो
सुन्दरता औ आनन्द अपार
इस मांसलता से है मूर्छित
अखिल भावनाओं का संसार
—युगवाणी।

डा० रामविलास शर्मा ने छायावादी कवियों पर व्यंग्य करते हुये कहा—

शुद्ध कला के पारखी कहते हैं उस पार की,
इस दुनियाँ की कौन कहे भवसागर में कौन बहे।
—प्रथम तार सप्तक

जन-मन के भावों को व्यक्त तथा जन-मन को प्रभावित करने के लिए कविता का रूप परिवर्तन ही आवश्यक समझा गया। एक स्थान पर सोलीवेनोस्की ने लिखा है कि समाजवाद का कवि होने के लिए न केवल समाजवाद के सिद्धान्तों में विश्वास आवश्यक है, प्रत्युत् काव्य की शैली में भी परिवर्तन आवश्यक है। कवि को संसार के प्रति अपना दृष्टिकोण ही परिवर्तित कर देना चाहिए।[1] पंत ने जन-मन के भावों को नवीन शैली में व्यक्त कर देने के लिए कहा—

उठा है और काव्य की स्वप्न-जड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गई है। अतएव इस युग की कविता सपनों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण-सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।

'रूपाभ', पंत का सम्पादकीय, वर्ष १, अंक १, जुलाई १९३८।

1 To become an artist of Socialism means, if you come from intelligentia that not only must you be convinced that the ideas of Socialism are correct, but that you must alter your previously formsd style; you must change your way of looking at the world. *Solivenosky*

कवि नवयुग की चुन भाव-राशि,
नवछन्द आमरण रस-विधान।
तुम बन न सकोगे जन-मन के,
जाग्रत भावों के गीत यान।।
—युगवाणी।

जन-मन पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालने के लिये अनपेक्षित दुरूह शैली अप्रिय प्रतीत हुई—

तुम वहन कर सकोगे जन-मन में मेरे विचार।
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार।।
—ग्राम्या : पंत।

इस प्रकार की विचारधारा ने, छायावादी युग में कविता-कामिनी का अभिनव श्रृंगार करने की जो परम्परा चल रही थी, उसे समाप्त कर दिया और निरलंकार, नीरस, प्रचारात्मक रचना का प्रचलन चल पड़ा। सूक्ष्मता के स्थान पर स्थूलता प्रतिष्ठित हुई। छायावाद में अधिकांश उपमान प्रकृति के क्षेत्र से होते थे और प्रायः अमूर्त होते थे, किन्तु प्रगतिवादी कविता में उपमान अधिकतर समाज से सम्बद्ध और मूर्त होने लगे। यथा—

१. लहू की बूंदों-से
जलते हैं बिजली के बल्ब सूनी सड़कों पर-लाल-लाल।
डा० रामविलास शर्मा।

२. कोयले की खान की
मजदूरिन-सी रात
बोझ ढोती तिमिरका
विश्रांत-सी अवदात...
—रांगेय राघव।

३. लेखनी ही है हमारा फार
धरा है पट, सिन्धु है मसिपात्र
तुच्छ से अति तुच्छ जन की जीवनी हम लिखा करते
कहानी, काव्य, रूपक गीत...
—नागार्जुन।

४. चल रहे देवता थे
ढेल-सी बड़ी-बड़ी आंखें लिये—

५. अधिकांश जनता का
रद्दी की टोकरी–सा जीवन है;
संज्ञाहीन, अर्थहीन,
बेकार, चिरे–फटे टुकड़ों-सा पड़ा है।

—केदारनाथ अग्रवाल।

६. मटक मुँह बिचकाता है पथ पर पागल
बूढ़े स्तन लटकाए नंगी भाग्य-देवता
फूटे बर्तन–सी तिरस्कृता जब मानवता

७. दो लालटेन से नयन दीन,

× ×

लकड़ी का खोखा वक्ष रिक्त—

—गजानन माधव मुक्तिबोध।

कविता में सफल उपमान-योजना प्रेषणीयता लाती है, प्रभावोत्पादन करती है, भावों का प्रसार एवं रसोत्कर्ष करती है। इन विशेषताओं से शून्य उपमान सहृदय-हृदय को सदैव अनाकर्षक ही रहेंगे। ये गुण उपमान योजना में तभी आ सकते हैं, जबकि कवि स्वयं मर्मग्राही हो और जड़-चेतन प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण-परीक्षण हो। यद्यपि उपमान योजना कल्पना द्वारा की जाती है, फिर भी जो जितना अनुभवी होगा उसके उपमान उतने ही अधिक हृदयग्राही और मार्मिक होंगे। प्रगतिवादी कवियों की कविता का विषय जन-जीवन होता है। अत: उनके उपमान भी जन-जीवन से सम्बन्धित और सामयिक होते हैं। उदाहरण के लिये ऊपर दिये गये उद्धरणों में पाँचवें और छठवें में तिरस्कृत, दलित, शोषित और संतप्त मानवता की तुलना चिरे-फटे टुकड़ों और फूटे बर्तनों से की गई है। ये उपमान मूर्त होने के साथ समाज से सम्बन्धित होने के कारण बहुत ही स्पष्ट और सर्वग्राह्य हैं, साथ ही हृदय में त्रस्त मानवता के प्रति दयाभाव तथा पीड़ा उत्पन्न करते हैं। जिस प्रकार फटे कपड़े और फूटे बर्तन उपेक्षित होते हैं उसी प्रकार आज के युग में मानवता तिरस्कृत है– यही दोनों में साधर्म्य है। दूसरे उदाहरण की भी उपमान योजना में नवीनता और भावुकता है। कोयला ढोते-ढोते मजदूरिन जैसे काली हो जाती है, वैसे ही कालीरात्रु है। रात अन्धकार का बोझ ढोती है और अन्धकार का प्रतीक स्वरूप कोयला भी काला है। जैसे रात को अन्धकार से होने वाले सुख-दुख का ज्ञान नहीं होता, वैसे ही मजदूरिन को भी कोयले से सोना बनाने की बात का ज्ञान कैसे हो सकता है। इसमें नवीनता और भावुकता के साथ यथार्थवादिता भी है। किन्तु पहले उदाहरण में जिसमें लाल बिजली के बल्बों की तुलना रक्त की बूंदों से दी गई है, सार्थक नहीं

प्रतीत होती। बिजली के बल्बों और लहू की बूंदों में बड़ा अन्तर है। केवल लालिमा के कारण लहू की बूदें उपमान रूप में लाई गई हैं। इस उपमान में न तो रूप-आकार का बोध होता है और न भाव-बोध में ही सहायता मिलती है। इसी प्रकार चौथे और पाँचवें उदाहरण में आँखों की तुलना ढेला और लालटेन से की गई है जो अत्यन्त असुन्दर और नितान्त निरर्थक है। जिन नेत्रों के लिए कवि-समाज कमल, मीन आदि की-उपमान योजना करता रहा है, उन्हीं को लालटेन कहना कितना कुरुचिपूर्ण प्रतीत होता है। यदि दीन नेत्रों की उपमा लालटेन से दी गई है, तो क्या प्रसन्न नेत्रों की उपमा गैस बत्तियों से दी जायेगी। इस प्रकार की नवीनता कदापि अभिनन्दनीय नहीं है। समर्थ और सिद्ध कवियों के अप्रस्तुत इस प्रकार के नहीं होते। यदि दीन नेत्रों का वर्णन करना है तो वे कहेंगे—

मद भरे नलिन नयन मलीन हैं,
अल्प जल में या विकल लघु मीन हैं ?
या प्रतीक्षा में किसी की सर्वरी,
बीत जाने पर हुये ये दीन हैं ?

—परिमल : निराला।

मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि परम्परा से अलग होकर चला ही न जाय, अवश्य चला जाय, किन्तु मार्ग मर्यादित और विद्वानों द्वार प्रशंसित हो। अप्रस्तुत योजना का सौन्दर्य इसी में है कि सुन्दर प्रस्तुत के लिए सुन्दर अप्रस्तुत और असुन्दर के लिये असुन्दर अप्रस्तुत लाये जाँय। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि सिद्ध कवियों की दृष्टि ऐसी ही अप्रस्तुता की ओर जाती है जो प्रस्तुतों के समान ही सौन्दर्य, दीप्ति, कान्ति, कोमलता, प्रचण्डता, भीषणता, उग्रता, उदासी, अवसाद, खिन्नता जगाते हैं।[१] अनुपयुक्त उपमान किस प्रकार रसास्वादन में बाधक होते हैं, इसका उदाहरण देखिये—

गगन की निर्द्वन्द्वता जग की अंधेरी बन गई है,
भूंकते कुत्ते लटकती जीभ थर-थर कांपती ज्यों,
रात के चिथड़े न नभ को, ढांक पाते और चेचक—
के पके वे दाग में तारे, लगे हैं झलमलाने।

—रांगेयराघव।

अन्धकारपूर्ण गगन की निर्द्वन्द्वता के लिए कुत्ते की थरथराती जीभ का उपमान और तारों के लिये चेचक के पके दाग के उपमान बड़े ही कुत्सित हैं।

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० ६७०।

प्रथम उपमान में न तो सादृश्य है और न साधर्म्य । तारों के अप्रस्तुत चेचक के पके दाग सादृश्य नहीं लाते है, पके दागों का परिणाम बहुत घृणोत्पादक है । इसी प्रकार सूर्य को शशक कहना भी समीचीन एवं संगत नहीं प्रतीत होता—

आज का दिन बादलों में खोजता था
दृष्टि में आकर शशक जैसे
चपल से चपल होकर
सघन-पथ श्याम बन में खो गया था ।
—त्रिलोचन ।

यहाँ दिन का बादलों में खो जाना सूर्य का बादलों में ओझल हो जाना तात्पर्य है । इस भाव को हृदयंगम करने के लिये कवि ने जो सश्लिष्ट योजना की है, उससे वह दृश्य सम्मुख नृत्य करने लगता है । शशक का दृष्टिगोचर होते-न-होते त्वरितगति से सघन श्यामल वन में खो जाने की योजना बड़ी चमत्कारिक है, किन्तु सूर्य को शशक कह देने से समानता निरर्थक हो जाती है । इस प्रकार के भावापकर्षक उपमानों का तो प्रगतिवादी काव्य में बाहुल्य है--

लोहे की ढाल पर उभर कीलों-सी तारिका प्रखर,
युग-युग के अन्धकार से मानव को फिर उबार लूँ ।
—रांगेयराघव ।

आकाश की अगणित जगमग तारिकाओं का उपमान उभरी हुई कीलों वाली लोहे की ढाल कहने से भाववर्द्धन नहीं होता, अपितु भावापकर्षण होता है । ऐसे उपमान धर्मगतन्यूनता के कारण निरर्थक होते हैं । उपमान उपमेय के अनुरूप हों और उससे उपमेय की हीनता न हो तो वह सफल कहा जा सकता है, अन्यथा इस प्रकार की उपमान योजनायें न तो भाव-प्रकाशन में समर्थ होंगी और न सौन्दर्य-सृष्टि में ।

यद्यपि प्रगतिवादी काव्य में मूर्त-उपमान-योजनाओं का ही आधिक्य है, किन्तु यत्र-तत्र अमूर्त उपमान के भी प्रयोग प्राप्त होते हैं ।

सिनेमा के गीत-सा यह
वर्गबद्ध समाज
गूँजते हैं शब्द, जिनका
अर्थ केवल शब्द ।
—रांगेय राघव ।

अमूर्त की मूर्त अप्रस्तुत योजनायें भी हुई हैं, किन्तु बहुत कम; जैसे—

"किन्तु उर में क्या उदासी शाप-सी ।[१]
प्रत्येक चेहरे पर लिखी जो राख-सी ।।"

प्रथम पंक्ति में उपमेयोपमान दोनों अमूर्त हैं; किन्तु द्वितीय पंक्ति में राख मूर्त है । यद्यपि योजना में भव्यता नहीं है, किन्तु राख से उदासी का भाव अभिव्यक्त हो जाता है ।

प्रगतिवादियों ने अन्योक्ति—पद्धति का भी सहारा लिया है । अन्योक्ति में प्रस्तुत—अप्रस्तुत का सुन्दर चमत्कार-विधान होता है । इसमें अप्रस्तुत सामने लाया जाता है और प्रस्तुत व्यंग्य होता है । इसमें अप्रस्तुत ऐसे स्वाभाविक और परिचित होने चाहिए कि पाठक को व्यंग्य अर्थ सहज ही बोधगम्य हो जाय । अन्योक्ति के लिये यह आवश्यक हैं कि अप्रस्तुत योजना हृदय की कोई-न-कोई भावभूमि हो और प्रस्तुत में जीवन को स्पर्श करने की क्षमता हो । जैसे—

जल उठे हैं तन बदन से, क्रोध में शिवके नयन-से,
खा गये निशि का अँधेरा, हो गया खूनी सबेरा ।
जग उठे मुरदे बेचारे बन गये जीवित अंगारे,
रो रहे थे मुंह छिपाये आज खूनी रंग लाये ।।
—केदारनाथ अग्रवाल ।

कोयले पर की गई यह अन्योक्ति बहुत ही मार्मिक और भावव्यंजक है। इससे श्रमिक हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है । कोयला काला होकर भी अग्नि से जल कर लाल हो उठता है, वैसे ही आज कुरूप और मलिन मजदूर भी चेतना के उद्‌बोधन से चेतना में लाल अंगारे बन गये हैं ।

सादृश्य के आधार पर लाये गये उपमानों में रूप और आकार में भी समानता परमावश्यक है, अन्यथा वे चमत्कारक नहीं होते । निम्नलिखित की द्वितीय पंक्ति में किरणों को दिनकर की छवि वह्निवाण कहा गया है, जो लोक-व्यवहार-सिद्ध है ।

फूटा प्रभात फूटा विहान,
छूटे दिनकर के कर ज्यों छवि के वह्निवाण ।
—भारतभूषण अग्रवाल ।

किन्तु, तारा की उपमा पारा से देना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता—

पेड़ों के पल्लव से ऊपर उठता धीरे-धीरे ऊपर,
अन्धकार चन्द्रिका—स्नात तरुओं पर जैसे पारा ।
—त्रिलोचन ।

(१) काव्य में अप्रस्तुत योजना—पं० रामदहीन मिश्र से उद्धृत पृ० १४६

पारा का प्रयोग ऐसा प्रतीत होता है मानों केवल तारा के साथ तुक मिलाने के लिये किया गया है। तारा और पारा में कोई सादृश्य नहीं है। पारा का स्वभाव चंचल है। यह कभी स्थिर नहीं रह सकता। तारा धीरे-धीरे ऊपर उठता है, किन्तु पारा में यह असम्भव है। कवि ने केवल दोनों की श्वेतता के आधार पर यह सादृश्य—कल्पना कर डाली है। कहीं-कहीं अवश्य गुण-क्रिया के साम्याधार पर अवश्य ही बहुत सुन्दर व्यंजनायें हुई हैं। यथा—

अंजली का फूल क्या अंगार लेकर मैं खड़ा हूं।
मैं पहाड़ों से अभय अब तक उठाये सिर खड़ा हूं॥
—रांगेयराघव।

पर्वत अटल होता है। वह कभी नत नहीं होता। यदि एक ही पर्वत हो, तो भी सिर उठा कर खड़े होने वाले की अचलता, विशालता दुर्भेद्यता आदि गुणों का द्योतक होता है, किन्तु यहां अनेक पहाड़ हैं। ये सब इसकी व्यंजना करते हैं कि अनेक पहाड़ों के उक्त गुण उस व्यक्ति में विद्यमान हैं। इसी प्रकार और देखिये—

"सूने गगन में आँख फाड़
कल्पनाप्रिय युवक कवि-सी सहज निष्प्रभ
खड़ी हैं विभवहीन पहाड़ियां।"[१] —नेमिचन्द

इसमें लिंग-वचन के उपमेयोपमान में वैषम्य होते हुये भी ये मूर्त उपमेयोपमान एक चित्र को प्रस्तुत कर देते हैं।

प्रगतिवाद छायावाद के विरोध में उठा था। अत: छायावादी अमूर्त वायवी उपमान योजना के स्थान पर स्थूल, माँसल, उपमान लाये गये और सुन्दर, विशेष तथा कोमल की जगह कुरूप, सामान्य एवं परुष विधान किये गये। प्रतिक्रिया के जोश में और नवीनता की उमंग में इनकी रचनाओं में ऐसी अप्रस्तुत योजनाएं कम हुई हैं, जिनसे भाव भली भाँति प्रकाशित हो सकें। कहीं-कहीं पर सुन्दर अप्रस्तुत योजनायें भी हुई हैं। जैसे—

बज उठा दूर साहस निर्भय हुंकार उठा ज्यों काल पुरुष।
बुझ गई ज्योति काले बादल सहसा ढँक ले इन्द्रधनुष॥
—रांगेयराघव।

बुझी ज्योति के लिये काले बादलों से इन्द्रधनुष के ढँक लेने की उपमा दी गई है। यहाँ उपमेय का रूप बुझाने की क्रिया है और उसके लिये ज्योतिस्वरूप इन्द्रधनुष को ढंकने के लिये बादल लाये गये हैं। उपमा का यह असाधारण स्वरूप

(१) काव्य में अप्रस्तुत योजना—पं० रामदहीन मिश्र से उद्धृत पृ० १४२

है। इसी प्रकार मरु की चमचमाहट को हंसी कहना भी चमत्कार उत्पन्न करता है—

यह हंसी तुम्हारे अधरों की पाती न छिपा जिसका क्रंदन,
जैसे सागर का वेष किये फिरता मरु का प्यासा कण-कण,
फिर भी सागर मरु दोनों की छाती में हाहाकार सतत।
—शिवमंगलसिंह 'सुमन'

प्रथम पंक्ति उपमेय है और दूसरी उपमान। मरु की चमचमाहट से हंसी की समता है। कण-कण की प्यास क्रंदन है; फिर भी मरु को समुद्रवेषधारी बनाने का कारण यह है कि सागर में जैसे सतत हाहाकार है, वही मरुमें भी है। इन दोनों के उर में हाहाकार-सा ही क्रंदन भरा हुआ है। इसमें एक उपमान दूसरे उपमान को साथ लिये हुए हृदय के हाहाकार को बड़ा ही प्रभावशाली बना देता है। जन-जीवन से सम्बन्धित एक अन्य अप्रस्तुत योजना देखिये—

हिनहिनाते अश्व भीतर कूंदते हैं भूमि रह-रह,
और ये सईस बैठे हांकते हैं जिन्दगी को
सिर्फ भाड़े के लिये ज्यों एक गाड़ी जा रही।
—रांगेयराघव।

कमाने के अतिरिक्त गाड़ीवान का कोई दूसरा उद्देश्य नहीं रहता, वैसे ही सईस भी अपनी सईसी के पैसे से ही मतलब रक्खे जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उसके सुख-दुख या उसके उद्देश्य से कोई तात्पर्य नहीं है।

पानी बरस जाने के पश्चात् भी औरोतियों से पानी टपकता रहता है। कवि ने इसी को उपमान बना कर चित्रण में नूतनता, यथार्थता और सार्थकत ला दी है—

सूखे खेत पड़े होते ऊसर को देते हुए चुनौती।
उसकी आँखों की कोरों से टपका करती नित्य औरोती।।
—शिवमंगलसिंह 'सुमन'

इसी प्रकार सावन-भादों की झड़ी लगने की प्राचीन अप्रस्तुत योजना को लक्षणा द्वारा नवीन रूप दिया है—

आहों में ज्वलित अंगार उर में सिन्धु के शतज्वार,
वाणी में प्रभंजनभार सावन और भादों शून्य,
आंखों में रचे अनिमेष गाने को अभी अवशेष।
—शिवमंगलसिंह 'सुमन'।

निम्नलिखित 'भैंसागाड़ी' शीर्षक कविता में शोषित गांवों के उठें हुए कच्चे घरों को फोड़ों से उपमा देने में कितनी वेदना भरी हुई है—

> उस ओर क्षितिज के कुछ आगे, कुछ पाँच कोस की दूरी पर,
> भू की छाती पर फोड़ों-से, हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर।
>
> —भगवतीचरण वर्मा।

प्रगतिवादी कविता की उपमानयोजना पर इतना विचार करने के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इस विचारधारा के कवियों ने परम्परागत उपमानों का त्याग जान-बूझ कर किया है और नवीन उपमानों की योजना की है, चाहे वे भावप्रकाशन में समर्थ हों या असमर्थ। इनके अधिकांश उपमान समाज के निम्नवर्गीय ग्रामीण-श्रमिक-जीवन से सम्बन्धित होते हैं, अतः स्पष्ट होते हैं। प्रगतिवादी कवियों की उपमान योजना का उद्देश्य प्रस्तुत का मार्मिक रूपविधान करना या अनुरूप-भावमयता लाना नहीं होता, अपितु एन-केन-प्रकारेण पाठक के मस्तिष्क को किसी विशिष्ट विचार की ओर मोड़ कर व्यंजित भाव को पूरी कटुता से समक्ष प्रस्तुत कर देना होता है। प्रस्तुत-अप्रस्तुत की रूप-आकार या गुण-क्रिया की अनुरूपता के अभाव में इस युग की उपमान-योजना को उच्चकोटि का नहीं कहा जा सकता।

प्रगतिवाद के प्रचलन के कुछ समय पश्चात् प्रथम 'तारसप्तक' के प्रकाशन से अधुनिक मनोविश्लेषणवादी प्रयोगवादियों की कविता प्रारम्भ होती है। इस दल के नेता 'अज्ञेय' हैं और इनके अतिरिक्त प्रमुख कवि गिरिजाकुमार माथुर, भवानी-प्रसाद मिश्र, शमशेरबहादुरसिंह, नरेशकुमार मेहता और धर्मवीर भारती हैं। इस नई कविता के विषय में पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी का निष्कर्षरूप में कथन सर्वथा सत्य ही है कि 'प्रयोगवादी रचनाएँ पूरी तरह काव्य की चौहद्दी में नहीं आतीं। वे अतिरिक्त बुद्धिवाद से ग्रस्त हैं। प्रयोगवादी रचनाएँ वैचित्र्यप्रिय हैं, वृत्ति का सहज अभिनिवेश उनमें नहीं। प्रयोगवादी रचनाएँ वैयक्तिक अनुभूति के प्रति ईमानदार नही हैं और सामाजिक उत्तरदायित्व को भी पूरा नहीं करतीं।[१]" प्रयोग वादियों की नवीन अर्थात् असाधारण स्पृहा ने कविता के अन्तरंग और वहिरंग दोनों में परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया हैं। नये-नये उपमानों की योजना की गई है। नवीन उपमानों के विषय में प्रयोगवादियों का तर्क है—

> अगर मैं तुमको
> ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
> अब नहीं कहता,
> या शरद् के भोर की नीहार न्हाई कुंई,
> टटकी कली चम्पे की
> वगैरह, तो

---

१ आधुनिक साहित्य पृ० ७८

नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।
बल्कि, केवल यही–
ये उपमान मैले हो गये हैं
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच।
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है
—अगर मैं यह कहूँ–
बिछली घास को तुम
लहलहाती हवा में कलगी छरहरे बाजरे की ?
(क्यों तुम नहीं पहचान, पाओगी)
—हरी घास पर क्षण भर : अज्ञेय।

निस्संदेह 'बिछलीघास' तथा 'छरहरी कलगी' जैसे उपमान कविता में शुष्कता, लय, गति–हीनता लाते हैं। इसी प्रकार सम्प्रदाय के एक अन्य कवि कहते है कि—

चांदनी चंदन सदृश
हम क्यों लिखें ?
मुख हमें कमलों सरीखे क्यों दिखें ?
हम लिखेंगे
चांदनी उस रुपये–सी है कि जिसमें
चमक है, पर खनक गायब है।
हम कहेंगे जोर से
मुंह घर अजायब है
जहाँ पर बेतुके, अनमोल, जिन्दा और मुर्दा भाव रहते हैं।

इस प्रकार के विलक्षण, व्यर्थ के और बेतुके उपमानों में न तो प्रभावात्मकता है, न आकर्षण और न उपयुक्तता ही। इन्हें चाहे जितने जोर से कहा जाय, अरण्य-रोदन ही रहेगा।

इस वर्ग की उपमान-योजनाओं में शूलों की अधिकता और फूलों की न्यूनता है। इसका कारण यह है कि प्रस्तुत की अनुरूपता का ध्यान न रख कर जब अप्रस्तुत योजना की जाती है, तब उसमें प्रेषणीयता या भावबोध कराने की क्षमता नहीं होती। यथा—

क्वांर की सूनी दुपहरी
श्वेत गरमीले रुएँ से बादलों में
तेज सूरज निकलता फिर डूब जाता।
—गिरिजाकुमार माथुर।

नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।
बल्कि, केवल यही—
ये उपमान मैले हो गये हैं
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच।
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है
—अगर मैं यह कहूँ—
बिछली घास को तुम
लहलहाती हवा में कलगी छरहरे बाजरे की?
(क्यों तुम नहीं पहचान, पाओगी)
—हरी घास पर क्षण भर : अज्ञेय।

निस्संदेह 'बिछलीघास' तथा 'छरहरी कलगी' जैसे उपमान कविता में शुष्कता, लय, गति-हीनता लाते हैं। इसी प्रकार सम्प्रदाय के एक अन्य कवि कहते हैं कि—

चांदनी चंदन सदृश
हम क्यों लिखें?
मुख हमें कमलों सरीखे क्यों दिखें?
हम लिखेंगे
चांदनी उस रुपये-सी है कि जिसमें
चमक है, पर खनक गायब है।
हम कहेंगे जोर से
मुंह घर अजायब है
जहाँ पर बेतुके, अनमोल, जिन्दा और मुर्दा भाव रहते हैं।

इस प्रकार के विलक्षण, व्यर्थ के और बेतुके उपमानों में न तो प्रभावात्मकता है, न आकर्षण और न उपयुक्तता ही। इन्हें चाहे जितने जोर से कहा जाय, अरण्य-रोदन ही रहेगा।

इस वर्ग की उपमान-योजनाओं में शूलों की अधिकता और फूलों की न्यूनता है। इसका कारण यह है कि प्रस्तुत की अनुरूपता का ध्यान न रख कर जब अप्रस्तुत योजना की जाती है, तब उसमें प्रेषणीयता या भावबोध कराने की क्षमता नहीं होती। यथा—

क्वांर की सूनी दुपहरी
श्वेत गरमीले रुएँ से बादलों में
तेज सूरज निकलता फिर डूब जाता।
—गिरिजाकुमार माथुर।

'रुएँ' से यहाँ कवि का तात्पर्य बालों से है। वृद्धावस्था में शरीर के रोयें श्वेत हो जाते हैं, किन्तु वे यत्र-तत्र ही होते हैं। उनमें घनता नहीं होती। बादलो में सघनता है, तभी तो उनमें सूरज छिप जाता है। सघनता न होने से रोओं का गरमीला होना भी प्रकृति-विरुद्ध है। अत: कवि का अभिप्रेत बादल ही प्रतीत होता है; पर रुएँ तदर्थ-बोधक नहीं हैं। इससे तो पंत जी की श्वेत बादलों के लिये धुनी हुई रुई की अप्रस्तुत योजना कहीं उत्तम है। बादलों के लिए धुनी हुई अप्रस्तुत योजना असंगत नहीं कही जा सकती। बादलों में जलांश अधिक होता है। उसमें तेज सूरज के डूबने से गरमी पैदा नहीं हो जाती, क्योंकि बूदें गरम नहीं होतीं। इसमें गरमीले की संगति नहीं बैठती। वैसे तो गरमीला विशेषण भी व्यर्थ है। बाल स्वत: गर्म होते हैं। गरमी के लिख देने से रुएँ गर्म नहीं हो सकते। इसी प्रकार और देखिये—

छोटे-छोटे बिखरे से, शुभ्र बादलों को पार करता—
मानों कोई तपक्षीण कापालिक
साध्य-साधना की वत बुझी, झरी
बची-खुची राखपर धीमे पैर रखता—
नीरव चपलतर गति से
चाँद भागा जा रहा है—
द्रुतपद।

—अज्ञेय।

यहाँ श्वेत बादल मूर्त हैं। इसके उपमान में साध्य-साधना की बची-खुची राख है। यह उचित नहीं प्रतीत होता; क्योंकि मूर्त के अमूर्त उपमान वहीं लाना संगत है, जहाँ ऐसे उपमान वस्तुबोध कराने में सक्षम नहीं हैं। न यहाँ राख मूर्त है और न पैर रखना ही। लक्षण द्वारा यह अर्थ लिया जा सकता है कि कापालिक अपना तप खोकर जैसे शोक करता हुआ आगे बढ़ता है, वैसे ही चन्द्रमा भी मन्द प्रकाश हो कर बादलों में भागता हुआ दिखाई पड़ता है। पर यह अर्थ खींच-खींच कर ही लाया जाता है, योजना के साम्य से नहीं। शुभ्र बादलों के बीच से चन्द्रमा के जाने में योजना से कुछ भी सहायता नहीं मिलती; अपितु इस सादृश्य को समक्ष प्रस्तुत करने में बाधक बन जाती है। इधर कापालिक तो धीरे-धीरे पैर रखता है और उधर चाँद द्रुतगति से भागा जा रहा है। बादलों की गति से चाँद भागता-सा प्रतीत होता है। यह बात कापालिक में नहीं है। इस प्रकार की जटिल अनुपयुक्त उपमान योजनाओं से रसास्वादन में व्यवधान उपस्थित होता है। ये उपमान सहृदयता और सरसता के द्योतक नहीं हैं, वरन् बुद्धि-व्यायाम के प्रतिफलन हैं। धूलि-कण-वृद्धि का वर्णन करते हुए कहते हैं—

द्रौपदी के पट जैसा, वारिधि के तट जैसा
वामन की मांग-सा, अनन्त भूख की पुकार-सा दुरंत
बढ़ता चला गया व्योम भर छा गया।

—अज्ञेय।

इसमें धूलि-कणों के विस्तार का बोध कराना कवि का उद्देश्य है। इसके लिये कई उपमान लाए गये हैं, किन्तु प्रत्येक का धर्म एक नहीं है। पहली पंक्ति की दोनों योजनाओं में धर्म लुप्त है। पट और तट दोनों ही असीम और अनन्त कहे जा सकते हैं, पर दोनों के रूप एक नहीं हैं। पट में अनन्तता है और उसका अन्त अदृश्य रूप में है या है ही नहीं, यह कहा जा सकता है। इसका विस्तार साड़ी के आकार तक ही सीमित माना जा सकता है, पर समुद्र के तट की सीमा है। उसका अन्त अदृश्य के गर्भ में नहीं है, उसका विस्तार अपरिमित है। इससे इनके लुप्त धर्म एक से नहीं होंगे। अतः धूलि-कण के लिए भिन्न-भिन्न धर्म मानने होंगे। एक धर्म के लिये भिन्न धर्म के उपमानों को लाना उपमेय की जटिलता का कारण हो जाता है। वामन की याचना धूलि-कण-सी अनन्त नहीं है। वामन ने केवल तीन पग भूमि की याचना की थी। वामन की माप को अवश्य अनन्त कहा जा सकता है। उसी धूलि-कण में भूख की दुरंतता लायी गयी है। भूख की दुरंतता का अर्थ प्रबलता लिया जा सकता है, अनन्तता नहीं। इस प्रकार के भिन्न धर्मोपमान वस्तु-बोध या भावबोध में साधक न होकर बाधक ही होते हैं।

यदि कोई उपमान किसी का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करता है; किन्तु उपमान में सौन्दर्य-भाव-विधायिनी शक्ति नहीं है, तो वह काव्य में अनपेक्षित और अग्राह्य है। प्राचीनों ने जंघा को गजशुंड का उपमान दिया है। इसका कारण उसका चढ़ाव-उतार है। पर यह भाव-वृद्धि में सहायक नहीं होता। कदली-स्तम्भ के उपमान में तो कुछ स्निग्धता, शीतलता आदि गुण हैं, जो समता में लाए जा सकते हैं। ये बातें गजशुंड में नहीं हैं।

एक दृढ़ पैर का ही स्थान है
और वह दृढ़ पैर मेरा है,
गुरू, स्थिर, स्थाणु-सा गड़ा हुआ
तेरी प्राण-पीठिका पर लिंग-सा खड़ा हुआ

—अज्ञेय।

'लिंग-सा खड़ा हुआ' यथार्थ उपमान क्या वीभत्सता का चित्र नहीं खड़ा कर देता ? उपमान के अनेक दोष दृढ़ पैर उपमेय की मिट्टी पलीद कर देते है।"[१] उपमान योजना में पर्याप्त पर्यवेक्षण और सुरुचि की आवश्यकता है। इस प्रकार के

१ काव्य में अप्रस्तुत योजना—पं० रामदहीन मिश्र, पृष्ठ १५४।

उपमान नवीनता की मादकता में कवि को चाहे भले ही प्रिय हों, किन्तु परिष्कृत रुचि वालों को ये उपमान सदैव अरुचिपूर्ण रहेंगे ।

यत्र-तत्र प्रयोगवादी कविता में सुन्दर भी अप्रस्तुत-योजनायें प्राप्त होती हैं । यथा:—

प्राण तुम्हारे मुख पाटल से हिमकण जैसे कोमल ।
ज्योत्स्ना जैसे चंचल परिमल से वे शब्द भरे थे ।।

—अज्ञेय ।

इसमें रूपक-गर्भित उपमा है । उपमा में रूपक के योग से चित्र में पूर्णता आ गई है । इसमें उपमेय 'शब्द' अमूर्त हैं और उपमान मूर्त हैं । पाटल से परिमल झरता है और मुख से शब्द । आरक्त मुख को पाटल कहना जैसा सुरंग सरसाता है, वैसा ही परिमल शब्दों का श्वास-सुरभि-संवलित सौष्ठव । पाटल पर जो हिमकण संचित होते हैं वे आर्द्र तो होते ही हैं, कोमल भी होते हैं । शब्द भी श्रवण-सुखद और स्नेहार्द्र हैं । पाटल पर ज्जोत्स्ना पड़ती है और उसके हिलने-डुलने से चंचल प्रतीत होती है । शब्द भी मानसिक अस्थिरता से चंचल हैं । इस प्रकार यहाँ के सभी उपमान अदृश्य शब्द के स्वरूप-बोध में समर्थ हैं । यद्यपि शब्द अमूर्त हैं, फिर भी उपमान-योजना ऐसी हुई है कि आकर्षक चित्र प्रस्तुत हो जाता है ।

कवि सम्प्रदायवादी होता है । यद्यपि प्रयोगवादी परम्परा का सर्वथा बहिष्कार करते हैं, फिर भी वे उससे मुक्त नहीं हो सके हैं । उन्होंने भी परम्परानुकूल हास्य को श्वेत, शुभ्र स्वरूप प्रदान किया है, रक्तिम नहीं—

खुल-सी गयी हैं दो पहाड़ों की श्रेणियाँ
और बीच में अबाध अन्तराल में
शुभ्र धौत—
मानों स्फुट अधरों के
बीच से प्रकृति के
बिखर गया हो कल हास्य
एक क्रीड़ा लोल अमित लहर-सा ।

—अज्ञेय ।

इसी प्रकार माथे को फूल जैसा चढ़ाना कहना, विश्वास की दृढ़ता को हिमालय कहना और हृदय की पवित्रता के लिये गंगा प्रयुक्त करना परम्परा-निर्वाह का सूचक है—

द्रौपदी के पट जैसा, वारिधि के तट जैसा
वामन की मांग-सा, अनन्त भूख की पुकार-सा दुरंत
बढ़ता चला गया व्योम भर छा गया ।

—अज्ञेय ।

इसमें धूलि-कणों के विस्तार का बोध कराना कवि का उद्देश्य है। इसके लिये कई उपमान लाए गये हैं, किन्तु प्रत्येक का धर्म एक नहीं है। पहली पंक्ति की दोनों योजनाओं में धर्म लुप्त है। पट और तट दोनों ही असीम और अनन्त कहे जा सकते हैं, पर दोनों के रूप एक नहीं हैं। पट में अनन्तता है और उसका अन्त अदृश्य रूप में है या है ही नहीं, यह कहा जा सकता है। इसका विस्तार साडी के आकार तक ही सीमित माना जा सकता है, पर समुद्र के तट की सीमा है। उसका अन्त अदृश्य के गर्भ में नहीं है, उसका विस्तार अपरिमित है। इससे इनके लुप्त धर्म एक से नहीं होंगे। अतः धूलि-कण के लिए भिन्न-भिन्न धर्म मानने होंगे। एक धर्म के लिये भिन्न धर्म के उपमानों को लाना उपमेय की जटिलता का कारण हो जाता है। वामन की याचना धूलि-कण-सी अनन्त नहीं है। वामन ने केवल तीन पग भूमि की याचना की थी। वामन की माप को अवश्य अनन्त कहा जा सकता है। उसी धूलि-कण में भूख की दुरंतता लायी गयी है। भूख की दुरंतता का अर्थ प्रबलता लिया जा सकता है, अनन्तता नहीं। इस प्रकार के भिन्न धर्मोपमान वस्तु-बोध या भावबोध में साधक न होकर बाधक ही होते हैं।

यदि कोई उपमान किसी का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करता है; किन्तु उपमान में सौन्दर्य-भाव-विधायिनी शक्ति नहीं है, तो वह काव्य में अनपेक्षित और अग्राह्य है। प्राचीनों ने जंघा को गजशुंड का उपमान दिया है। इसका कारण उसका चढ़ाव-उतार है। पर यह भाव-वृद्धि में सहायक नहीं होता। कदली-स्तम्भ के उपमान में तो कुछ स्निग्धता, शीतलता आदि गुण हैं, जो समता में लाए जा सकते हैं। ये बातें गजशुंड में नहीं हैं।

एक दृढ़ पैर का ही स्थान है
और वह दृढ़ पैर मेरा है,
गुरू, स्थिर, स्थाणु-सा गड़ा हुआ
तेरी प्राण-पीठिका पर लिंग-सा खड़ा हुआ

—अज्ञेय ।

'लिंग-सा खड़ा हुआ' यथार्थ उपमान क्या वीभत्सता का चित्र नहीं खड़ा कर देता ? उपमान के अनेक दोष दृढ़ पैर उपमेय की मिट्टी पलीद कर देते है।"[१] उपमान योजना में पर्याप्त पर्यवेक्षण और सुरुचि की आवश्यकता है। इस प्रकार के

---

१ काव्य में अप्रस्तुत योजना—पं० रामदहीन मिश्र, पृष्ठ १५४।

उपमान नवीनता की मादकता में कवि को चाहे भले ही प्रिय हों, किन्तु परिष्कृत रुचि वालों को ये उपमान सदैव अरुचिपूर्ण रहेंगे ।

यत्र-तत्र प्रयोगवादी कविता में सुन्दर भी अप्रस्तुत-योजनायें प्राप्त होती हैं । यथा:—

> प्राण तुम्हारे मुख पाटल से हिमकण जैसे कोमल ।
> ज्योत्स्ना जैसे चंचल परिमल से वे शब्द भरे थे ।।
>
> —अज्ञेय ।

इसमें रूपक-गर्भित उपमा है । उपमा में रूपक के योग से चित्र में पूर्णता आ गई है । इसमें उपमेय 'शब्द' अमूर्त हैं और उपमान मूर्त हैं । पाटल से परिमल झरता है और मुख से शब्द । आरक्त मुख को पाटल कहना जैसा सुरंग सरसाता है, वैसा ही परिमल शब्दों का स्वाद-सुरभि-संवलित सौष्ठव । पाटल पर जो हिमकण संचित होते हैं वे आर्द्र तो होते ही हैं, कोमल भी होते हैं । शब्द भी श्रवण-सुखद और स्नेहार्द्र हैं । पाटल पर ज्जोत्स्ना पड़ती है और उसके हिलने-डुलने से चंचल प्रतीत होती है । शब्द भी मानसिक अस्थिरता से चंचल हैं । इस प्रकार यहाँ के सभी उपमान अदृश्य शब्द के स्वरूप-बोध में समर्थ हैं । यद्यपि शब्द अमूर्त हैं, फिर भी उपमान-योजना ऐसी हुई है कि आकर्षक चित्र प्रस्तुत हो जाता है ।

कवि सम्प्रदायवादी होता है । यद्यपि प्रयोगवादी परम्परा का सर्वथा बहिष्कार करते हैं, फिर भी वे उससे मुक्त नहीं हो सके हैं । उन्होंने भी परम्परानुकूल हास्य को श्वेत, शुभ्र स्वरूप प्रदान किया है, रक्तिम नहीं—

> खुल-सी गयी हैं दो पहाड़ों की श्रेणियाँ
> और बीच में अबाध अन्तराल में
> शुभ्र धौत—
> मानों स्फुट अधरों के
> बीच से प्रकृति के
> बिखर गया हो कल हास्य
> एक क्रीड़ा लोल अमित लहर-सा ।

माथे को फूल जैसा
अपने चढ़ा दे जो,
रुकती-सी दुनियाँ को
आगे बढ़ा दे जो
मरना वही अच्छा है।
—द्वितीय 'तारसप्तक'—भवानी प्रसाद मिश्र

जग का विश्वास ही हिमालय है।
भारत का जन-मन ही गंगा है।।
—द्वितीय 'तारसप्तक' : शमशेर बहादुर सिंह।

हिमालय और गंगा विश्वास की दृढ़ता और मन की शुचिता के प्रतीक स्वरूप उपमान हैं। कुछ उपमान ऐसे भी होते हैं जिनके एक ही गुण को लेकर उपमेय में साम्य-स्थापना की जाती है। इस परिस्थिति में कवि उपमा के सारे दोषों को भूल जाता है और उक्त प्रकार के उपमानों की योजना करता है। इस प्रकार के अप्रस्तुतों का भी प्रयोग प्रयोगवाद में हुआ है—

क्यों जब मैं ज्वाला में बत्ती-सी बढ़ती हूं आगे।
अग्निशिखा से तुम ऊपर ही ऊपर जाते भागे।।
—अज्ञेय।

कवि के कहने का तात्पर्य है कि नायिका नायक से संकट में मिलना चाहती है, किन्तु नायक अग्निशिखा के सदृश दूर ही दूर आगे भागा जाता है, नायिका के मिलने के प्रयास को नायक ठुकरा देता है। इसमें उपमान की केवल बढ़ना और भागना क्रिया को ही कवि ने साम्य के लिये समक्ष रक्खा है। अन्य धर्मों को नहीं। बत्ती बढ़ती है तो स्नेह को भी साथ-साथ लेती चलती है, इस धर्म को कवि ने नहीं अपनाया है। इधर ज्वाला की भांति भागे जाने में उपेक्षा का भी भाव नहीं है, जलाने का भी, दुखाने का भी, अपनाते नहीं अपितु जलाते हो—इस भाव को भी नहीं ग्रहण किया है। यदि नायिका केवल बत्ती और नायक शिखा के रूप में होते तो ये सभी भाव इसमें आ जाते, किन्तु भागना और बढ़ना को ही लेकर कवि ने अप्रस्तुत-योजना की है।

प्रयोगवादी कवियों की उपमान योजना में नवीनता अवश्य है किन्तु अपेक्षित प्रेषणीयता और प्रभावोत्पादकता का अभाव है। जैसे—

गोमती के तट
दूर पेंसिल रेख—सा वह बांस झुरमुट
चिकने चीड़—सी वह बांह अपनी टेक पृथ्वी पर यहाँ

\+ + + +

उड़ता रहे चिड़ियों सरीखा वह तुम्हारा 'श्वेत अंचल'
—द्वितीय 'तारसप्तक' : नरेशकुमार मेहता।

इसी प्रकार उदास कल्पना को सफेद बर्फ पर बिछी मलीन खिन्न धूप कहना भी उचित नहीं प्रतीत होता—

आज तक उदास यों कभी दिखी न रूप-सी।
सफेद बर्फ पर बिछी मलीन खिन्न धूप-सी॥
—धर्मवीर भारती।

बर्फ पर धूप पड़ने वाले प्राकृतिक दृश्य तो बहुत सुन्दर होते हैं। उस पर चाहे जैसी धूप पड़े वह दृश्य सदैव कान्ति का ही द्योतक होता है। इस प्रकार के सौन्दर्य और भव्यता का मनमोहक वर्णन कविवर कालिदास ने अपने ग्रन्थों में बहुत किया है। यह वर्णन बहुत कुछ उसी प्रकार है जिस प्रकार महादेवी जी ने कहा है—

रजनी ओढ़े जाती थी, झिलमिल तारों की जाली।
उसके बिखरे वैभव पर जब रोती थी उजियाली॥
—यामा।

इन पंक्तियों की आलोचना करते हुये पं० नन्ददुलारे बाजपेयी ने कहा है कि "यह प्रभात का दृश्य है। रजनी का झिलमिल तारों की जाली ओढ़ कर जाना, बड़ी ही सरल और मार्मिक कल्पना है। किन्तु उजियाली का रोना हम साधारणत: कहीं नहीं देखते? वह प्राय: हँसती ही आती है। यहाँ हमें अपनी अभ्यस्त अनुभूतियों को दबा कर यह कल्पना करनी पड़ती है कि प्रभातकाल की नमी अथवा ओस-आँसू के रूप में उजियाली रो रही है।"[१]

प्रेमिका के स्वरूप-चिन्तन में कवि के हृदय में इतनी गहरी पवित्रता भरी हुई है कि वह कहता है कि—

प्रात सद्य: स्नात
कंधों पर बिखरे केश
आँसुओं से ज्यों
धुला वैराग्य का संदेश
चूमती रह-रह
बदन की अर्चना की धूप
वह सजल निष्काम
पूजा-सा तुम्हारी रूप।
—ठंढा लोहा : धर्मवीर भारती।

---

१. हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी —पं० नन्ददुलारे बाजपेयी।

रूप की सुन्दरता और पवित्रता से पूजा की उपमा देने में बहुत ही सार्थकता और प्रभविष्णुता आ गई है। यह उपमान-योजना बहुत कुछ छायावाद के ढंग की है।

प्रयोगवादी कवियों की अप्रस्तुत योजना में नवीनता है, वे सहृदय-हृदय के लिये सौन्दर्य-विधान करने में सक्षम नहीं हैं। इसका कारण है बौद्धिकता का अत्यधिक आग्रह और सहृदयता की उपेक्षा। काव्य-रचना के लिये दोनों के सामन्जस्य की अपेक्षा है। किसी एक के अभाव में रची गई रचना शाश्वत साहित्य के अन्तर्गत नहीं आ सकती। इतने समय के पश्चात् भी क्या प्रगति-प्रयोगवाद ऐसा कोई कवि उत्पन्न कर सका है, जिसे प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी में से किसी एक की तुलना में रक्खा जा सके। यह है नयी कविता की निरर्थकता। यदि इसी प्रकार इनका असाधारण के प्रति मोह बना रहा तो ये लोग सदैव 'कवियशः प्रार्थी' ही बन कर प्रयोग करते रहेंगे और परिणामस्वस्वरूप कभी भी सफल कवि-पद पर नहीं आसीन हो सकेंगे।

६

आधुनिक हिन्दी-कविता में प्रतीक-विधान

हमारे प्राचीन साहित्य में प्रतीक-विधान का बड़ा महत्त्व रहा है, किन्तु आधुनिक हिन्दी-साहित्य में प्रतीक शब्द जिस अर्थ में व्यवहृत होता है, संस्कृत-साहित्य में उसका उस अर्थ में प्रयोग शायद नहीं हुआ है। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में 'उपलक्षण' शब्द आया है जिसके अनुसार जब कोई वस्तु–नाम इस रूप में प्रयुक्त हो कि वह वस्तु उस गुण में अपने समान अन्य वस्तुओं का भी ज्ञान करा दे तो वह शब्द 'उपलक्षण' रूप में व्यवहृत कहा जायगा। श्रीमद्‌भागवत में प्रतीकवाद के लिये परोक्ष-वाद शब्द प्रयुक्त हुआ है। भगवान श्रीकृष्ण गुण-दोष-व्यवस्था का स्वरूप और रहस्य समझाते हुये उद्धव से कहते हैं—

वेदा ब्रह्मात्वविपयास्त्रिकाण्ड विषया इमे।
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम व प्रियम्॥ ११। २१। ३५॥

अर्थात् वेद में तीन काण्ड है—कर्म, उपासना और ज्ञान। इन तीन काण्डों के द्वारा प्रतिपादित विषय है—ब्रह्म और आत्मा की एकता, सभी मन्त्र और मन्त्र-दृष्टा ऋषि इस विषय को खोल कर नहीं, गुप्त भाव से बतलाते है और मुझे भी इस बात को गुप्तरूप से अर्थात् प्रतीकात्मक शैली में कहना ही अभीष्ट। है

हमारे प्राचीन साहित्य में प्रतीकात्मक शैली का पर्याप्त प्रयोग उपलब्ध होता है और आधुनिक हिन्दी-कविता में भी प्रतीक-योजना हुई है, किन्तु अंग्रेजी के 'सिम्बल' के पर्याय के रूप में।

आधुनिक हिन्दी–कविता में प्रतीकों की सत्ता की बड़ी महत्ता है। काव्य में प्रतीक-विधान द्वारा सौन्दर्य उत्पन्न करने की वृत्ति प्रायः न्यूनाधिक मात्रा में सभी कवियों में लक्षित होती है। प्राचीनकाल में जब कवि काव्य-रचना के लिए काव्यशास्त्र

का आश्रय लेते थे, तब स्वतंत्र प्रतीक – विधान की प्रवृत्ति बहुत कम दृष्टिगत हुई। प्रतीक उपमा या रूपक के संक्षिप्त संस्करण हैं, अथवा रूपकातिशयक्ति कह सकते हैं जिसमें उपमेय के स्थान पर उपमान प्रयुक्त होता है। इस रूप में उपमेय और उपमान का संबंध पूर्व निश्चित होने के करण अर्थ-ज्ञान में कठिनाई नहीं होती, किन्तु इसके सहज ज्ञान के लिये थोड़ा-बहुत शास्त्रीय ज्ञान अपेक्षित है। आधुनिक कवियों के काव्य में स्वच्छन्दता-प्रवृत्ति का प्राबल्य है। प्रतिभा–सम्पन्न कवियों ने भी उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों की गंगा–यमुनी एक साथ प्रस्तुत कर अलंकारशास्त्र की अनभिज्ञता नहीं, अपितु उसके प्रति उपेक्षावृत्ति व्यक्त की है। आधुनिक कवि ने कविता-कामिनी का नये ढंग से श्रृंगार करने का प्रयास किया। यह अभिनव प्रतीक-योजना भी आधुनिक कवियों की स्वच्छन्दता–प्रवृत्ति का ही परिणाम है।

प्रतीकों का प्रसार शब्द से लेकर महाकाव्य तक है। बड़े-बड़े महाकाव्यों तक को भी प्रतीकात्मक काव्य कहा जाता है। काव्य में प्रतीकों का मुख्य उद्देश्य भावोत्तेजन है। हमारे काव्य में प्रतीक "प्राय: अलंकार-प्रणाली के भीतर उपमान के रूप में प्रयुक्त किये गये हैं। प्रतीक और उपमान में सबसे बड़ा अन्तर यही है कि प्रतीक के लिये सादृश्य के आधार की आवश्यकता नहीं, केवल उसमें भावोद्‌बोधन की शक्ति होनी चाहिये; पर उपमान से सादृश्य के आधार का रहना आवश्यक है।"[१] प्रतीक–प्रयोग किसी अस्थिर मस्तिष्क का सूचक नहीं है,[२] जैसा कि एक अंग्रेजी-आलोचक ने कहा है, अपितु कल्पनाशील, उर्वर मस्तिष्क का पारिचायक है। काव्य में सफल प्रतीक-विधान के लिये कवि के पास प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण हेतु मार्मिक अन्त:दृष्टि होनी चाहिये। प्रतीक-विधान में व्यंजना का गुण जितना ही अधिक होगा, उतनी ही अधिक कवि को प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति में सफलता प्राप्त होगी। अन्योक्ति प्रतीकाश्रित ही होती है। जिस अप्रस्तुत में जितना ही अधिक प्रतीकत्व होगा, उस पर की गई अन्योक्ति उतनी ही सुन्दर और मार्मिक होगी। इसीलिये कल्पना व भाव–जगत को आन्दोलित करने के लिये प्रतीकों में व्यञ्जकता परमावश्यक मानी गई है।[३]

---

(१) काव्य में अभिव्यंजनावाद—लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु-पृ० ११८।

2. Symbolism is the mark of an infirm mind. It is the measure of our weakness and not our strength. It is produced and propogated by those who are unable to rise above materialistic level.

—A Critical Study of Greek Philosophy
W. T. Stace, P. 21.

3. The greater the suggestive quality of the symbol used, the more answering emotion it looks in those to whom it is

आधुनिक हिन्दी कवियों ने पाश्चात्य प्रतीकवाद के कतिपय रूपों से प्रेरणा ली है। उदाहरणार्थ मैटरलिंक का प्रतीकवाद, ईसाई मत का प्रतीकवाद और फ्रान्सीसी प्रतीकवादी आन्दोलन ने आधुनिक हिन्दी-कवियों को प्रभावित किया है। मैटरलिंक के प्रतीकवाद का हिन्दी और बंगला दोनों साहित्यों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। मैटरलिंक ने अधिकांशतः नाटक ही लिखे हैं। उसने अपने नाटकों में स्वप्न-संसार की भाव-भूमि को ग्रहण किया है। उसके पात्र स्वप्न-संसार के विविध प्रतीक प्रतीत होते हैं। उसके नाटकों को पढ़ते समय पाठक स्वप्न-जगत में भ्रमण करता हुआ अनुभव करता है। "भारत में रवीन्द्रनाथ टैगोर मैटरलिंक की नाटकीय कला से प्रभावित हुये थे। हिन्दी में प्रथम वार मैटरलिंक का प्रभाव रवीन्द्रनाथ के माध्यम से ही आया। जयशंकर प्रसाद का 'कामना' नाटक रवीन्द्रनाथ और मैटरलिंक की परम्परा में आता है। इसके उपरान्त १६३० में डाक्टर रामकुमार वर्मा ने अपना काव्यात्मक रूपक 'आदत की मृत्यु' मैटरलिंक के 'ब्लयू-वर्ड' से प्रभावित होकर लिखा। इसी 'ब्ल्यू वर्ड' नाटक से प्रभावित होकर १६३६ में सुमित्रानंदन पंत ने अपने प्रतीकात्मक नाटक 'ज्योत्सना' की रचना की।[१] "ईसाई रहस्य वादियों" के प्रतीकवाद का भी प्रभाव आधुनिक हिन्दी-कविता की रहस्यवादी धारा पर रवीन्द्रनाथ टैगोर की रहस्यवादी कविताओं के माध्यम से पड़ा है। ईसाई रहस्यवादी अधिकतर बाईबिल से ही प्रतीक-चयन करते थे और यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ टैगोर के प्रतीक-विधानपर भी बाईबिल का प्रभाव परिलक्षित होता है।"[2] आधुनिक हिन्दी-रहस्यवादी प्रतीक-योजना में बाइबिल में प्रयुक्त प्रतीकों की प्रतिच्छवि प्राप्त होती है।

आधुनिक हिन्दी-कवियों का प्रतीक-विधान फ्रान्सीसी कवियों के प्रतीक-विधान से साम्य रखता है। फ्रान्स के साहित्य-जगत में प्रतीकवाद एक साहित्यिक

---

addressed, the more truth it will convey. A good symbolism, therefore, will be more than mere diagram or mere Allegery; it will use to the utmost the resources of beauty & passion... ...its appeal will not be to the clever brain, but to the desirious heart, the intuitive sense of man.

—Mysticism : E. Underhill, P. 13.

१. हिन्दी काव्य पर आंग्ल-प्रभाव—डा० रवीन्द्र सहाय वर्मा।

2. The image of the Bridegroom and the parable of talents are sometimes to be found in Ravindra Nath's poems.

—Western Inflence in Bengali Literature by Priya Ranjan Sen.

आन्दोलन के रूप में चला। इस धारा के कवियों[1] ने विश्वसाहित्य पर बड़ा व्यापक प्रभाव डाला है। फ्रांस में सन् १८७० में प्रजातन्त्रात्मक पद्धति के सूत्रपात्र के पश्चात् वहाँ के राजनीतिक क्षेत्र में दो वर्ग हो गये—जनतन्त्रवाद और पुरोहितवाद (Clericalism)। राजनीति के ये वाद साहित्य में प्रकृतिवाद और प्रतीकवाद के नाम से विख्यात हुये। इन साहित्यिक सम्प्रदायों के प्रवर्तन का श्रेय क्रमश: जोला और मलारमे को है। जोला ने साहित्य में भौतिक विज्ञान का प्रवेश कराया और मलारमे ने सौन्दर्यशास्त्र की प्रतिष्ठा की। प्रकृतवाद का निर्माण तो फ्रान्सीसी तत्वों ने ही किया, किन्तु प्रतीकवाद की प्रेरणा के मूल श्रोत जर्मन दार्शनिक कान्त, फिश्ते, शैलिंग, हीगेल और शोपेनहावर हुए। संक्षेप में फ्रांसीसी प्रतीकवाद की देन है—(१) अंत:प्रेरण, (२) व्यंजना, (३) तुक और छंदमुक्ति, (४) कविता और संगीत का सामन्जस्य, (५) सौन्दर्यवाद की स्थापना, (६) परम्परागत शैली का विरोध और बौद्धिक सूझ, (७) काव्य को राजनीति से दूर रखने का प्रयास। यद्यपि पश्चिम में प्रतीकवाद की जन्म भूमि फ्रांस ही है, किन्तु फ्रान्स से बाहर अन्य देशों में भी व्यापक रूप से इसका प्रभाव पड़ा। इंगलैण्ड में 'डिकेडेण्ट' वर्ग, अमेरिका में 'इमेजिस्ट' और 'सिम्बोलिस्ट' जर्मनी में 'रिल्के' और स्टेफन जार्ज तथा स्पेनिश अमेरिका में 'मार्डन स्टास', आदि इसी धारा के अन्तर्गत आते हैं।

"हिन्दी में टी० एस० इलियट का सर्वाधिक प्रभाव प्रयोगवादी कविता पर पड़ा है। टी० एस० इलियट के काव्य पर मनोविश्लेषण विज्ञान और फ्रांसीसी प्रतीकवाद का विशेष प्रभाव पड़ा है। इलियट के काव्य में अस्पष्टता का कारण उसकी शैली है, जिस पर बोदलेयर से लेकर पालबेलरी तक की प्रतीकवादी फ्रांसीसी कविता का प्रभाव है। वह अपने काव्य में काव्य के आशय को व्यक्त करने के लिये अधिकतर प्रतीकोंका प्रयोग करता है, किन्तु उसके में प्रतीक विविध साहित्यों व धार्मिक कथाओं से लिये गये हैं। इसकी कविताएँ अंग्रेजी और अन्य विदेशी कवियों के उद्धरणों से भरी पड़ी हैं। इसके अतिरिक्त 'गीता', उपनिषद, बौद्ध धर्म की पुस्तकों और बाइबिल के अनेक प्रसंग भी उनके काव्य में मिलते हैं। यही कारण है कि साधारण

---

1 (a) Baudelaire, Verlaine, Mellerme, Rimbaud, Henri de Regnier, Verhaerrn, Gustave kahn, Clauden, Proust, Paul Valery etc.

(b) Symbolism was in origin a mystical kind of poetry whose technique depended on its metaphysics and opularity was due to the importance it gave to s self and element of music in his art.

—The Heritage of Symbolism by C. M. Bowre. P. 12.

पाठक के लिये इलियट का काव्य कठिन हो जाता है।[1] हिन्दी के प्रयोगवादी कवियों ने इलियट की काव्य शैली का अनुकरण करने का प्रयत्न किया है। इन लोगों के कव्य में प्रतीकों और 'फ्री एसोसियेसन' पद्धति का प्रायः प्रयोग होता है।

आधुनिक युग के अभिव्यंजना-क्षेत्र में प्रतीकों की प्रधानता है। हिन्दी के आधुनिक कवि प्रतीकों द्वारा सत्य को अधिक-से-अधिक प्रभविष्णु, मार्मिक और संक्षिप्तरूप में व्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं। "काव्य में प्रतिकों का उद्देश्य केवल सजावट नहीं है, प्रत्युत वे काव्य के अधार-भूत अंग है। केवल कवि के भावावेश में उद्भूत प्रतीक ही पाठकों में वैसी भावना जगाने में समर्थ होते हैं। ऊपरी बुद्धि द्वारा सजावट के लिये गढ़े हुए प्रतीकों का विश्लेषण करने पर उनमें सच्ची सौंदर्य भावना का अभाव तथा शिथिलता लक्षित होती है। सुन्दरलय के समान सौन्दर्य पूर्ण उपमान और प्रतीक भी कवि की सच्ची भावानुभूति के द्योतक होते हैं। इन प्रतीकों का अपने देश की परम्परा, इतिहास, जलवायु तथा जाति के आचार-विचार से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। प्रत्येक देश के प्रतीकों का अपना समूह होता है जिसके द्वारा देशवासी अपने सुख-दुःख, मृत्यु, स्वर्ग, नरक आदि की भावना को प्रकट करते हैं। इस प्रकार उष्ण देशों की भीषण उष्णता नरक की ज्वाला का प्रतीक बन गई और ठंढे देशों की घोर शीतलता भी नरक मानी जाने लगी। बसंत तथा ग्रीष्म हर्ष और दुःख के द्योतक माने गये। इसलिये दूसरी भाषाओं के प्रतीकों का अपने साहित्य में समावेश करते समय अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है, क्योंकि उन भाषाओं से अपरिचित पाठकों के लिये अधिकांश विदेशी प्रतीक अर्थहीन सिद्ध होंगे।[2]" छायावादी कवियों को प्राचीन प्रतीक रुचिकर नहीं प्रतीत हुए और जो प्राचीन प्रतीक ग्रहण भी किये उन्हें उन्होंने नई अर्थ-दीप्ति, व्यंजना और भंगिमा प्रदान की। अतः उन्होंने अपनी कविताओं में प्रभविष्णुता और मार्मिकता लाने के लिये नवीन प्रभूत प्रतीकों की उद्भावना की।

स्थूल रूप से प्रतीक दो प्रकार के होते हैं—परम्परागत या रूढ़ और नवीन। छायावाद-युग और उनके बाद के कवियों ने नवीन प्रतीकों का ही अधिक प्रयोग किया है। छायावादी कवियों ने रूप-गुण सादृश्य की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना प्रभाव-साम्य की ओर। इस युग की प्रतीक-योजना की मार्मिकता का आधार मुख्यरूपेण प्रभाव-साम्य ही है। प्रभाव-साम्य की महत्ता बतलाते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा है कि "सिद्ध कवियों की दृष्टि ऐसे ही अप्रस्तुतों की ओर जाती है जो प्रस्तुत के समान ही सौन्दर्य, दीप्ति, कांति, कोमलता. प्रचण्डता, भीषणता,

१ हिन्दी-काव्य पर आंग्ल-प्रभाव —डा० रवीन्द्रसहाय वर्मा।

२ आधुनिक काव्यधारा—डा० केशरीनारायण शुक्ल डी. लिट्, पृष्ठ २१७-२१८।

उग्रता उदासी, अवसाद, खिन्नता, इत्यादि की भावना जगाते हैं।[१]" प्रभाव-साम्य ही आगे चल कर प्रतीक योजना का कार्य करता है। इसी तथ्य पर प्रकाश डालते हुए शुक्ल जी ने लिखा है कि "छायावाद बड़ी सहृदयता के साथ प्रभाव-साम्य पर ही विशेष लक्ष्य रख कर चला है। कहीं-कहीं तो, बाहरी सादृश्य या साधर्म्य अत्यंत अल्प या न रहने पर भी, आभ्यंतर प्रभाव-साम्य लेकर ही अप्रस्तुतों का सन्निवेश कर दिया जाता है। ऐसे अप्रस्तुत अधिकतर उपलक्षण के रूप या प्रतीकवाद होते हैं—जैसे सुख, आनन्द, प्रफुल्लता, यौवनकाल इत्यादि के स्थान पर उनके द्योतक ऊषा, प्रभात, मधुकाल, प्रिया के स्थान पर मुकुल; प्रेमी के स्थान पर मधुप; श्वेत या शुभ्र के स्थान पर कुंद; रजत, माधुर्य के स्थान पर मधु, दीप्तिमान या कांतिमान के स्थान पर स्वर्ण; विषाद या अवसाद के स्थान पर अंधकार, अंधेरीरात, या संध्या की छाया, पतझड़; मानसिक आकुलता या क्षोभ के स्थान पर झंझा; तूफान; भाव तरंग के लिये संगीत या मुरली के स्वर इत्यादि।[२]" इन प्रतीकों का छायावादी रचनाओं में अत्यधिक प्रयोग हुआ है। इस प्रकार छायावाद ने प्रतीक-विधान की एक नई परम्परा स्थापित की। छायावाद का आभ्यंतर प्रभाव-साम्य उस युग के कवि की अन्तर्दृष्टि सम्पन्न कल्पना-शक्ति का परिणाम है, जिसके द्वारा छायावादी कवि जड़-चेतन प्रकृत के बीच स्थित सूक्ष्म सम्बन्ध-सूत्रों को देखने में समर्थ था तथा अपनी महान् प्रतीक एवं उपमान-योजना द्वारा मानव-मानव के मध्य तथा मानव और प्रकृति के मध्य सम्बन्ध स्थापन का स्तुत्य कार्य सम्पन्न करता था। शुद्ध साध्यवसाना प्रयोजनवती लक्षणा में इसी प्रकार के प्रभाव-साम्य पर आधारित प्रतीकों का व्यवहार होता है।

छायावादी कवि रीतिकालीन कविता की कृत्रिमता और रूढ़िवादिता से पूर्ण परिचित था। अतः उसकी कविता के रूप-निर्माण के भावों को ही प्राधान्य प्राप्त हुआ और भावों ने जिस प्रकार विचारों के क्षेत्र में परम्परा का विरोध किया, उसी प्रकार रूप-विन्यास के क्षेत्र में भी। "अंग्रेजी में जिसे 'फार्म' कहते हैं, उसका सटीक अर्थ 'संगीत' है अर्थात् फार्म वह है जिसमें भाव के साथ रूप की पूर्ण संगति हो। भाव और रूप में जहाँ असंगति दिखाई पड़े, वहाँ रूप में कोई त्रुटि रह गई है। चारुता वही है जो' प्रियेषु सौभाग्यफल हो। 'फार्म' अथवा 'रूप' को संगति कहने का दूसरा अर्थ यह है कि स्वयं रूप-विन्यास के विभिन्न उपादानों और पक्षों में भी संगति होनी चाहिए; क्योंकि जब तक स्वयं रूप-विन्यास के भीतर संगति न होगी, वह समष्टि के भाव के साथ संगति कैसे बैठा सकेगा? आचार्यों ने रूप-विन्यास की इस आंतरिक संगति को 'सौन्दर्य' नाम दिया है—

---

(१) हिन्दी-साहित्य का इतिहास —पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ६७० ।

(२) हिन्दी-साहित्य का इतिहास —पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६७१ ।

अङ्गप्रत्यङ्गकांना यः सन्निवेशो यथोचितम् ।
संश्लिष्ट-सन्धिबन्धः स्यात् तत् सौन्दर्यमुदाहृतम् ।।

जब रूप—विन्यास अंग-प्रत्यंग से यथोचित सन्निविष्ट, संश्लिष्ठ तथा सन्धिबन्ध होता है, तभी वह स्वाभाविक प्रतीत होता है। भावों के साथ उसका मेल भी तभी बैठ सकता है और ऐसी ही स्थिति में किसी प्रकार के आभूषण बिना ही शरीर विभूषित मालूम होता है। सुरि और सुडौल अंग-यष्टि अपने आप ही शोभन है। इसी को आचार्यों ने 'रूप' अथवा 'फार्म' संज्ञा दी है—

अङ्गान्यभूषितान्येव केनचिद् भूषणादिना ।
येन भूषितवद् भान्ति तद् रूपमितिकथ्यते ।।

भाव और रूप की पूर्ण संगति के बाद कभी-कभी काव्य की रूपविधि एक और कार्य करती है। अपनी सार्थकता प्रमाणित कर चुकने के पश्चात् जब रूप अथवा फार्म किसी अतिरिक्त भाव की व्यंजना करता है, तब वह प्रतीक हो जाता है। 'झंझा' जब अपनी ध्वनि से आँधी-पानी दोनों का पूर्ण बोध करा देती है तो उसके रूप की पूरी सार्थकता हो जाती है। किन्तु इससे आगे बढ़कर जब वह किसी हृदय की व्यथा और क्षोभ की ओर सकेत करती है, तो अपनी सार्थकता के अतिरिक्त कार्य करती है। काव्य के क्षेत्र मे 'रूप' का यह अतिरिक्त कार्य 'प्रतीक' और 'व्यंजना' कहलाता है तथा वस्तुजगत में 'लावण्य'। रूप की इस व्यंग्यात्मक शक्ति को मोती की उपमा के सहारे समझाते हुये आचार्यों ने कहा है कि वह मोती की 'आब' अथवा 'तरल छाया' है—

मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वभिवान्तरा ।
प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ।।

छायावादी कवियों ने अपनी अनुभूतियों के अनुरूप रूप—विधि का निर्माण करते समय 'रूप' की संगति और सार्थकता के साथ-साथ उसके अतिरिक्त-संकेत की ओर ध्यान रक्खा है। इसलिये छायावाद की रूप—योजना में एक ओर जहां सूक्ष्म भावों के व्यंजक चित्र मिलते हैं, वहां दूसरी ओर प्रतीक-योजना भी पर्याप्त मिलती है।"[1] छायावादी कवियों की प्रतीक-योजना की यही अभिनवता है, जो तत्कालीन गतानुगतिकों को अग्राह्य हुई। प्राचीन काव्य-मर्मज्ञ इस काव्य को नवीन अप्रस्तुत और प्रतीकों के कारण नहीं ग्रहण कर सके; परिणामस्वरूप मनमाने आक्षेप किये, किन्तु यह युग की आवश्यकता थी। अतः निरन्तर विरोधों के होते हुए भी उसकी समृद्धि होती रही।

---

१ छायावाद—नामवर सिंह

प्रत्येक युग की कविता में प्रतीकों का प्रयोग प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ मध्यकालीन कविता में खंजन अथवा मीन का नाम लेते ही नेत्रों का बोध हो जाता है। ये प्रतीक लगातार प्रयोग के कारण रूढ़ि हो गये हैं, अतः अर्थ-बोध में कोई कठिनाई नहीं होती, किन्तु छायावादी कवियों ने परम्परागत प्रतीकों को न ग्रहण कर नये-नये प्रतीकों का प्रयोग प्रारम्भ किया। नये प्रतीकों की कोई परम्परा न होने के कारण आरम्भ में इन्हें समझने में लोगों को कठिनाई हुई, लेकिन प्रयोग की पुनरावृत्ति और प्रसंगानुकूलता की सहायता से वे रूढ़ बनने लगे। शनैः-शनैः युग की सामान्य भावधारा तथा सामाजिक चेतना के द्वारा ऐसा वातावरण बन गया कि वे प्रतीक सामान्य लोगों के राग-बोध के अंग बन गये। इस प्रकार छायावाद ने नये प्रतीकों की सृष्टि कर पूर्वपरिचित वस्तुओं में नवीन अर्थवता भर दी। उन्हें पूर्व-प्रचलित अर्थ में से विशेष अर्थ के लिये रूढ़ कर दिया। उदाहरणार्थ हम कतिपय प्रतीकात्मक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—

१ झंझा-झकोर गर्जन है बिजली है नीरद-माला।
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला॥

२ विस्मृति है, मादकता है, मूर्छना भरी है मन में।
कल्पना रही सपना था, मुरली बजती निर्जन में॥

३ पतझड़ था, झाड़ खड़े थे, सूखे-से फुलवारी में।
किसलयदल कुसुम बिछाकर आये तुम इस क्यारी में॥

४ आँसू से धुला निखरता, यह रंग अनोखा कैसा ?

× × ×

५ मुरली मुखरित होती थी।

६ नाविक ! इस सूने तट पर किन लहरों में खे लाया ?

—आँसू : प्रसाद।

१ झंझा–झकोर गर्जन, हृदय को व्यथित करने वाली तीव्र भावनाओं; बिजली हृदय में रह-रह कर उठने वाली पीड़ा और नीरदमाला उदासी के प्रतीक हैं।

२ मुरली मधुरभावनाओं का प्रतीक है।

३ पतझड़, शुष्कता; किसलयदल कुसुम, सरसता; और क्यारी हृदय के प्रतीक है।

४ रंग प्रेम का प्रतीक है।

५ मुरली भ्रमरों के गुंजार का प्रतीक है।

६ नाविक मन और लहरें भावनाओं के प्रतीक हैं।

प्रारम्भ में प्रसाद जी का 'आंसू' अपनी प्रतीकात्मक भाषा के कारण ही अस्पष्ट रहा। किसी ने उसे रहस्यवादी कहा, किसी ने मायावाद और किसी ने वैज्ञानिकता तथा अवैज्ञानिकता दोनों से परिपूर्ण कहा। यह सब गड़बड़झाला प्रसाद जी के प्रतीकों को ठीक रूप से न पकड़ने के कारण हुआ। 'आँसू' का तो प्रारम्भ ही प्रतीक और लक्षणा के साथ होता है—

इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती।

इसमें 'रागिनी' लक्षण शब्द है। हृदय ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें तार लगे हों, और किसी की अंगुलियों के चलने से 'राग' निकले। अतः जब वाच्यार्थ से अभीष्ट अर्थ असम्भव हो जाता है, तब हमें लक्षणा-शक्ति का आश्रित होना पड़ता है। 'रागिनी' से हम दुःख का पैदा होना ग्रहण करेंगे। रागिनी स्वर का, उल्लास का प्रतीक है। इसी प्रकार—

ये सब स्फुलिंग है मेरी,
इस ज्वालामयी जलन के।
—आँसू : प्रसाद।

इसमें 'स्फुलिंग' गरम आँसू का प्रतीक है। स्मृति से हृदय में जलन बढ़ गई है। परिणामतः गरम-गरम आँसू आँखों से निकलने लगे। अग्नि की चिनगारियाँ स्फुलिंग कहलाती हैं। अतः गरम आँसू और स्फुलिंग का गुण-साम्य होने के कारण स्फुलिंग गरम आँसू का प्रतीक बना लिया गया है। इससे वेदना की गहनता भी व्यंजित होती है। इसी प्रकार एक और उदाहरण देखिये—

निर्झर-सा झिर-झिर करता माधवी-कुञ्ज छाया में।
—आँसू।

'माधवी कुञ्ज' प्रिय का प्रतीक है और छाया 'सान्निध्य' का। माधवी कुंज में कोमलता, सुन्दरता, मोहकता आदि गुणों का समावेश प्रिय के रूप, स्वभाव आदि का द्योतक है।

कामायनी छायावाद-युग की सर्व श्रेष्ठ कृति है। इसमें प्रतीकों का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है। इसकी प्रतीक-योजना साम्य पर आधारित है। इसमें प्रतीक अधिकतर अलंकार-रूप अथवा लाक्षणिकता लाने के लिये प्रयुक्त हुए हैं; अतः वे दूरारूढ़ कल्पना से उद्भूत नहीं प्रतीत होते। उदाहरणार्थ—

१. अपनी ज्वाला से कर प्रकाश।
२. जीवन निशीथ के अंधकार।

३. कलियाँ जिनको मैं समझ रहा वे काँटे फैले आस-पास ।
४. मधुमय बसंत जीवन-बन के ।
५. क्या तुम्हें देखकर आते यों मतवाली कोयल बोली थी ?
६. देवों की विजय दानवों की हारों का होता युद्ध रहा ।
७. किरणों का रज्जु समेट लिया जिसका आलम्बन ले चढ़ती ।
८. स्वच्छन्द सुमन जो खिले रहे जीवन-बन से हो बीन रही ।
९. मुझको काँटे ही मिलें धन्य ।
हो सफल तुम्हें ही कुसुम कुन्ज ।

१० जीवन में सुख अधिक था या दुःख, मन्दाकिनि कुछ बोलोगी ।
नभ में नखत अधिक सागर में या बुद-बुद में गिन दोगी ।।

११ श्रद्धा देख रही चुप मनु के भीतर उठती आँधी को ।

—कामायनी

इन पंक्तियों में प्रयुक्त प्रतीकात्मक शब्द और उनके प्रतीकार्थ ये हैं—ज्वाला (वेदना), प्रकाश (ज्ञान अथवा सुख), अन्धकार (दुःख अथवा अज्ञान) कलियाँ (सुख के साधन), काँटे (कठिनाइयाँ अथवा दुःख), कोयल (हृदय का उल्लास), देव (सत्–प्रवृत्तियाँ), दानव (असत्वृत्तियाँ), किरणों का रज्जु (कल्पनायें), स्वच्छन्द सुमन (उन्मुक्त अभिलाषा), कुसुम कुंज (सुख), नखत (सुख), बुद-बुद (दुःख), आँधी (भावनाओं का प्राचुर्य और प्राबल्य) । इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्तियों में नृत्य, बन्शीवादन, मधुप-गुन्जन और शून्य हृदय के प्रतीक है—

वल्लरियाँ नृत्य निरत थीं,
बिखरी सुगन्ध की लहरें,
फिर वेणु-रंध्र से उठकर,
मूर्छना कहाँ अब ठहरें ।
गूंजते मधुर नूपुर से,
मदमाते होकर मधुकर,
वाणी की वीणा-ध्वनि-सी
भर उठी शून्य में झिलकर ।

× × ×

रश्मियाँ बनी अप्सरियां,
अंतरिक्ष में नचती थीं,
परिमल का कन-कन लेकर
निज रंगमंच रचती थीं ।

—कामायनी ।

निराला जी की निम्नलिखित पंक्तियों में 'प्रात', 'चन्द्र', 'ज्योत्सना' और 'रेणु' स्फूर्ति, शान्ति और शीतलता के प्रतीक हैं—

वहाँ नयनों में केवल प्रात, चन्द्रज्योत्सना ही केवल गात,
रेणु छाये ही रहते पात, मन्द ही बहती सदा बयार।
हमें जाना इस जग के पार॥
—परिमल।

जिन प्रतीकों में एक मूलगत व्यापक भाव की सार्वभौमिकता प्रतिष्ठित होती है, वे प्रतीक बड़ी तीव्रता के साथ सहृदय के मन में मुख्यभाव की निष्पति करते हैं। जीवन की विविधता की अनुभूति एक मेले की भावना से हो सकती है और सहृदय का हृदय सांसारिक आकर्षणों एवं कोलाहलों की नश्वरता की अनुभूति से स्वभावतः आच्छादित किया जा सकता है—

मैं अकेला
देखता हूँ आ रही
मेरे दिवस की सांध्यवेला।
पके आधे बाल मेरे,
हुए निष्प्रभ गाल मेरे
चाल मेरी मंद होती आ रही,
हट रहा मेला।
—गीतिका : निराला।

छायावादी कवियों में पंत जी ने प्रतीकों का सर्वाधिक प्रयोग किया है। पंत जी अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिये प्रतीकों के प्रयोग में अत्यन्त कुशल हैं। उदाहरणार्थ—

करुण भौंहों में था आकाश,
हास में शैशव का संसार;
तुम्हारी आँखों में कर वास,
प्रेम ने पाया था आकार।
उषा का था उर में आवास,
मुकुल का मुख में मृदुल विलास;
चाँदनी का स्वभाव में भास,
विचारों में बच्चों की सांस।
—पल्लव

कवि की कल्याणी को करुण भौंहों में उच्चता का आभास था, यह न कह कर आकाश ही कहा गया है। उसकी हँसी विश्व के पक्षपात पूर्ण वातावरण से निरपेक्ष थी, शुद्ध थी, इसके लिये शिशुओं का संसार व्यवहृत हुआ। हृदय में उल्लास था, यह न कह कर, उषा का आवास ही प्रयुक्त हुआ है। मुख से-वाणी के जो उद्‌गार निकलते, वे रमणीय होते थे, यह न कह कर उसमें अधखिली कली का मृदुल विकास ही प्रदर्शित किया गया है। कवि की मनोरमा का स्वभाव बहुत ही स्निग्ध और आह्‌लादक था, यह गुण बतलाने के लिए कवि ने चाँदनी का आश्रय लिया है। विचारों के भोलेपन के प्रतीक के लिये बच्चों से बढ़ कर भोलापन अलम्य है। अतः बच्चों की साँस से कवि ने इसी भोलेपन का संकेत किया है। इसी प्रकार निम्नलिखित उद्धरण में मानवता के लिये गंगाजल और कलुष के लिये मदिरा का प्रयोग किया गया है—

> कभी तो अब तक पावन प्रेम,
> नहीं कहलाया पापाचार।
> हुई मुझको ही मदिरा आज,
> हाय, क्या गंगाजल की धार॥
> —पल्लव।

निम्नलिखित पंक्तियों में मछली या मोती ब्रह्म का प्रतीक है, निस्तल जल परमार्थ या जीवन की तह का प्रतीक है। कवि इन प्रतीकों की सहायता से यह बतलाना चाहता है कि इस जीवन की तह में जो परमार्थ तत्त्व छिपा हुआ कहा जाता है, उसे पकड़ने और उसमें लीन होने के लिए बहुत से लोग अन्तर्मुख होकर गहरी-गहरी डुबकियां लगाते है, पर कवि को तो उसमें व्यक्त आभास ही रुचिकर है। अपनी पृथक् सत्ता विलीन करने में उसे भय लगता है—

> सुनता हूँ, इस निस्तल जल में
> रहती मोती मछली वाली
> पर मुझे डूबने का भय है
> भाती तट की चल-जल माली।
> —गुंजन : पंत।

इसी प्रकार 'गुंजन' के प्रथम गीत में कवि ने प्रतीकों के सहारे अपने प्रयोजनीय अर्थ की अभिव्यंजना की है—

> वन वन उपवन,
> छाया उन्मन, उन्मन गुंजन,
> नव-वय के अलियों का गुंजन।
> —गुंजन।

इसमें प्रयुक्त प्रतीकों के दोहरे अर्थ हैं। अलि छायावादी कवियों का भी प्रतीक है और अन्तरात्मा का भी। छाया छायावाद का प्रतीक है—और आध्यात्मिक जगत् का भी।

पंत जी के 'स्वर्णकिरण' की 'अशोक-वन' रचना प्रतीकात्मक है। इसके पात्र प्रतीकात्मक है। सीता पार्थिव-चेतना और राम ईश्वरत्व के प्रतीक हैं। धरा-चेतना सीता और सत्य-रूप राम के परिणय में ही लोक-मंगल है। रावण जड़-भौतिकता का प्रतीक माना गया है। राम (सत्य), सीता (धरा-चेतना) को रावण (जड़भूत-वाद) से मुक्त कर नव्य मानवी संस्कृति का विकास करते हैं। पिछली धनुष-भंग आदि घटनाओं की भी प्रतीकात्मक व्याख्या हुई है। रावण सीता को धरा की शोभा कह कर प्रणत होता है। फिर लंका-दहन होता है। 'पावक-वाहन' युग का कर्दम जलाकर धन्य है। सीता (चेतना) और राम (सत्य) के मिलन-पूर्व सीता की अग्नि परीक्षा भी होती है—'प्रभु, क्यों ली यह अग्नि-परीक्षा?' इन रचनाओं में कथा गौण है और प्रतीकों द्वारा विचार एवं चिन्तन की प्रसृति ही प्रधान है।

पंत जी ने आध्यात्मिक चेतना के लिए ज्योत्स्ना और स्वर्णप्रात के प्रतीकों का प्रयोग किया है। 'ज्योत्स्ना' नाटक में उन्होंने विश्व-संस्कृति के स्थापनार्थ साम्राज्ञी 'ज्योत्स्ना' के रूप में आध्यात्मिक चेतना का आह्वान किया है। 'ज्योत्स्ना' नाटक की इसी चांदनी का आगमन 'स्वर्णकिरण' में 'स्वर्णप्रात' के रूप हुआ है[1]—

खुला अब ज्योति-द्वार
उठा नव प्रीति-ज्वार,
सृजन-शोभा अपार
कौन करता अभिसार,
धरा पर ज्योति-भरण
हंसी तो स्वर्ण-किरण।

—स्वर्णकिरण।

---

१ 'ज्योत्स्ना' की स्वप्नकांत चांदनी (चेतना) ही एक प्रकार से 'स्वर्ण-किरण' में युग-प्रभात के आलोक से स्वर्णिम हो गई है—

वह स्वर्ण भोर को ठहरी जग के ज्योतित आंगन पर
तापसी विश्व की बाला पाने नव जीवन का वर।

चांदनी को सम्बोन्धित 'ज्योत्स्ना-गुंजन' काल की पंक्तियों में पाठकों को मेरे उपर्युक्त कथन की प्रतिध्वनि मिलेगी।

—'उत्तरा' की भूमिका : सुमित्रानन्दन पंत, पृष्ठ १।

आध्यात्मिक चेतना के लिए पंत जी ने अधिकांशत: स्वर्ण-प्रतीक का ही प्रयोग किया है। 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' का जगत स्वर्णभोर, स्वर्ण निर्झर, स्वर्णधूलि आदि का जगत है। इस नवीन आध्यात्मिक चेतना के आलोक में समस्त संसार अति सुन्दर दृष्टिगोचर होता है—

स्वर्णरजत के पत्रों की रत्नछाया में सुन्दर
रजत घंटियों सा सुवर्ण किरणों का झरता निर्झर।

× × ×

स्वर्णिम पराग स्वर्णिम पराग।

× × ×

जयति प्रथम जीवन स्वर्णोदय।

—स्वर्ण किरण।

स्वर्णबालुका किसने बरसा दी जगती के मरुथल में।
सिकता पर स्वर्णांकित कर, स्वर्गिक आभा जीवन मृग-जल में॥

—स्वर्ण-धूलि।

पंत जी की 'उत्तरा' की प्रतीकात्मकता कवि की उर्वर एवं व्युत्पन्न प्रतिभा का परिचायक है। 'उतरा' की प्राय: प्रत्येक कविता में मेघ, पावक, तड़ित, रक्तोज्वल, स्वप्नशिखर, छायाजलद, आभा, पंखुड़ियां, देवदूत, चन्द्रज्वाल, सूक्ष्मवाष्प, छायातप आदि अनेक रमणीय प्रतीक प्राप्त होते हैं। जहां तक प्रतीकों की विविधता का प्रश्न है, यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी-कविता में प्रतीकों के प्रयोग में पंत जी जैसी विविधता किसी में नहीं प्राप्त होती। 'उत्तरा' में प्रयुक्त सभी प्रतीक नवीन, रम्य और सक्षम हैं। उनके प्रयोगों में कहीं-कहीं दुरूहता अवश्य आ गई है। इस दोष का प्रधान उत्तरदायित्व प्रतीकों पर नहीं, उनके प्रयोगों पर है। जहां का प्रतीक-विधान सुस्पष्ट है, वहाँ प्रतीक भी स्पष्ट हैं; जहां उनका विधान ही अस्पष्ट एवं सघन है तो क्या निष्कर्ष निकाला जा सकता है?
उदाहरणार्थ 'निर्माणकाल' की इन पंक्तियों को देखिए—

लो, आज झरोखों से उड़ कर,
फिर देवदूत आते भीतर।
सुरधनुओं के स्मित पंख खोल,
नवस्वप्न उतरते जब भू पर।
रंग-रंग के छायाजलदों-सी,
आभा पंखड़ियां पड़तीं झर।
फिर मनोलहरियों पर तरतीं,
बिंबित अप्सरियां नि:स्वर॥

—उत्तरा।

यहाँ झरोखे,देवदूत, सुरधनुओं के स्मितपंख, छायाजलद, आभापंखड़ियां, मनोलहरियाँ, अप्सरियाँ निःस्वर सभी प्रतीक हैं और बीच में कोई भी पंक्ति ऐसी नहीं है जिसके द्वारा प्रत्येक के अर्थ का किसी प्रकार का कोई संकेत मिले। इसी प्रकार—

मेघों के उड़ते स्तम्भ खड़े
लिपटी जिनमें विद्युत ज्वाला
भीतर वाष्पों के कोश मसृण
नव इन्द्रजाल लटके कम्पित
चल जलदों के पट के भीतर
दिखते उड़ते तारक अगणित।
—उत्तरा।

इस उद्धरण में मेघ, विद्युत, वाष्प, तारक आदि क्रमशः स्थूल जगत, अन्तश्चेतना, सूक्ष्मभावतरंगों व आंतरिक प्रकाश के प्रतीक हैं, परन्तु 'प्रीति' शीर्षक कविता को समझने में बुद्धि को बहुत कुरेदना पड़ता है जैसा कि कबीर के बहुत से पद पहेली बना कर रक्खे जाते हैं। ऐसी पहेलियाँ उत्तरा में बहुत हैं। इनके खुल जाने पर कल्पना अवश्य उत्तेजित हो उठती है, परन्तु पाठक का धैर्य उसी प्रकार जवाब दे जाता है जैसा गणित की किसी समस्या के सामने आने पर होता है और समस्या के हल हो जाने पर जैसा कौतूहल-जन्य आनन्द मिलता है; वैसा ही आनन्द इन पहेलियों को खोलते समय मिला करता है। जो प्रतीक संवेदना को जागृत नहीं करते, वे इसी प्रकार गणित की प्रक्रिया को अपनाते हैं। इसीलिये 'उत्तरा' को पढ़ कर वह आनन्द नही मिलता, जो आनन्द रहस्यवादियों की कविता में मिलता हैं।

'अतिमा' पंत जी का नवीनतम काव्यग्रन्थ है। 'उत्तरा' के प्रतीकों में चेतना के स्तरों का क्रम बतलाने का प्रयत्न था, किन्तु इसमें कवि ने सांकेतिक पद्धति द्वारा अपनी विचारधारा को बड़ी कुशलता से व्यंजित करने का प्रयास किया है। मृत सिद्धान्तों 'कैंचुल' शीर्षक कविता में कवि ने गत संस्कारों को कैंचुल के रूप में प्रस्तुत किया है। मृत सिद्धान्तों के कैंचुलों में सभी अच्छे-बुरे सिद्धान्तों का बड़ी सफलता के साथ विद्रूप किया गया है। इसी प्रकार 'स्वर्णमृग' कविता में भी मानव-मन का चित्रण है। कहीं-कहीं पर बहुत भद्दे आरोप हुए हैं। प्रकाश-पतिंगे और छिपकलियों को भावनावादियों और भौतिकवादियों के रूप नें प्रस्तुत किया गया है। व्यंजना की दृष्टि से कविता अच्छी है, किन्तु यह अच्छाई बहुत महंगी है। कवि डांट के स्वर में कहता है—

उच्च उड़ान नहीं भर सकते,
तुच्छ बाहरी चमकीले पर।

महत् कर्म के लिए चाहिए,
महत् प्रेरणा बल भी भीतर ।।

—अतिमा ।

प्रकाश आत्मा का प्रतीक है, पतिंगे मन का और छिपकलियाँ देह का। देहवादियों को चाहिये कि वे आत्मा का आदर करें, यह कवि का उद्देश्य और है इस बहाने सामाजिक चेतना का उपहास करना, यह है महत् उद्देश्य। मन को चाहिये कि वह अति मन की ओर चले। छिपकलियों को चाहिये कि वे हिंसा छोड़ दें, देह के परे की सत्ताओं को स्वीकार करें। बाहरी चमकीले परों से, बाहरी उन्नति से आन्तरिक उड़ान नहीं भरी जा सकती और बिना इस उड़ान के लक्ष्य की उच्चता का अभाव होगा और लक्ष्यहीनता में मानव का विनाश हो जायेगा। कवि की इस प्रकार की बातों में कोई नवीनता नहीं है, क्योंकि इस प्रकार की बातें बहुत कही जा चुकी है और कहने के लिये जिन छिपकली आदि का प्रयोग किया गया है, यह भी अरुचिकर है ।

महादेवी वर्मा हिन्दी-कविता के आधुनिक युग की वेदनानुभूति प्रधान कवयित्री हैं। उनकी काव्य-वेदना आध्यात्मिक है। उसमें चिरन्तन प्रिय के प्रति किसी ससीम और विसर्जनोत्सुक प्रिय का आत्म-प्रणय-निवेदन है। कवयित्री ने अलौकिक के प्रति अपने विरह-निवेदन को बड़ी रहस्यमयी पदावली में अभिव्यक्त किया है। इस पदावली को समझने के लिये उनकी कल्पना को समझना आवश्यक है। "उनके काव्य का एक विशेष गुण उनका कल्पना–प्राचुर्य है। रूप-रंग के खेलों और प्रकृति के निर्द्वन्द्व रूपों के सहारे वे उन्मुक्तरूप से कल्पना-जगत में विहार करने लगती हैं और कभी-कभी पाठक के लिए उनके साथ-साथ चलना कठिन हो जाता है। उनकी कल्पना का विस्तार इतना सूक्ष्म-संश्लिष्ट और वर्णमय है कि वहां पहुँच कर भी पूर्ण अर्थ उसके साथ नहीं लगता। जब तक पाठक कवि के लाक्षणिक प्रयोगों के अन्तर में प्रवेश नहीं करता, तब तक अर्थ मुँदे ही रह जाते हैं। रहस्यवादी कवि के लिये भावुकता की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही कल्पना की भी। उसे ऐसे अनुभव को रूप-रंग देना होता है जो सामान्यत: किसी भी रूप-रंग में बँध नहीं पाता। इसीलिये उसे अपनी बात कहने के लिये प्रतीकों का सहारा लेना होता है।" महादेवी जी के प्रतीक अधिकतर नये ढंग से ढाले गये हैं। उनमें धर्म विशेष की गंध नहीं है, न वे सम्प्रदायों के बन्धन में बंधे हैं। अत: उनका अर्थ–संदर्भ के अनुसार स्वत: खोलना पड़ता है।"[१] उन्होंने अपने अधिकांश प्रतीक प्रकृति से लिए है, किन्तु इन प्रतीकों को प्रतिदिन की जानी-पहिचानी वस्तुओं से हटा कर नया अर्थ देने के लिये इन्हें असामान्य और अलौकिक रूप-तरंगों में मण्डित करना आवश्यक हो गया

---

१. डा० महादेवी वर्मा —डा० रामरतन भटनागर।

है। जहाँ अलौकिक रूप-रंग नहीं है, वहाँ भी कुछ बात इस तरह कही है कि वह अलौकिक बन गई है। प्रकृति के उपकरण जैसे समुद्र, निर्झर, वन, शैलपथ, तारे, चाँदनी, फूल, विहंगम, आदि सभी उनके काव्य में मानसिक अथवा आध्यात्मिक हलचल और साधना से सम्बन्धित हो गये हैं।" इस प्रकार महादेवी जी की साधना एवं उसकी आधारभूत वेदना को समझने के लिये उनके प्रतीकों का स्वरूप भली-भाँति समझना आवश्यक है। प्रतीकों के विविध प्रकार के प्रयोग से कवयित्री वेदना—भावना की सजीव अभिव्यक्ति करने में सफल हुई है।

प्राचीन साँस्कृतिक, ब्राह्मण धर्म एवं उपनिषद् के प्रतीकों में सूर्य, कमल, तारे, चन्द्रमा, रात, दिन, उषा, संध्या, अहोरात्र, शंख, मुरली, सम्पुट इत्यादि मुख्य हैं। भारतीयों में कमल आनन्द और सौन्दर्य का प्रतीक माना जाता है और इसीलिये मन्दिर, भवन, मूर्ति, चित्र तथा काव्य और नृत्य-मुद्राओं में उसका बहुत प्रयोग होता है। इस प्रकार किसी सूक्ष्म भाव-विचार या परोक्षसता का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु जो तर्क-बुद्धि से प्रस्तुत या उपास्य की अनुकृति नहीं कही जा सकती, प्रतीक कहलाती है।[1] रात, दिन, उषा, संध्या आदि नारी-रूप में विचित्र हैं। सम्पुट उपनिषद् का बड़ा प्रसिद्ध प्रतीक है। ये सब वेद, उपनिषद्, पुराणों के प्रतीक हैं जिन्हें रवीन्द्र साहित्य ने मधुर और लोकप्रिय बनाया तथा महादेवी जी ने भी स्वभावतः ग्रहण कर लिया। सम्पुट—केदारण्य में मैत्रेय को भगवान ने उपदेश दिया कि माता-पिता सीप की तरह है। महादेवी जी ने भी इस प्रतीक का इसी अर्थ में उपयोग किया है—

> नीलम मरकत के सम्पुट दो।
> जिनमें बनता जीवन मोती॥
>
> —यामा।

शंख विजय का प्रतीक है, ज्ञान का प्रतीक है। शून्य में शंखध्वनि जीवन डालने का प्रतीक है। यह युद्ध का भी प्रतीक रहा है। महादेवी जी ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है—

> शंख में ले नाद मुरली में छिपा वरदान।
> दृष्टि में जीवन अधर में सृष्टि ले छविमान॥
>
> —यामा

---

1. A Symbol might be defined as a representation which does not aim at being a reproduction.

—The Symbolist Movement in Literature.

—A. Symons.

मुरली वैष्णवों के अनुसार मोहनी जगाने वाली है। मुरली बहुत पुराना प्रतीक है। रवीन्द्र की कविता में भी इसका प्रचुर प्रयोग प्राप्त होता है।

कवयित्री के सम्मुख विसर्जन का बहुत महत्व है। एक पुष्प झरते-झरते संसार में सुगन्ध फैला कर एक आनन्द का वातावरण उत्पन्न कर देता है और छोटा सा दीपक बुझते-बुझते विश्व में आलोक भर देता है। अत: कवयित्री भी दीपक की भांति जल कर प्रकाश विखेरना चाहती है। निम्नलिखित पंक्तियों में दीपक कवयित्री के करुणापूर्ण जीवन का प्रतीक है और उसका जलना विश्व-सेवा में आत्म-विसर्जन है—

मधुर-मधुर मेरे दीपक जल !
युग-युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल
प्रियतम का पथ आलोकित कर

सौरभ फैला विपुल धूप बन,
मृदुल मोम सा धुल रे मृदुतन;

दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित,
तेरे जीवन का अणु गल-गल !
पुलक-पुलक मेरे दीपक जल !

—यामा।

इसी प्रकार प्याली जीवन का प्रतीक है, जो अश्रुसिक्त अर्थात् वेदना की अनुभूति से बनी है और उसमें साधिका ने ब्रह्म के विरह की वेदनानुभूति समन्वित करके उसे और भी वेदनापूर्ण बना दिया है; परन्तु यह वेदना मधुर मदिरा के समान है, क्योंकि उसमें प्रियमिलन का स्वप्न विद्यमान है—

अश्रुसिक्त रज से किसने
निर्मित कर मोती-सी प्याली
इन्द्रधनुष के रंगों से
चित्रित कर मुझको दे डाली ?
मैंने मधुर वेदनाओं की
उसमें जो मदिरा ढाली;
फूटी-सी पड़ती है उसकी
फेनिल विद्रुम-सी लाली।

\+ +

इस आशा से मैं उसमें
बैठी हूँ निष्फल सपने घोल;
कभी तुम्हारे सस्मित अधरों
को छू वे होंगे अनमोल।

—यामा।

प्रिय को स्वप्न में बांध कर चिरप्रतीक्षा की प्यास बुझाने की कल्पना बड़ी मधुर है। यहां जीवन को प्रतीक्षा का प्रतीक माना गया है—

तुम्हें बाँध पाती सपने में
तो चिर जीवन प्यास बुझा
लेती उस छोटे से क्षण अपने में!

—यामा।

यहां जीवन प्रतीक्षा का प्रतीक लक्षणा द्वारा सिद्ध होता है। इस प्रकार कवयित्री ने अपनी वेदनानुभूति की अभिव्यक्ति के लिये प्रतीकों का बड़ी मात्रा में प्रयोग किया है। प्रायः प्रतीक प्रकृति के उपकरणों से लिये हैं। इस प्रकार प्रकृति के विभिन्न उपकरणों का प्रतीक-विधान में उपयोग कर कवयित्री सहृदय हृदय को करुणाप्लावित कर देती है और वेदनानुभूति सहृदय हृदय की अपनी सी हो जाती है। उदाहरणार्थ मिलन का प्रतीक रात्रि सुंदर प्रतीक है, किन्तु उसमें ओसरूपी आंसुओं की कल्पना करके सारे वातावरण तक को वेदना की करुण अनुभूति से मिश्रित करके वेदनामय कर दिया है—

डाले नवघन का अवगुंठन
दृग-तारक में सकरुण चितवन
पदध्वनि से सपने जाग्रतकर
श्वासों से फैला मूक तिमिर
निशि अभिसारों में आंसू से
मेरी मनुहारें धो जातीं।

—यामा।

इसी प्रकार मधुमास के रूपक से अपना वेदनामय जीवन चित्रित करके अपने जीवन के विषाद को रात्रि के द्वारा और प्रिय की सुखद स्मृति को चाँदनी द्वारा, अश्रुधारा को कालिन्दी के प्रतीक से व्यक्त किया है—

मैं बनी मधुमास आली।
आज मधुर विषाद की घिर करुण आई यामिनी,
बरस सुधि के इन्दु से छिटकीपुलक की चांदनी,

उमड़ आई री दृगों में
सजनि कालिन्दी निराला ।।

—यामा ।

छायावादी कवियों ने प्राचीन प्रतीकों का भी नये अर्थ में प्रयोग किया है। उन्होंने अपने युग के अनुकूल इनके अर्थ में परिवर्तन कर दिया है। इस प्रकार छायावाद के बहुत से प्रतीक युगानुरूप हो गये हैं । वीणा, झंकार, कली, पवन, भ्रमर, मधु, क्षितिज, अनन्त, झंझा गोधूली, यामा, आकाश, मेघ, वर्षा, प्रात, संध्या, यामिनी, इत्यादि छायावादी प्रतीकों के उदाहरण हैं । छायावादी प्रतीक अधिकतर प्रकृति के विभिन्न क्षेत्रों से लिये गये हैं । कली, पवन और भ्रमर क्रमशः सुंदरी, प्रेमीनायक और सामान्य सुख चाहने वाले गृहस्थ या दर्शक के प्रतीक हैं । महादेवी कहती हैं—

हँस देता जब प्रात सुनहरे
अंचल में बिखरा रोली ;
लहरों की बिछलन पर जब
मचली पड़तींकिर णें भोली,

तब कलियां चुपचाप उठाकर पल्लव के घूंघट सुकुमार,
छलकी पलकों से कहती हैं 'कितना मादक है संसार ।'

देकर सौरभ दान पवन से
कहते जब मुरझाये फूल
जिसके पथ में बिछे वही
क्यों भरता इन आंखों में धूल ?

'अब इनका क्या सार' मधुर जब गाती भौरों की गुंजार,
मर्मर का रोदन कहता है 'कितना निष्ठुर है संसार ।।'

यामा ।

यहां कली सुन्दरी का, पवन प्रेमी नायक का और भ्रमर सामान्य सुख चाहने वाले गृहस्थ या दर्शक का प्रतीक है। संस्कृत में पवन दूत का प्रतीक था और मेघ दूत की कोटि में आता था। घनानन्द ने भी पवन को दूत बनाया है। भ्रमर भक्ति-साहित्य में बहुत ऊंचा प्रतीक था। भ्रमर उद्धव जैसे ज्ञानी का प्रतीक था । महादेवी ने इसे मुक्त आनन्द-विलास करने की चिंता करने वाले के अर्थ में व्यवहृत किया है। शलभ को कवयित्री ने संसार के निरर्थक मोह और आकर्षण का प्रतीक माना है। सांसारिक आकर्षण शलभ की भांति जीवन-दीप को घेरे रहते हैं, परन्तु दीपक की साधना कठोर है। दीपशिखा महादेवी के मन का प्रतीक है

उनकी सेवा के जीवन में तिल–तिल तपने की आत्मसमर्पण की साधना है। यह साधना उनके लिये एक साथ शाप और वरदान है—

शलभ मैं शापमय वर हूं
किसी का दीप निष्ठुर हूं।
शून्य मेरा जन्म था,
अवसान है मुझको सबेरा।
प्राण आकुल के लिये,
संगी मिला केवल अंधेरा॥

मिलन का मत नाम ले, मैं विरह में चिर हूं॥
—दीपशिखा॥

यहां अंधेरा विषाद का प्रतीक है। इस प्रकार बदली संतों और भक्तों के यहां धीर, गंभीर आदि का प्रतीक था। महादेवी जी ने उससे करुणा–जल बरसाने वाली का कार्य लिया है—'मैं नीर भरी दुख की बदली' बदली को देख कर मोर नाचने लगते हैं, संपूर्ण प्रकृति में नवजीवन आ जाता है। वही यहां आंसू का प्रतीक बन कर आह है। इसी प्रकार वर्षा करुणा का प्रतीक है, ग्रीष्म क्रोध का, बसंत आनन्द का, मलय-पवन मधु और रश्मि का, मकरंद आंसू का। कहीं-कहीं आंसुओं के लिये नक्षत्र और तुहिन-कण आदि भी प्रयुक्त हुए हैं। जीवन के प्रतीक रूप में तरी, प्याली, लहर इत्यादि आये हैं। नदी-नाव के प्रतीक का प्रयोग महादेवी जी की कविता में प्राय: हुआ है——

घोर तम छाया चारों ओर
घटायें घिर आई घनघोर
वेग मारुत का है प्रतिकूल
हिले जाते है पर्वत—मूल
गरजता सागर आरम्पार
कौन पहुंचा देगा उस पार ?

तरंगें उठीं पर्वताकार
भयंकर करतीं हाहाकार
अरे, उनके फेनिल उच्छ्वास
तरी का करते हैं उपहास
हाथ से गई छूट पतवार
कौन पहुंचा देगा उस पार ?
—यामा।

✓यहां सागर संसार का, तरी मनुष्य जीवन का, चारों ओर का अंधकार अज्ञान का और मारुत विपरीत परिस्थितियों का प्रतीक है।

'दीपशिखा' में महादेवी जी ने मुख्यरूप से दीपक के ही प्रतीक का प्रयोग किया है। इससे दीपक साधिका की आत्मा का, तेल आँतरिक स्नेह का, अंधकार पीड़ा का और झंझावात अनेक विघ्नबाधाओं का प्रतीक है। मंदिर के निर्जन प्रांगण में देवता की वेदी के आगे जलता हुआ दीपक कवयित्री की एकांत साधना का प्रतीक है—

यह मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो।
रजत शंख घड़ियाल स्वर्ण-वंशी वीणास्वर,
गये आरती बेला को शत-शत लय से भर,

जब कलकंठों का मेला
विहँसे उपल तिमिर था खेला
अब मंदिर में इष्ट अकेला।

इसे अजिर का शून्य गलाने को गलने दो॥
—दीपशिखा।

महादेवी जी के स्वनिर्मित प्रतीक होते हुए भी उन पर रबिबाबू का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। ऐसे प्रतीकों में बदली (सेवा करने वाली, करुणजल से पूर्ण बादल-खंड), सांध्यगगन (लौकिक के प्रति विराग, अलौकिक के प्रति अनुराग), यामिनी (सेवा की साधिका) ओस, गीले फूल (आंसुओं की लड़ी), वेदना जल (आंसू), सरिता (करुणा और प्रेम की वाहक), बादल (करुणा के रखवाले), गोधूली (करुणा मिलन-बेला), तारा (बिल्कुल असमर्थ विवेक-वादी), उषा (राग), इन्द्रधनुष (मधुरमिलन की स्मृतियां), झंकार (हृदय का स्पंदन), तरल मोती (आंसू), झंझा (अनन्त से मिलन के मार्ग की अनेक बाधायें) आदि प्रमुख हैं।

पं० नन्ददुलारे जी वाजपेयी ने अपने एक लेख में महादेवी के काव्य (यामा) का विवेचन करते हुये लिखा है कि "महादेवी जी के काव्य में छायावाद-युग की विशेषतायें नहीं मिलतीं। प्रकृति-सौंदर्य के प्रति "पल्लव" वाले पंत जी का (इस प्रयोग के लिये क्षमा चाहता हूं) सविमोहक आकर्षण उनमें नहीं, इसके बदले वे प्रकृति के एक-एक रूप या उसकी एक-एक वृत्ति को साकार व्यक्तित्व देकर उनके व्यापारों की कल्पना करती हैं, जिनमें उनकी समृद्ध कल्पना-शीलता प्रकट हुई है। अवश्य यह कल्पना-बाहुल्य ही छायावाद-युग की एक विशेषता उनके काव्य में दीखती है। किन्तु वे कल्पनायें सब जगह सीधी और चोट करने वाली नहीं हैं, उनका प्रत्यक्ष रूप सहज आंखों के सामने नहीं आता। कहीं-कहीं तो उन प्रतीकों का वह

कल्पित व्यापार हमारे सौन्दर्य संस्कारों के प्रतिकूल पड़ जाता है और कहीं-कहीं वह इतना क्लिष्ट होता है कि हम ईप्सित सौन्दर्य की झांकी नहीं पा सकते। इन दोनों का एक-एक उदाहरण मैं देना चाहता हूं—

> रजनी ओढ़े जाती थी, झिलमिल तारों की जाली
> उसके बिखरे वैभव पर जब रोती थी उजियाली ।।

यह प्रभात का दृश्य है। रजनी का झिलमिल तारों की जाली ओढ़ कर जाना, बड़ी ही सरल और मार्मिक कल्पना है। किन्तु उजियाली का रोना हम साधारणतः कहीं नहीं देखते ? वह प्रायः हँसती ही आती है। यहां हमें अपनी अभ्यस्त अनुभूतियों को दबा कर यह कल्पना करनी पड़ती है कि प्रभातकाल की नमी अथवा ओस आंसू रूप में रो रही है। क्लिष्ट कल्पना का एक उदाहरण मैंने यह चुना है—

> निश्वासों का नीड़ निशा का बन जाता जब शयनागार।
> लुट जाते अभिराम छिन्न मुक्तावलियों के बन्दनवार ।।
> तब बुझते तारों के नीरव नयनों का हाहाकार।
> आँसू से लिख-लिख जाता है कितना अस्थिर है संसार ।।

आकाश में रात्रि के समय अचानक बादल छा गये हैं और पानी बरसने लगा है। इसी अवस्था की यह कल्पना जान पड़ती है। अथवा यह रात्र्यंत की कल्पना है। रात्रि को मुक्तावलियों के अभिराम बन्दनवार (तारिकापंक्ति) छिन्न होकर लुट गये हैं। विश्वासों का नीड़ उसका शयनागार बन गया है (इसका इतना ही अर्थ मेरी समझ में आ पाता है कि रात्रि दुःख पूर्ण निश्वास ले रही है)। तारे बुझ रहे हैं, बूंदे गिरने लगी हैं, वही मानों बुझते तारों के नीरव नयनों का हाहाकार और उसके आँसू हैं, जिनके द्वारा यह लिखा जा रहा है, 'संसार कितना अस्थिर है' कितनी कल्पना हमें ऊपर से करनी पड़ती है, कृपया विचार कीजिये ? और अब भी मुझे निश्चय नहीं कि मेरा अर्थ ठीक ही है। जिस क्षण को महादेवी जी की कल्पना ने पकड़ा है-तारों से हँसते हुए आकाश में सहसा मलिन बादलों का छा जाना अथवा निशांत तारों का डूबना, वह काव्योपयुक्त और अति सुन्दर है, किन्तु क्या यही बात उनके इस चित्रण के सम्बन्ध में कही जा सकती है ? इसके दो कारण मुझे दीखते हैं। एक तो यह कि महादेवी जी की कवितायें इतनी अन्तर्मुख हैं कि वे प्रकृति के प्रत्यक्ष स्पंदनों, उनकी ध्वनियों और संकेतों से सुपरिचित नहीं; और दूसरा यह कि वे काव्य के एक-एक बन्द को एक-एक चित्र के रूप में सजाना चाहती हैं, जिसमें वस्तुओं और व्यापारों की योजना संश्लिष्ट हुआ करती है और चूंकि वे मानसिक कृतियों और वातावरणों को भी उन्हीं वस्तु-व्यापारों के द्वारा ध्वनित करना चाहती हैं, इसलिए यह कार्य उनके लिए दुःसाध्य हो जाता है।" इसी लेख में एक अन्य स्थान पर वाजपेयी जी कहते हैं कि "छायावाद काव्य के व्यक्त प्रकृति के सौंदर्य-प्रतीकों को न लेकर महादेवी जी ने उन प्रतीकों की व्यापक

मैं समझूगा सब व्यर्थ हुआ
भीगी ठंडी रातों में जग

अपने जीवन के लोहू से लिखना अपना जीवन—गायन।

सुखमय न हुआ यदि सूनापन।
—एकांत संगीत।

इसी प्रकार विष जीवन की कटुता के लिए प्रतीक-रूप में गृहीत है और विपत्तियों की समान्तरता से अप्रस्तुत्व भी ध्वनित है--

विष का स्वाद बताना होगा।
ढाली थी मदिरा की प्याली,
चूसी थी अधरों में लाली,

कालकूट आने वाला अब देख नहीं घबराना होगा।
विष का स्वाद बताना होगा।
--एकांत संगीत।

'बच्चन' के निम्नलिखित उद्धरण में भोर को विपत्ति-मोचन और तम को निराशा का प्रतीक माना गया है। ये सीमित तथा एकोन्मुखी प्रतीक हैं--

बहुत संभव कुछ न पाऊँ,
किन्तु कैसे लौट आऊँ
लौट कर भी देख पाऊँगा नहीं मैं भोर!
मुंह क्यों आज तम की ओर ?
—एकांत संगीत।

हाला, प्याला, मधुशाला और साकीवाला, मालिक, मधुशाला और पीने वाला हालावादी काव्य के उपकरण हैं। उमरखैयाम की सुरा आध्यात्मिक प्रेम की सुरा कही जाती है। बच्चन ने भी उसी का अनुकरण कर हाला को अपने प्रतीकों में व्यक्त करने का प्रयत्न किया--

चाहे जितनी दूँ मैं हाला,
चाहे जितने तू पी प्याला,
चाहे जितना बन मतवाला

सुन भेद बताती हूँ अंतिम।
यह शांत नहीं होगी ज्वाला।
मैं मधुशाला की मधुबाला।

यह स्वप्न-विनिर्मित मधुशाला,
यह स्वप्न-रचित मधु का प्याला,
स्वप्निल तृष्णा स्वप्निल हाला,
स्वप्नों की दुनियाँ में भूला,
फिरता मानव भोला भाला।
मैं मधुशाला की मधुबाला।
—मधुबाला।

✓बच्चन की हालावादी कविता के प्रतीकों के कतिपय उदाहरण हैं—

मधुशाला	साकीबाला	प्याला	हाला
विश्व	समीर	नभ	सागर-जल
वीणा	रागिनी	तार	स्वर-लहरी
वलिवेदी	भारतमाता	वीरों के शीश	वीररक्त
प्रणय	प्रेयसी	अधर	यौवनरस
विरही	आँखें	पलक	आँसू

इस प्रकार के राशि-राशि प्रतीक 'मधुशाला' और 'मधुबाला' में प्राप्त होते हैं, किन्तु इन प्रतीकों का निर्वाह सर्वत्र नहीं हो पाया है।

रामधारी सिंह 'दिनकर' ने भी बहुत ही सुन्दर और मार्मिक प्रतीकों का प्रयोग किया है। उनके काव्य में विशेष रूप से 'कुरुक्षेत्र' में दो प्रकार के प्रतीक प्राप्त होते हैं—कोमल और कठोर प्रतीक। जहाँ भाव कोमल होते हैं, वहाँ का प्रतीक-विधान भी मधुर होता है और जहाँ भाव उग्र एवं कठोर होते हैं, वहाँ की प्रतीक-योजना भी उग्र होती है। कोमल प्रतीक-योजना का एक उदाहरण देखिये—

चाहिए उनको न केवल ज्ञान
देवता है मांगते कुछ स्नेह, कुछ बलिदान
मोम सी कोई मुलायम चीज़
ताप पाकर जो उठे मन में पसीज-पसीज
प्राण के झुलसे विपिन में फूल कुछ सुकुमार
ज्ञान के मरु में सुकोमल भावना की धार,
चाँदनी की रागिनी, कुछ भोर की मुसकान
नींद में भूली हुई बहती नदी का गान
रंग में घुलता हुआ खिलती कली का राज
पत्तियों पर गूंजती कुछ ओस की आवाज
आँसुओं में दर्द की गलती हुई तस्वीर
फूल की, रस में बसी-भीगी हुई जंजीर।
—कुरुक्षेत्र

यहाँ कोमल भावों के लिए चाँदनी की रागिनी और भोर की मुस्कान आदि प्रतीक आए हैं। इन प्रतीकों का अर्थ एक-सा है, किन्तु इन सबके प्रयोग से कविता में जो माधुर्य और चमत्कार आ गया है, वह इनके बिना नहीं आ सकता था। इसी प्रकार कठोर प्रतीकों का प्रयोग भी दर्शनीय है—

पर हाय, यहाँ भी धधक रहा अम्बर है,
उड़ रही पवन में दाहक, लोल लहर है।
कोलाहल-सा आ रहा काल-गह्वर से,
बाड़व का रोर-कुराल क्षुब्ध सागर से॥
—कुरुक्षेत्र

नरेन्द्र शर्मा की निम्नलिखित पंक्तियों में ज्योति आशा के प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुई है—

तिमिर माया-जाल को हर,
ज्योति से जीवन गया भर,
रहेगा ज्योतित निरंतर,
ज्योति-चुम्बन से हृदय के दीप की बाती जली।
घर-घर जली दीपावली।
—पलाशवन।

छायावाद की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति, लाक्षणिक लाघव, और चित्रात्मकता से प्रगतिवादी पूर्णरूपेण मुक्त नहीं हो सके। 'अंचल' का निम्न प्रतीकात्मक प्रयोग सर्वथा छायावादी है—

उर में आग नयन में पानी, होठो में मुस्कान सजा,
हम हंसते इठलाते चलते, इतरा-इतरा बल खा-खा।
अपनी तरणी फेंक प्रलय की लहरों में खुल खेले हम,
आज भाग्य के उल्कापातों को हंस-हंस कर झेलें हम॥
—मधूलिका।

गोपालसिंह नैपाली ने दीपक को जीवन के प्रतीक के रूप में व्यवहृत किया है—

दुख की घनी बनी अंधियारी,
सुख के टिमटिम दूर सितारे।
उठती रही पार की बदली,
मन के पंछी उड़-उड़ हारे।

बची रही प्रिय की आंखों से,
मेरी कुटिया एक किनारे ।
मिलता रहा स्नेह-रस थोड़ा,
दीपक जलता रहा रात भर ।।
—नवीन ।

जानकीबल्लभ शास्त्री ने चित्र को 'नामरूप' जग का प्रतीक बनाया है—

किसका रंग किसकी रेखा ?
प्राण छोड़ कर तन का लेखा ।
मैंने ऐसा चित्रा न देखा—

जिसमें स्वर हों सप्त बिखेरे ।
रूपचितेरे ! रूपचितेरे !!
—गीत-वितान ।

हंसकुमार तिवारी ने तम को अज्ञान और भाषा को विचारों की अभिव्यक्ति के साहस आदि के लिए प्रयुक्त किया है—

तम में ही मेरा जन्म हुआ,
तम में ही होने चला शेष ।
मैं तो किस्मत का मारा हूं,
मैं शेष रात का तारा हूं ।।
—रिमझिम ।

रहस्यवाद छायावाद की एक प्रवृत्ति है । "रहस्यवादी समुदायों के प्रधान प्रतीक 'रहस्यात्मक खोज', आत्मा का विवाह और (हठयोगी के) 'पारसपत्थर' हैं ।[१] इन प्रतीकों में रहस्यात्मक खोज के प्रतीक आधुनिक हिन्दी-कवियों को विशेष

---

१ आधुनिक काव्यधारा—डा० केसरीनारायण शुक्ल, पृ० २३९ ।
शुक्ल जी के रहस्यवादी प्रतीकों का यह वर्गीकरण बहुत कुछ ई० अंडरहिल के वर्गीकरण पर आश्रित है—

The symbols of pilgrimage (Divine transcendence) the symbols of love (mutual desire), and the symbols of transmutation (divine immanence.). —*Mysticism.*

Psychology of Unconcious शीर्षक पुस्तक में जुंग ने रहस्यवादी प्रतीकों का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से बहुत विशद विवेचन किया है ।

रूप से प्रिय रहे है। प्रसाद जी की निम्नलिखित अन्योक्ति में इसी भाव की व्यंजना हुई है। सरिता देवलोक की अमृत-कथा की माया हिमालय को छोड़कर हरे-भरे मैदानों में न रमती हुई सागर में (जिसका देखा था सपना) परमविश्राम की आकांक्षा में बहती हुई चली जा रही है।

देवलोक की अमृत-कथा की माया,
छोड़ हरित कानन की आनस-छाया।
विश्राम मांगती अपना जिसका देखा था सपना।

—लहर

इस प्रकार सदैव आगे बढ़कर प्रिय को खोजती हुई चली जाने वाली और पीछे मुड़ कर भी न देखने वाली सरिता को देखकर पंत जी की यह जिज्ञासा जागती है कि उसे अनन्त का पथ किसने बतलाया—

मां उसको किसने बतलाया उस अनन्त का पथ अज्ञात।
वह न कभी पीछे फिरती है, कैसा होगा उसका बल ?
—वीणा।

मोहनलाल 'वियोगी' भी इसी प्रकार के प्रतीक माध्यम से कहते हैं—
यद्यपि मैं हूं लिये पीठ पर जीवन का गुरु भार।
तरी डूबने का यदि भय हो कहीं यहीं दूं डार॥
हाथ जोड़ता हूं न सताओ तुम हो बड़े उदार।
मुझे अब पहुँचा दो उस पार॥
—निर्माल्य।

आत्मा के विवाह के प्रतीक का प्रयोग निराला और महादेवी ने अधिक किय है। अपने वर की प्रतीक्षा में निमग्न-वधू के चित्र का प्रतीक प्रायः उनके काव्य में आता है। अभिसारिका (आत्मा) अपने प्रिय के पथ पर चलती है, किन्तु जग उसका उपहास करता है। उसने अपने प्रिय की पग-ध्वनि सुन ली है और उसका अब पीछे लौट जाना असम्भव है। उसका अंग-अंग प्रसन्नता से पुलकित हो उठा है—

मौन रही हार,
प्रिय-पथ पर चलती सब कहते श्रंगार।
कण-कण कर कंकण, किण-किण रव किंकिणी।
रणन्-रणन् नूपुर उर लाज लौट रंकिणी॥
शब्द सुना हो तो अब लौट कहां जाऊं।
उन चरणों को छोड़ और शरण कहां पाऊँ॥
बजे साजे उर को इस सुर के सब तार।
—गीतिका।

बची रही प्रिय की आंखों से,
मेरी कुटिया एक किनारे ।
मिलता रहा स्नेह-रस थोड़ा,
दीपक जलता रहा रात भर ॥
—नवीन ।

जानकीबल्लभ शास्त्री ने चित्र को 'नामरूप' जग का प्रतीक बनाया है—

किसका रंग किसकी रेखा ?
प्राण छोड़ कर तन का लेखा ।
मैंने ऐसा चित्रा न देखा—

जिसमें स्वर हों सप्त बिखेरे ।
रूपचितेरे ! रूपचितेरे !!
—गीत-वितान ।

हंसकुमार तिवारी ने तम को अज्ञान और भाषा को विचारों की अभिव्यक्ति के साहस आदि के लिए प्रयुक्त किया है—

तम में ही मेरा जन्म हुआ,
तम में ही होने चला शेष ।
मैं तो किस्मत का मारा हूं,
मैं शेष रात का तारा हूं ॥
—रिमझिम ।

रहस्यवाद छायावाद की एक प्रवृत्ति है । "रहस्यवादी समुदायों के प्रधान प्रतीक 'रहस्यात्मक खोज', आत्मा का विवाह और (हठयोगी के) 'पारसपत्थर' हैं ।[१] इन प्रतीकों में रहस्यात्मक खोज के प्रतीक आधुनिक हिन्दी-कवियों को विशेष

---

१ आधुनिक काव्यधारा—डा० केसरीनारायण शुक्ल, पृ० २३९ ।
शुक्ल जी के रहस्यवादी प्रतीकों का यह वर्गीकरण बहुत कुछ ई० अंडरहिल के वर्गीकरण पर आश्रित है—

The symbols of pilgrimage (Divine transcendence) the symbols of love (mutual desire), and the symbols of transmutation (divine immanence.). —*Mysticism.*

Psychology of Unconcious शीर्षक पुस्तक में जुंग ने रहस्यवादी प्रतीकों का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से बहुत विशद विवेचन किया है ।

रूप से प्रिय रहे है। प्रसाद जी की निम्नलिखित अन्योक्ति में इसी भाव की व्यंजना हुई है। सरिता देवलोक की अमृत-कथा की माया हिमालय को छोड़कर हरे-भरे मैदानों में न रमती हुई सागर में (जिसका देखा था सपना) परमविश्राम की आकांक्षा में बहती हुई चली जा रही है।

देवलोक की अमृत-कथा की माया,
छोड़ हरित कानन की आनस-छाया।
विश्राम मांगती अपना जिसका देखा था सपना।

—लहर

इस प्रकार सदैव आगे बढ़कर प्रिय को खोजती हुई चली जाने वाली और पीछे मुड़ कर भी न देखने वाली सरिता को देखकर पंत जी की यह जिज्ञासा जागती है कि उसे अनन्त का पथ किसने बतलाया—

मां उसको किसने बतलाया उस अनन्त का पथ अज्ञात।
वह न कभी पीछे फिरती है, कैसा होगा उसका बल ?

—वीणा।

मोहनलाल 'वियोगी' भी इसी प्रकार के प्रतीक माध्यम से कहते हैं—

यद्यपि मैं हूं लिये पीठ पर जीवन का गुरु भार।
तरी डूबने का यदि भय हो कहीं यहीं दूं डार॥
हाथ जोड़ता हूं न सताओ तुम हो बड़े उदार।
मुझे अब पहुँचा दो उस पार॥

—निर्माल्य।

आत्मा के विवाह के प्रतीक का प्रयोग निराला और महादेवी ने अधिक किय है। अपने वर की प्रतीक्षा में निमग्न-वधू के चित्र का प्रतीक प्रायः उनके काव्य में आता है। अभिसारिका (आत्मा) अपने प्रिय के पथ पर चलती है, किन्तु जग उसका उपहास करता है। उसने अपने प्रिय की पग-ध्वनि सुन ली है और उसका अब पीछे लौट जाना असम्भव है। उसका अंग-अंग प्रसन्नता से पुलकित हो उठा है—

मौन रही हार,
प्रिय-पथ पर चलती सब कहते श्रृंगार।
कण-कण कर कंकण, किण-किण रव किंकिणी।
रणन्-रणन् नूपुर उर लाज लौट रंकिणी॥
शब्द सुना हो तो अब लौट कहां जाऊं।
उन चरणों को छोड़ और शरण कहां पाऊँ॥
बजे साजे उर को इस सुर के सब तार।

—गीतिका।

'तुम जावगे चले' शीर्षक सम्पूर्ण कविता प्रतीकात्मक शैली में लिखी गई है। प्रात (जन्म) होने पर प्रियतम (ईश्वर) का प्रेयसि (आत्मा) से वियोग हो जाता है। रात्रि (जन्म से पूर्व) में वे दोनों एक दूसरे के समीप थे, किन्तु आलोक (माया) के फूटते ही उन दोनों पर भेद छा गया और वे विलग हो गये—

हुआ प्रात प्रियतम ! तुम जावगे चले ?
कैसी थी रात, बन्धु थे गले-गले
फूटा आलोक,
परिचय-परिचय पर जग गया भेद, शोक !
छलते सब चले एक अन्य के चले।

—गीतिका।

महादेवी जी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति इसी प्रकार के प्रतीकों द्वारा हुई है। उदाहरणार्थ—

नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ।
शलभ जिसके प्राण मैं वह निठुर दीपक हूँ।
फूल को उर में छिपाए विकल बुलबुल हूँ।
एक होकर दूर तन से छांह वह बल हूँ॥
दूर तुमसे हूँ, अखण्ड सुहागिनी भी हूँ॥

—यामा।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जहाँ 'कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाए'— का झंझा उठाते हैं, वहाँ चिन्तन की नीहारिका में प्रतीकों द्वारा आत्मा की विदाई का लुभावना गीत भी गाते हैं—

डोले वालो, बढ़े चलो तुम,
छोड़ो अटपट चाल रे,
सजन-भवन पहुँचा दो हमको,
मन का हाल-बिहाल रे,
बरखा-ऋतु में सब सहेलियाँ
मैके पहुँची जाय रे,
बाबुल-घर से आज चलीं हम,
पिय-घर लाज विहाय रे,
उनके बिन बरसाती रातें,

कैसे कटें अचूक रे,
पिय की बांह उसीस न हो तो,
मिटे न मन की हूक रे !

—श्वासि ।

इस प्रकार की रहस्यात्मक भावना का प्रचुर प्रयोग कबीर-साहित्य में प्राप्त होता है। वैष्णव-भक्ति में यह 'माधुर्य-भाव' के नाम से पुकारी जाती है। "आधुनिक विकास तथा परिवर्तन के प्रतीकों का बहुत कम प्रयोग किया है। 'पारसपत्थर' का संयोग कवियों को अधिक आकृष्ट न कर सका। इसके उदाहरण यदा-कदा मिलते हैं।'नेपाली' की निम्नलिखित पंक्तियों में इसकी ओर सकेत हुआ है—

मैं तो पृथ्वी पर पड़ा लोह, बस बाट तुम्हारी रहा जोह।
तुम पारस कर दोगे कंचन, तुम कब समझोगे मेरे मन ।।

—उमंग।

'निराला' की निम्नलिखित पंक्ति में अन्तर्मुखी साधना की व्यंजना हुई है—

पास ही रे हीरे की खान,
खोजता कहाँ और नादान।

—गीतिका ।

इन उदाहरणों से आधुनिक कवियों की रहस्यात्मक प्रतीकात्मकता का परिचय मिलता है।— यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि प्रतीक सांकेतिक होते हैं, सत्य नहीं। इनके शब्दार्थ का अधिक आग्रह न कर इनके इंगित पर ध्यान देना चाहिये। शब्दार्थ पर अधिक जोर देने से प्रतीकों का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है और वे कवियों के साम्प्रदायिक विचारों की प्रतिध्वनि बन जाते हैं। दूसरों को समझाने के प्रयत्न में प्रतीकों के अंग-प्रत्यंग का निरूपण करने से वे हास्यास्पद बन जाते हैं। प्रतीकों का अधिक विवरण उनकी सांकेतिकता नष्ट कर देता है, क्योंकि प्रतीक केवल प्रतिकृति है, इससे अधिक कुछ नहीं।"[१]

'निराला' जी ने कहीं-कहीं पर वेदान्त के प्रतीकों को प्रस्तुत किया है। वह 'मैं' ब्रह्म के प्रतीक—रूप में व्यवहृत करते हुए कहते हैं—

वहाँ कहाँ कोई अपना, सब सत्य नीलिमा में लयमान।
केवल मैं, केवल मैं, केवल मैं ज्ञान ।।

—परिमल।

१. आधुनिक काव्यधारा—डा० केसरीनारायण शुक्ल, पृ० २४१।

कभी-कभी अन्योक्तियों द्वारा निराला जी आत्मा और शरीर के सम्बन्ध की चर्चा करते हैं। मैं (आत्मा) गृह (शरीर) में अवरुद्ध होकर नहीं रहना चाहता—

> मैं न रहूँगा गृह के भीतर,
> जीवन मेरे मृत्यु के विवर।
> यह गुहा गर्त, प्राचीनरुद्ध, नवदिक् प्रसार वह किरणशुद्ध ।।
> —गीतिका।

इतने विवेचन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि छायावादी कवियों ने सौन्दर्यमय प्रतीक—योजना द्वारा भावाभिव्यक्ति को मूर्तता, चित्रात्मकता एवं तीव्रता देने का अभिनव सफल प्रयास किया है। प्रतीकात्मकता छायावादी अभिव्यक्ति का सबल-संबल है। इस युग के कवियों ने तीन प्रकार से प्रतीकों का प्रयोग किया है—

१. उपमानच्छल से
२. रूपकच्छल से
३. लक्षणा से।

उपमान-रूप प्रयुक्त प्रतीक एकभाव या विषय की सूचना देते हैं, जबकि सांगरूपकों के अनेक प्रतीक क्रिया या क्रिया-प्रवाह की सूचना देते हैं। लक्षणा द्वारा प्रतीकों की अनुभूति में तीव्रता और साम्य लाने का प्रयास किया जाता है। छायावादी कवियों में प्रसाद जी के प्रतीकों में भावोच्छलता अधिक है। निराला जी के प्रतीक-विधान में कहीं दर्शन की व्यापकता और गहराई है, तो कहीं श्रृंगार और मादकता का मांसल प्रसाद है। पंत जी ने प्रतीकों का प्रयोग विवेकवादियों की दृष्टि से किया है, अतः उनकी प्रतीक-योजना में बड़ी ही भव्य मूर्तिमत्ता है। महादेवी जी के प्रनीक चित्र की तूलिका के चटकीले रंग और छाया-प्रकाश की हलकी-गहरी छायाओं से संवारे हैं। कहीं व्यथा से सजल, कहीं सुहाग से रंगीन, तो कहीं बौद्धिकता से शान्त, सकान्त और सतेज हैं। डा० रामकुमार वर्मा के प्रतीकों में दार्शनिकता है। डा० 'बच्चन' के प्रतीक सीधे, खुले और ऐन्द्रिय होते हैं। 'दिनकर' की प्रतीक-योजना में बौद्धिकता और मनोवैज्ञानिकता है। नरेन्द्र शर्मा के प्रतीक अपेक्षतया अधिक मासल होते हैं। रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के प्रतीकों में शारीरिकता के साथ उर्दू का प्रभाव झलकता है। गोपालसिंह नेपाली के प्रतीक प्रायः स्पष्ट और मर्म छूते हैं। जानकीवल्लभ शास्त्री के प्रतीकों में दार्शनिक विस्तार की छाया रहती है और हंसकुमार तिवारी के प्रतीकों में कला एवं चिन्तन की चेष्टा जागरूक रहती है।

डाक्टर केसरी नारायण शुक्ल ने हिन्दी-कविता पर आंग्ल-प्रभाव की आलोचना करते हुए, लिखा है कि "अंग्रेजी कविता का वर्तमान हिन्दी-कविता पर बड़ा

चाहिये तुझको सदा मेहरुन्निसा,
जो निकाले इत्र-रू ऐसी दिशा,"
—कुकुरमुत्ता।

इसके पश्चात् कुकुरमुत्ता अपनी उपयोगिता और महत्व का व्याख्यान करता है—

देख मुझको मैं बढ़ा,
डेढ़ बालिश्त और ऊँचा हूँ चढ़ा,
और अपने से उगा मैं,
बिना दाने का चुगा मैं,
कलम मेरा नहीं लगता,
मेरा जीवन आप जगता,
तू है नकली, में हूँ मौलिक,
तू है बकरा, में हूँ कौलिक;
तू रंगा और धुला,
पानी मैं, तू बुलबुला
तूने दुनियाँ को बिगाड़ा,
मैंने गिरते से उभाड़ा;
तूने रोटी छीन ली जनखा बना,
एक की है तीन दीं मैने सुना ?
काम मुझसे ही सधा है,
शेर भी मुझसे गधा है।
—कुकुरमुत्ता।

इसी प्रकार नरेन्द्र शर्मा की 'ज्येष्ठ का मध्याह्न' शीर्षक कविता भी प्रतीकात्मक रचना है, जिसमें मध्याह्न पूंजीवादी शोषण का प्रतीक है, जिसके आतंक से सम्पूर्ण संसार व्याकुल हो उठा है। धरा की छाती पर मध्याह्नकाल ऐसा पड़ा है जैसे कोई अहि समस्त पृथ्वी को अपनी कुण्डली में भरे हुए है; जब इस अहि-मुख से विषभरी भयावह फूत्कार निकलती है, तो धरा पर जीवन का कोई चिन्ह शेष रहता हुआ नहीं दृष्टिगत होता—

ज्यों घेर सकल संसार, कुण्डली मार,
पड़ा हो अहि विशाल,
आक्रांत धरा की छाती पर
गुम-सुम बैठा मध्याह्नकाल !
मध्याह्न-काल ज्यों अहि विशाल
केन्द्र में सूर्य–

शोभित दिन-मणि से गर्वोन्नत ज्यों भीम भाल ?
कर गरल-पान सब विश्व शान्त,
तृण-तरु न कहीं भय से हिलते-
जीवनी-शक्ति, जैसे परास्त हो महामृत्यु से, पड़ी क्लान्त ?
अधबुझी चिताओं के मसान के ही समान सर्वत्र शान्ति-
डिगती न तनिक तिल-भर भी जो ज्यों भीषरभूधर-
दुर्निवार ?

पलाशवन : नरेन्द्र ।

यह विशाल भयंकर अहि क्रूरता से सम्पूर्ण चर-अचर का शोषण करने पर तुला हुआ है—

वह गरज-गरज धू-धू करती बहने वाली अहि फूत्कार—
लू हरहर कर हरती चलती है विश्वप्राण ?
विषभरी भयावह फूत्कार-
भीषण बेरहम थपेड़ों से सबको पछाड़,
बेबस धरणी की छाती पर चर-अचर सभी को झुलस-
जला नीचे दबोच औ 'कूट-कुचल कर माँस-हाड़'
लो; सहसा ठहर गई पल में ज्यों महाशून्य में महानाश
का-सा पहाड़ ?

—पलाशवन : नरेन्द्र ।

इतना ही नहीं, यह विशाल अहि अपने क्रूर अधरों पर उपहास रख कर संसार की ओर देखता है कि क्या कहीं जीवन का अवशेष अब भी है—

क्या जीवन का अवशेष कहीं ?—
उपहास क्रूर अधरों पर धर, अपलक आँखों में ज्वाला भर,
अजगर अब देख रहा है भव ?
(देखा सगर्व) सामने पड़ा—उन्मूल, धूल में मिले पुराने बरगद-सा
ज्यों निखिल विश्व के पूर्ण पराभव का वैभव ?

—पलाशवन ।

इतने ही में—
मृतप्राय पेड़ की कोटर से, लो कांव-कांव कर उठा काग ?—
जीवन तरु का चिर-अजयपत्र,
उसको न जलाती प्रलय-ज्वाल,
उसको न डुबाते प्रलय-सिन्धु,
फिर भस्म उसे कैसे करती मध्याह्नकाल के विषधर की, विषभरी आग ?

—पलाशवन ।

चाहिये तुझको सदा मेहरुन्निसा,
जो निकाले इत्र-रू ऐसी दिशा,"

—कुकुरमुत्ता।

इसके पश्चात् कुकुरमुत्ता अपनी उपयोगिता और महत्व का व्याख्यान करता है—

देख मुझको मैं बढ़ा,
डेढ़ बालिश्त और ऊँचा हूँ चढ़ा,
और अपने से उगा मैं,
बिना दाने का चुगा मैं,
कलम मेरा नहीं लगता,
मेरा जीवन आप जगता,
तू है नकली, में हूँ मौलिक,
तू है बकरा, में हूँ कौलिक;
तू रंगा और धुला,
पानी मैं, तू बुलबुला
तूने दुनियाँ को बिगाड़ा,
मैंने गिरते से उभाड़ा;
तूने रोटी छीन ली जनखा बना,
एक की है तीन दीं मैंने सुना ?
काम मुझसे ही सधा है,
शेर भी मुझसे गधा है।

—कुकुरमुत्ता।

इसी प्रकार नरेन्द्र शर्मा की 'ज्येष्ठ का मध्याह्न' शीर्षक कविता भी प्रतीकात्मक रचना है, जिसमें मध्याह्न पूंजीवादी शोषण का प्रतीक है, जिसके आतंक से सम्पूर्ण संसार व्याकुल हो उठा है। धरा की छाती पर मध्याह्नकाल ऐसा पड़ा है जैसे कोई अहि समस्त पृथ्वी को अपनी कुण्डली में भरे हुए है; जब इस अहि-मुख से विषभरी भयावह फूत्कार निकलती है, तो धरा पर जीवन का कोई चिन्ह शेष रहता हुआ नहीं दृष्टिगत होता—

ज्यों घेर सकल संसार, कुण्डली मार,
पड़ा हो अहि विशाल,
आक्रांत धरा की छाती पर
गुम-सुम बैठा मध्याह्नकाल !
मध्याह्न-काल ज्यों अहि विशाल
केन्द्र में सूर्य—

शोभित दिन-मणि से गर्वोन्नत ज्यों भीम भाल ?
कर गरल-पान सब विश्व शान्त,
तृण-तरु न कहीं भय से हिलते-
जीवनी-शक्ति, जैसे परास्त हो महामृत्यु से, पड़ी क्लान्त ?
अधबुझी चिताओं के मसान के ही समान सर्वत्र शान्ति-
डिगती न तनिक तिल-भर भी जो ज्यों भीषरभूधर-
दुर्निवार ?

पलाशवन : नरेन्द्र।

यह विशाल भयंकर अहि क्रूरता से सम्पूर्ण चर-अचर का शोषण करने पर तुला हुआ है—

वह गरज-गरज धू-धू करती बहने वाली अहि फूत्कार—
लू हरहर कर हरती चलती है विश्वप्राण ?
विषभरी भयावह फूत्कार-
भीषण बेरहम थपेड़ों से सबको पछाड़,
बेबस धरणी की छाती पर चर-अचर सभी को झुलस-
जला नीचे दबोच औ 'कूट-कुचल कर माँस-हाड़'
लो; सहसा ठहर गई पल में ज्यों महाशून्य में महानाश
का–सा पहाड़ ?

—पलाशवन : नरेन्द्र।

इतना ही नहीं, यह विशाल अहि अपने क्रूर अधरों पर उपहास रख कर संसार की ओर देखता है कि क्या कहीं जीवन का अवशेष अब भी है—

क्या जीवन का अवशेष कहीं ?—
उपहास क्रूर अधरों पर धर, अपलक आँखों में ज्वाला भर,
अजगर अब देख रहा है भव ?
(देखा सगर्व) सामने पड़ा–उन्मूल, धूल में मिले पुराने बरगद–सा
ज्यों निखिल विश्व के पूर्ण पराभव का वैभव ?

—पलाशवन।

इतने ही में—
मृतप्राय पेड़ की कोटर से, लो कांव-कांव कर उठा काग ?—
जीवन तरु का चिर-अजयपत्र,
उसको न जलाती प्रलय-ज्वाल,
उसको न डुवाते प्रलय-सिन्धु,
फिर भस्म उसे कैसे करती मध्याह्नकाल के विषधर की, विषभरी आग ?

—पलाशवन।

आखिरकार मध्याह्नकाल का दर्प चूर्ण होता है और उसका पराभव होता है—

धीरे-धीरे अब बीत चला मध्याह्नकाल ?
ढल गई दुपहरी की बेला,
झुक गया सूर्य झुक गया भाल ?
चल दिया किसी अज्ञात विवर को अहि कराल ?
हो चुका पराक्रम पूर्ण,
हुआ अब दर्प चूर्ण,
अब बीत चला मध्याह्नकाल ॥

—पलाशवन ।

पराभव के पश्चात्—

गूंजेगी दूर कहीं कुन्जों में मरण-वेणु,
छायेगी गोपथ पर करुणा की कनक-रेणु,
आयेगी जीवन की संध्या जब बनी धेनु,
रहस-रहस रंभा मुक्ति-गीत गाती हुई ।

—पलाशवन ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नरेंद्र शर्मा की 'ज्येष्ठ का मध्याह्न' शीर्षक कविता एक प्रतीकात्मक रचना है, जिसमें मध्याह्न पूंजीवादी शोषण का प्रतीक है । जिसके क्रूर अत्याचारों से सारा विश्व विक्षुब्ध हो उठा है, किन्तु समय आने पर उसका भी अन्त हो जाता है और लोगों को अत्याचारों से मुक्ति मिलती है ।

निम्नलिखित पंक्तियों में प्रकृति का प्रतीक-रूप में चित्रण किया गया है । यहाँ चित्रण तो प्रकृति का ही है, किन्तु वर्णन ऐसे ढंग से किया गया है कि कविता का अभिधार्थ व्यंग्यार्थ में परिवर्तित हो जाता है—

पतझर की सूखी शाखों में लग गई आग, शोले दहके !
चिनगी-सी कलियाँ खिलीं और हर फुनगी पर लाल फूल लहके !
सूखी थीं नसें, बहा उनमें फिर बूंद-बूंद का नया खून,
भर नया उजाला डालों में खिल उठे नये जीवन-प्रसून !
अब हुई सुबह चमकी कलंगी, दमके मखमली लाल शोले !
फूले टेसू-बस इतना ही समझे पर देहाती भोले ?
लो डाल-डाल से उठी लपट ! लो डाल-डाल फूले पलाश ;
यह बसंत की आग, लगा दी आग जिसे छूले पलाश !
लग गई आग; बन में पलाश, नभ में पलश भू पर पलाश !
लो चली फाग; हो गई हवा भी रंगभरा-छूकर पलाश !

आते यों, आयेंगे फिर भी वन में मधु-ऋतु पतझार कई,
मरकत प्रवाल की छाया में होगी सब दिन गुंजार नई।

—पलाशवन।

इस कविता में सूखी नसों में नये खून का बहना, लाल शोले, नई गुंजार आदि पद कविता को मानव-जीवन पर घटित करते हैं। लाल रंग के पलाश की इतनी अधिकता लाल रूस की याद दिलाती है। प्रतीक का कार्य यही है। मानव के प्रेम, वासना, श्रृंगार, दुःख-वेदना, असन्तोष, विद्रोह, क्रान्ति, देशभक्ति आदि के प्रतीकों के रूप में प्रकृति के चित्रण किये गये हैं। 'अंचल' की वासना जब उद्दीप्त होती है, तब वह इतनी विराट हो जाती है कि विशाल प्रकृति के अंग-अंग में व्याप्त-सी हो जाती है। उस समय प्रकृति का प्रत्येक अवयव एवं उसकी प्रत्येक गति उसी वासना की प्रतीक हो जाती है :—

पूरब दिशा से घिरी बदरिया फिर बरसेगी पीर घनेरी,
अलख, अकूल, अतल से निकलेगी तूफानी तृष्णा मेरी।

* * *

घोर काली रात थी घहरा उठा था तम गगन में,
डोलते थे हहर पीपल पर्ण तृष्णाकुल पवन में,
जल दिगन्तों में रही थी शून्य सन-सन-सी उदासी,
अब बिछुड़ते हैं विकल हो तृषित हृदयों के निवासी।

—रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' : अपराजिता।

भगवतीचरण वर्मा की चरर-चरर चूं चरर-मरर करती हुई 'भैंसागाड़ी' शीर्षक कविता भारत के शोषित, जर्जर तथा निर्धन ग्रामों का प्रतीक है। इसी प्रकार प्रभाकर माचवे की 'कछुआ' नामक कविता में कछुआ भारतीय संस्कृति का प्रतीक है, जो नये ज्ञान की सूक्ष्म लहर के स्पर्श तक से बचा रहना चाहता है।

केदारनाथ अग्रवाल ने शोषकों के प्रति अपना आक्रोश स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न ढंग से व्यक्त किया है। प्रतीक-पद्धति द्वारा शोषितों की विवशता प्रदर्शित करता हुआ कवि कहता है—

रात अंधेरी
दिया न बाती
तकवैया कुरिया में बैठा
ताक रहा है अपनी खेती।
प्यारे-प्यारे प्यारे पौधे
जिनको उसने खुद उपजाया

नाती पोते और पनाती-सा दुलराया
उन सबको—उन सब पौधों को
भारी तम ने ढांप लिया है।
हिंसक पशु धावा करते हैं
लाचारी है।... ....
तकवैया हैरान बहुत है।
एक सुअर है
सौ सुअरों का उसका दल है
सब मिल कर हत्या करते हैं
नाती पोतों की-पौधों की
रात अंधेरी
दिया न बाती
डर धरती पर रेंग रहा है
तकवैया बेहद चिन्तित है।

—युग की गंगा : केदारनाथ अग्रवाल।

प्रगतिवादी भू-प्रेमी होता है। उसे आकाश और वहाँ की चीजें उसके लिये व्यर्थ हैं, क्योंकि वे उसके काम नहीं आयेंगी। निम्नलिखित 'बीज', 'बादल' और 'बिहग' शीर्षक प्रतीकात्मक रचनाओं में इसी [illegible] की व्यंजना है—

(१) प्यार से सीचूं तुझे ओ बीज मेरे
एक दिन तूही बनेगा फूल !
इसलिये आयास
क्योंकि होगा व्यक्त तू ही हास मधुर विकास में,
हास फुल्लोल्लास पायेगा तभी, तू समय आने दे
आज मिट्टी में मुझे तुझको बिछाने दे
जल बहाने दे।

(२) तड़ित कम्पन तेज में बीते न अन्तर्शक्ति,
शून्य में ही न चुक जाये सिन्धु की आसक्ति,
दम्भ है यह उच्च तारे, रिक्त है यह धूम,
उतर भूपर, प्रणय की हरियालियों को चूम।

(३) उन्मुक्त द्वार, पंख में शक्ति भरपूर।
फिर भी ओ मेरे विहंग, तू उड़ न दूर।
उन्मुक्त द्वार, मेरे विहंग, पर उड़ न हाय !
मत कर सुवर्ण को अर्थहीन, यों निःसहाय !

बादल, बिजली, तारे, चन्दा, सूरज अनेक
हैं नभ के, पर मेरा है तू ही मात्र एक !
—मुक्तिमार्ग : भारतभूषण अग्रवाल ।

मार्क्सवादी लेखक नारी में एक ऐसा शोषित वर्ग देखता है, जिसका नर द्वारा बहुत शोषण किया गया है । नारी नर की सम्पत्ति है, उसके विलास का साधन समझी जाती है । उसका स्वयं का कोई व्यक्तित्व नहीं है, वह नर की छायामात्र है । ऐसे नारी-सम्बन्धी अनेक विचार प्रगतिवादियों द्वारा व्यक्त किये गये हैं । पंत जी कहते हैं—

सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित,
पूतयोनि वह, मूल्य चर्म पर उसका केवल अंकित,
अंग-अंग उसका नर के वासना-चिन्ह से मुद्रित,
वह नर की छाया, इंगित संचालित, चिर पद लुण्ठित !

* * *

योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित ?
—ग्राम्या : सुमित्रानन्दन पंत ।

किन्तु कवि को विश्वास है कि नारी नर-पाशों से मुक्त होकर किये गये अत्याचारों का एक दिन प्रतिकार लेगी । निम्नलिखित उद्धरण में कवि ज्वालामुखी को नारी की क्रान्ति के प्रतीक-रूप प्रयुक्त करता हुआ कहता है—

क्रांति का तूफान जब विश्व को हिलायेगा ··
ये बाजार की असंस्कृता निर्लज्ज नारियाँ
जो कि न 'योनिमात्र रहकर' बनेंगी प्रदीप्त
उगलेंगी ज्वालामुखी ।
—किरणबेला : अंचल ।

मार्क्सवाद ईश्वर पर विश्वास नहीं करता । मार्क्सवादी सिद्धान्तानुसार ईश्वर शोषक-वर्ग द्वारा निर्मित एक अस्त्र है, जिसे शोपितों को सदैव दासता की जंजीरों में जकड़ रखने के लिए प्रयुक्त किया जाता है । उदाहरणार्थ 'ग्राम-देवता' कविता में पंत जी का ईश्वर के प्रति दृष्टिकोण व्यंग्यात्मक है । उनका 'ग्राम-देवता' शोषण का प्रतीक है । वह जन-स्वातन्त्र्य के युद्ध को देख कर अपना हृदय थाम कर रह जाता है । ऐसे ग्राम-देवता से रूढ़-रीति की अफीम खाकर चिर विश्राम लेने की सलाह देते हैं :—

हे ग्रामदेव, लो हृदय थाम
अब जन स्वातन्त्र्य-युद्ध की जग में धूमधाम

* * *

तुम रूढ़ रीति की खा अफीम लो चिर विराम ।

—ग्राम्या ।

इसी प्रकार अंचल के लिये भी ईश्वर प्रवंचक है—

ऊपर बहुत दूर रहता है शायद आत्मप्रवंचक एक,
जिसके प्राणों में विस्मृत है उर में सुख श्री का अतिरेक !

—मधूलिका ।

प्रगतिवाद केवल समाज के शोषण के प्रति जागरुक होकर ही मौन नहीं रहता, वह उसके निराकरण के उपाय क्रांति का आह्वान भी करता है । सामाजिक क्राँति के सुन्दर दर्शन हमें नवीन, दिनकर, रामविलास, शिवमंगलसिंह 'सुमन' आदि कवियों की कविताओं में मिलते हैं । दिनकर ने क्रांति के विविध रूपों का चित्रण किया है । उनकी 'त्रिपथगा' कविता में क्रान्ति एक नर्तकी के रूप में चित्रित हुई है । क्रांति की प्रतीक इस नर्तकी का परिचय उसके ही शब्दों में देखिये—

मेरे मस्तक पर छत्र मुकुट बसु-काल-सर्पिणी के शत-फन,
मुझ चिर कुमारिका के ललाट में नित्य नवीन रुधिर चन्दन ।
आंजा करती हूँ चिता-धूम का दृग में अन्ध-तिमिर-अंजन,
संहार-लिपट कर चीर पहन नाचा करती मैं छूम छनन ।।
पायल की पहली झमक, सृष्टि में कोलाहल छा जाता है,
पड़ते जिस ओर चरण मेरे भूगोल उधर दब जाता है।

—हुंकार ।

नरेन्द्र शर्मा को विश्वास है कि भावी संतति क्लेश के प्रतीक तम को इस संसार से क्रांति द्वारा विनष्ट कर सकेगी—

धनुषाकार अर्द्ध रवि बनकर
बना क्षितिज प्रत्यंचा हम
अरुण अग्नि शावक वाणों से
क्षण में हर लेंगे भव का तम !

—प्रभातफेरी ।

वे क्रांति के प्रतीक शिव को इस धरा पर अन्याय समाप्त करने के लिए आह्वान करते हैं—

नाचो शिव इस निर्दय जग पर
अन्यायी के आडम्बर पर !

—प्रभातफेरी ।

डाक्टर रामविलास शर्मा क्रान्ति के लिए फसल का प्रतीक प्रयुक्त करते हैं, जिसे धरती के पुत्र किसान परिश्रम करके अन्त में काटेंगे—

कुसंस्कृति भूमि यह किसान की
धरती के पुत्र की
जोतनी है गहरी दो-चार बार दस बार
बोना महातिक्त वहाँ बीज असंतोष का
काटनी है नये साल फागुन में फसल जो क्रांति की।

—प्रथम तारसप्तक।

आधुनिक हिन्दी-कविता में प्रगतिवाद के अतिरिक्त दूसरी महत्वपूर्ण प्रवृत्ति मनोविश्लेषणवादी कविता की है। मनोविश्लेषण-विज्ञान ने हिन्दी-कविता को अनेक प्रकार से प्रभावित किया है। हिन्दी-कवियों में 'सेक्स' को समस्त मानवीय प्रवृत्तियों का केन्द्र मानने में अंचल सबसे आगे हैं। वह लिखते है कि "आधुनिक साहित्य में ऊँचाइयाँ और गहराइयाँ हैं जो पहले सम्भाव्य न थीं। यदि एक ओर वैज्ञानिक आविष्कारों ने मनुष्य को प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करने में सहायता दी है, तो दूसरी ओर मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-विज्ञान ने यह दिखा दिया है कि मनुष्य का अपने ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं। वह अपने चेतन मन के नीचे दबी पड़ी रहने वाली अवचेतन एवं अर्द्धचेतन प्रेरणाओं के सामने सर्वथा असहाय है। उसके मस्तिष्क पर इन अज्ञात प्रेरणाओं का निरन्तर आक्रमण होता रहता है।"[1] अंचल सामाजिक वर्जनाओं से परिपीड़ित हैं। उनकी वासना को अपनी अभिव्यक्ति के लिये पूर्ण अवसर नहीं मिल सका और वह अब उनकी कविता में एक ज्वालामुखी की भांति फूट पड़ी है—

वासना, बस कुछ न पूछो, है विरस निष्फल जवानी।"

—मधूलिका।

वह अपनी वासना-तृप्ति के मार्ग में धर्म और ईश्वर तक का अवरोध नहीं मानते। वह प्रेमी के लिए विलासी मधुप का प्रतीक प्रयुक्त करते हुये कहते हैं—

इन अमरों को आज दिखा दें, कैसे प्रेमी-जन होते,
कैसे प्यासे प्यास बुझाते, कैसे मधुप मगन होते !

—मधूलिका।

---

१. 'किरणबेला' की भूमिका, पृ० क।

बच्चन की 'नागिन' कविता में नारी के लिये नागिन का प्रतीक व्यवहृत हुआ है। सुन्दर नागिन आधुनिक युग की नारी है, जो पुरुष को मंत्र-मुग्ध कर उसे डस लेती है—

सब साम-दाम औ' दण्ड-भेद
तेरे आगे बेकार हुआ.........
अब शांति, अशांति मरण-जीवन
या इससे भी कुछ भिन्न अगर
सब तेरे विषमय चुम्बन में
सब तेरे मधुमय दंशन में
नर्तन कर, नर्तन कर नागिन
मेरे जीवन के आंगन में !

—सतरंगिनी।

इसी प्रकार आरसीप्रसाद सिंह भी कहते हैं—

आओ मेरे आगे बैठो
जैसे बैठी होती काली
काली नागिन दो जिह्वा वाली......
उगलो जहर ओठ पर
रख दो, रख दो कहता हूँ मैं
जीभ खून की प्यासी अपनी !
आओ बैठो मेरे आगे
जैसे बैठी होती बाघिन......
लगता हो
अब झपटे, मानो अब निगले

—नई दिशा।

मनोविश्लेषण-विज्ञान का प्रभाव उक्त कवियों के अतिरिक्त वास्तविक प्रभाव 'अज्ञेय' पर पड़ा है। मनोविश्लेषण-विज्ञान के परिणामस्वरूप हिन्दी की नई कविता में यौन-सम्बन्धी प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग प्राप्त होता है। इन प्रतीकों के प्रयोग का कारण यह है कि आज की वर्जनायें इतनी कठोर हैं कि चेतन क्षणों में मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन असम्भव-सा हो जाता है और उनकी वह पूर्ति या तो स्वप्न-जगत में या कलाजगत में करता है। 'अज्ञेय' लिखते है कि "आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति 'सेक्स' सम्बन्धी वर्जनाओं से आक्रांत है, उसका मस्तिष्क दमन की गयी 'सेक्स' की भावनाओं के भार से दबा रहता है। उसकी सौन्दर्य-भावना भी 'सेक्स' से उत्पीड़ित है और उसकी उपमायें और रूपक यौन-सम्बन्धी प्रतीक हैं। कभी जब प्रतीकों द्वारा व्यक्ति सत्य को पहिचानता है तो परिस्थिति से ऐसा भागता

है जैसे कोई विद्युत-प्रहार से चौक उठा हो।"[1] 'अज्ञेय' ने डी० एच० लारेंस की एक कविता का सारांश भी दिया है जिसमें पुरुष नारी से बात करते समय विद्युत-प्रकाश होने पर चौंक पड़ता है, क्योंकि उससे प्रत्येक वस्तु स्पष्ट हो गयी है। आज यदि व्यक्ति की अनुभूतियां तीव्र है तो उसकी वर्जनाएं कठोरतर हैं। आधुनिक काव्य मनुष्य की इच्छाओं और उसकी वर्जनाओं को व्यक्त करता है। इसीलिए अज्ञेय की 'सावन-मेघ' शीर्षक कविता यौन-सम्बन्धी प्रतीकों से परिपूर्ण है—

घिर गया नभ, उमड़ आये मेघ काले,
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका-सा
विशद, श्वासाहत, चिरातुर
छा गया इन्द्र का नील वक्ष—
वज्र-सा, यदि तड़ित से झुलसा हुआ-सा
आह, मेरा श्वास है उत्तप्त—
धमनियों में उमड़ आई है लहू की धार—
प्यार है अभिशप्त—
तुम कहां हो नारि ?
मेघ-आकुल गान को मैं देखता था
वन विरह के लक्षणों की मूर्ति—

सूक्ति की फिर नायिकाएं
शास्त्र-संगत प्रेम-क्रीड़ाएं
घुमड़ती थीं बादलों में
आर्द्र, कच्ची वासना के धूम-सी।
—प्रथम तारसप्तक।

यौन-सम्बन्धी ये प्रतीक अधिकतर 'अज्ञेय', गिरिजाकुमार माथुर और यत्र-तत्र शमशेर की कविताओं में प्राप्त होते है।

'अज्ञेय' ने 'विश्वप्रिया' नामक कविता में बहुत से प्रतीकों का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ फूल, तारा, धूलिकण, दीप, विद्युत आदि हैं। इनके प्रयोग से रचना में एक प्रकार की सांकेतिकता तो आती ही है कि कवि उन प्रतीकों का अर्थ खोल देता है और इस प्रकार संकेत से उत्पन्न भाव नष्ट हो जाता है। इससे कवि का भाषा पर अधिकार की कमी लक्षित होती है। 'अज्ञेय' के 'बावरा अहेरी' काव्य ग्रन्थ का नामकरण संग्रह की एक प्रमुख रचना के आधार पर हुआ है। इसमें अहेरी शब्द आलोक का प्रतीक है जो वाह्य जगत में प्रकृति के अंधकार और अन्तर्जगत में मन के तमस को मिटाता है। इस रचना की प्रारम्भिक पंक्तियों पर फारसी के प्रसिद्ध

---

1 प्रथम तारसप्तक, पृ० ७६।

कवि उमरखैयाम की एक रूबाई का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। वहाँ भी प्रभात के आलोक को पूर्व का अहेरी कल्पित किया गया है।[1] अज्ञेय के अहेरी को देखिये—

बावरे अहेरी रे
कुछ भी अबध्य नहीं तुझे, सब आखेट है,
एक बस मेरे मन-विवर में दुबकी कलौंस को
दुबकी ही छोड़कर क्या तू चला जायगा ?
—बावरा अहेरी।

'अज्ञेय' की 'नदी के द्वीप' शीर्षक कविता एक सुन्दर, सुप्रसिद्ध प्रतीकात्मक रचना है। प्रयोगवादी कविता में इसी के अनुकरण पर इसी प्रकार के प्रतीक बहुत प्रचलित हुए। इसमें अस्तित्व-संकट के भाव की बड़ी सुन्दर व्यंजना हुई है—

हम नदी के द्वीप हैं।
हम नहीं कहते कि हमको छोड़कर स्रोतस्विनी बह जाय।
वह हमें आकार देती है।
हमारे कोण, गलियां, अन्तरीप, उभार, सैकतकूल,
सब गोलाइयाँ उसकी गढ़ी हैं।
माँ है वह। हैं, इसी से हम बने।[2]

द्वीप को अपने अस्तित्व का ज्ञान है कि वह द्वीप है, धारा नहीं। वह स्रोतस्विनी के साथ बहना नहीं चाहता, क्योंकि बहने में उसका विनाश है—

किन्तु हम हैं द्वीप।
हम धारा नहीं हैं।
स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा से ही हैं स्रोतस्विनी के।
किन्तु हम बहते नहीं। क्योंकि बहना रेत है।
हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।
पैर उखड़ेंगे। प्लवन होगा। ढहेंगे। सहेंगे। बह जायेंगे।
और फिर हम चूर्ण होकर भी कभी क्या धार बन सकते ?
रेत बन कर हम सलिल को तनिक गंदला ही करेंगे।
अनुपयोगी ही बनायेंगे।
—कविभारती।

---

1 Awake, for morning in the Bowl of Night.
Has flung the stone that puts the stars to Flight.
And Lo. The hunter of the east has caught.
the Sulton's Turret in a noose of Light.
—Rubaiat omar khayyam-Translated by edward Fitzgerald.

२ 'कवि भारती' पृ० ६८४।

द्वीप होना कोई अभिशाप नहीं है । यह तो नियति है । नदी के पुत्र होने के कारण वह वृहद् भूखण्ड से सम्बन्ध स्थापित करता है—

द्वीप हैं हम ।
यह नहीं है शाप । यह अपनी नियति है ।
हम नदी के पुत्र हैं । बैठे नदी के क्रोड़ में ।
वह वृहद् भूखण्ड से हमको मिलाती है ।
और वह भूखण्ड
अपना पितर है ।

—कवि भारती ।

द्वीप अपनी जन्मदात्री स्रोतस्विनी से कहता है—

नदी, तुम बहती चलो
भूखण्ड से जो दाय हमको मिला है, मिलता रहा है,
मांजती, संस्कार देती चलो;
यदि ऐसा कभी हो
तुम्हारे आह्लाद से या दूसरों के किसी स्वैराचार से—
अतिचार से—

तुम बढ़ो, प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे—
यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा, कीर्तिनाशा घोर
काल-प्रवाहिनी बन जाय ।

तो हमें स्वीकार है वह भी । उसी में रेत होकर
फिर छनेंगे हम । जमेंगे हम । कहीं फिर पैर टेकेंगे ।
कहीं फिर भी खड़ा होगा नए व्यक्तित्व का आकार ।
मातः, उसे फिर तुम संस्कार देना ।

——कविभारती ।

इसी प्रकार की एक सुन्दर कविता भवानी प्रसाद मिश्र की 'कमल के फूल' है । कमल कविता का प्रतीक है । इस कविता में कमल और मानसर के अतिरिक्त बीच, तीर, आंचल और मूल शब्द भी विशिष्ट अर्थ के द्योतक हैं । कविता मानस से उमड़ती है——सहज भाव से । श्रेष्ठ कवि किनारे पर नहीं, गहराई में जाकर ही उसे पा सकता है । पर पाने पर वह उसका करे क्या ? उसकी सार्थकता तो इसी में है कि पाठकों का आंचल भर जाय——

फूल लाया हूं कमल के ।
क्या करूं इनका ?
पसारें आप आंचल

छोड़ दूं,
हो जाय जी हल्का !
किन्तु होगा क्या कमल के फूल का ?
ये कमल के फूल
लेकिन मानसर के हैं,
इन्हें हूं बीच से लाया
न समझो तीर पर के हैं।

—गीत फरोश।

'नदी के द्वीप' की शैली में डा० धर्मवीरभारती अभिव्यक्ति की स्वाभाविक प्रेषणीयता में सामंजस्य रखते हुए कहते हैं—

मैं रथ का टूटा हुआ पहिया हूं।
लेकिन मुझे फेंको मत
क्या जाने कब
इस दुरूह चक्र-व्यूह में
अक्षौहिणी सेनाओं को चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाय_
बड़े-बड़े महारथी
अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी
अकेली निहत्थी आवाज को
अपने, ब्रह्मास्त्रों से कुचल देना चाहें !
तब मैं रथ का टूटा हुआ पहिया
उसके हाथों में रक्षा की ढाल बन सकता हूं।

मैं रथ का टूटा हुआ पहिया हूं
लेकिन मुझे फेंको मत
इतिहासों की सामूहिक गति सहसा झूठी पड़ जाने पर
क्या जाने सच्चाई टूटे हुए पहिये में
आश्रय ले।

—ठंढा लोहा।

इस कविता में सांस्कृतिक परम्परा के एक अछूते प्रतीक के माध्यम से जो कुछ कहा है वह जन-चेतना का द्योतक है। इस प्रकार धर्मवीर भारती के प्रतीक सुलझे हुये होते हैं।

प्रगतिवादी सुप्रसिद्ध समालोचक शिवदानसिंह चौहान ने प्रयोगवादी काव्य की आलोचना करते हुये लिखा है कि 'प्रयोगशीलता की ओट में 'अज्ञेय' 'प्रतीक-

वादी' है ।--यद्यपि वादों से ऊपर सिद्ध करने के लिए वह अपने को 'प्रयोगशील', किसी मंजिल तक पहुँचे हुये, या किसी राह के राही नहीं बल्कि 'राहों के अन्वेषी' ही घोषित करते हैं, जिसने प्रतीकवाद प्रयोगशीलता के छद्मवेश में तरुण प्रतिभाओं को आकर्षक और ग्राह्य लगे । इसलिए अज्ञेय के हाथ में पड़कर 'प्रयोग' सत्य को अभिव्यक्ति देने या 'जानने' (?) का साधन नहीं रहा, बल्कि उसे खैरबाद कहने का साधन बनता गया है और उनकी देखादेखी या उनसे प्रभावित होकर प्रतीकवाद की शैली को अपनाने वाले अन्य तरुण तथा प्रगतिशील कवियों के लिए भी वह पाठकों तक पहुंचने के मार्ग में एक बाधा बन गया है ।"[1] शिवदान सिंह जी ने अज्ञेय को प्रतीकवादी कहा है; किन्तु वास्तव में वह प्रतीकवादी नहीं हैं, क्योंकि फ्रेंच कवियों जैसी रहस्य-प्रवृत्ति, धार्मिकता, संगीतात्मकता, अलौकिक सौन्दर्य-सृष्टि का मोह आदि बातें 'अज्ञेय' में नहीं प्राप्त होतीं । 'अज्ञेय' की 'सावन-मेघ' जैसी रचनाओं के यौन-प्रतीकों का जहां तक सम्बन्ध है, उनमें वह स्पष्टतया फ्रायडवादी हैं । इस प्रकार की यौन-प्रतीक-प्रधान रचनाओं में अज्ञेय को विषय-वस्तु की दृष्टि से किसी सीमा तक इलियट के निकट कहा जा सकता है, बोदलेयर या मलार्मे के नहीं । फ्रेंच कवियों का प्रत्यक्ष प्रभाव 'अज्ञेय' या अज्ञेयवादियों पर नहीं पड़ा । जो कुछ भी इन कवियों का प्रभाव आया वह इलियट के द्वारा आया; लेकिन इलियट प्रतीकवादी नहीं है, उसने प्रतीकवादियों से प्रेरणा अवश्य थोड़ी-बहुत प्राप्त की है । प्रतीकवादी कवियों और हिन्दी के प्रयोगवादी कवियों में यदि किसी प्रकार का साम्य है, तो वह यह है कि दोनों ने नए-नए प्रतीकों का विधान किया । प्रयोगवादी कवियों के विषय में शिवदान सिंह जी की दूसरी बात अवश्य सर्वथा सत्य है कि प्रयोगशीलता के छद्-मवेश ने बहुत से तरुणों को आकर्षित किया है और परिणाम स्वरूप सौन्दर्यहीन तथा कथित कविता का बहुत बड़ा ढेर एकत्र हो रहा है । हो सकता है कि भविष्य में इस कूड़ा-करकट के समूह से कोई महान् कवि उत्पन्न हो और किसी नवीन मार्ग का प्रदर्शन करे, किन्तु अभी तो इनमें से किसी से भी कोई आशा नहीं दिखायी पड़ती है ।

---

१ आलोचना अंक २ . सम्पादकीय ।

७

आधुनिक हिन्दी-कविता में प्राचीन अलंकारों का स्वरूप

कविवर सुमित्रानन्दन पंत ने कहा है कि "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिये, राग की परिपूर्णता के लिये आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति, नीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। जैसे वाणी की झंकारें विशेष घटना से फेनाकार हो गई हों, विशेष झोंके खाकर बाल-लहरियों, तरुण, तरंगों में फूट गई हों, कल्पना के विशेष बहाव में पड़ आवर्तों में नृत्य करने लगी हों। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं।[१]" सारांश यह है कि काव्य में अलंकार अनिवार्य नहीं है। वे काव्य की आत्मा नहीं शरीर के धर्म हैं। काव्य में अलंकारों के महत्व का विषय प्रारम्भ से ही विवादग्रस्त रहा है; किन्तु कभी भी कविता के क्षेत्र से अलंकारों का निष्कासन नहीं हो सका। जब किसी युग में अलंकारों को अनावश्यक महत्व प्रदान किया गया है, तब उसकी प्रतिक्रिया अवश्य हुई है। उदाहरणार्थ रीतिकालीन कविता में जब 'भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे से फिट करने के लिये बुनी गई, तब वहां 'भावों की उदारता शब्दों की कृपण-जड़ता में बंद कर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो गई। आधुनिक हिन्दी-कविता ने अलंकार-विषयक इस प्रवृत्तिका विरोध किया और परिणाम-स्वरूप काव्य में अलंकारों का महत्व कम हो गया, किन्तु सर्वथा बहिष्कार न किया जा सका। "जिस प्रकार संगीत के साथ स्वर तथा

---

१. 'पल्लव' की भूमिका, पृष्ठ १९।

उनकी श्रुति-मूर्छनायें केवल राग की अभिव्यक्ति के लिये होती हैं और विशेष स्वरों के योग, उनके विशेप प्रकार के आरोह- अवरोह से विशेष राग का स्वरूप प्रकट होता है, उसी प्रकार कविता में भी अलंकारों, लक्षणा-व्यंजना आदि विशेष शब्द शक्तियों तथा विशेष छंदों के सम्मिश्रण और सामजस्य से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है। वहां उपमा उपमा के लिये, अनुप्रास अनुप्रास के लिये, श्लेष, अपन्हुति, गूढ़ोक्ति आदि अपने-अपने लिये हो जाते–जैसे पक्षी का प्रत्येक पंख यह इच्छा करे कि मैं पक्षी की तरह स्वतन्त्ररूप से उड़ूं, वे अभीप्सित स्थान में पहुंचने के मार्ग न रह कर स्वयं विषय बन जाते हैं; वहां बाजे के सब स्वरों के एक साथ चिल्ला उठने से राग का स्वरूप अपने ही तत्वों के प्रलय में लुप्त हो जाता है; काव्य के साम्राज्य में अराजकता पैदा हो जाती है, कविता-सामग्री हृदय के सिंहासन से उतार दी जाती है और उपमा, अनुप्रास, यमक, रूपक आदि उसके आमात्य, सचिव, शरीर-रक्षक तथा राज कर्मचारी शब्दों की छोटी-मोटी सेनाएं संग्रहीत कर स्वयं शासक बनने की चेष्टा में विद्रोह खड़ा कर देते और सारा साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।"[1] इस प्रकार की आधुनिक विचारधारा ने अलंकारों का अनपेक्षित महत्व समाप्त कर उन्हें उचित स्थान प्रदान किया।

यद्यपि हिन्दी के आधुनिक कवि के पाश्चात्य साहित्य और साहित्य शास्त्र से प्रभावित होने के कारण उस पर पाश्चत्य अलंकार-योजना का पर्याप्त प्रभाव है, तथापि भारतीय अलंकार-शास्त्र के वे कम ऋणी नहीं हैं। आधुनिक हिन्दी-कविता में रीतिकालीन ढंग के अलंकार-प्रयोगों को ढूंढ़ना निरर्थक है। आधुनिक कवियों ने अलंकारों का चमत्कार-प्रदर्शन नहीं किया है, अपितु अलंकारों के बहुत स्वाभाविक प्रयोग किये हैं। इन्हीं प्रयोगों में देखना है कि आलोच्यकाल कवियों ने भारतीय अलंकारशास्त्र की परिभाषाओं का कहां तक निर्वाह किया है। अलंकारों के अनुशीलन में पहले हम शब्दालंकारों को लेंगे और तत्पश्चात् अर्थालंकारों को।

कविता में अलंकारों का प्रयोग अनजाने भी होता है और जानबूझ कर भी। अर्थालंकारों के प्रयोग के विषय में निश्चितरूप से यह नहीं बतलाया जा सकता कि कवि की दृष्टि पहले भाव पर रहती है या अलंकार पर; लेकिन शब्दालंकारों के प्रयोग के समय निश्चित ही कवि थोड़ा सजग अवश्य रहता है, ऐसा प्रतीत होता है। फिर भी अभ्यास द्वारा प्रयोग को सुन्दर और स्वाभाविक बनाया जा सकता है। अर्थालंकारों की भांति शब्दालंकार अनुभूति के धर्म नहीं हो सकते।" शब्द-विशेषों के प्रयोग पर ही उनकी उपस्थिति निर्भर रहती है। इस आपत्ति में कुछ बल अवश्य है, पर उतना नहीं जितना दिखाई पड़ता है। भारतीय साहित्यशास्त्र के शब्दालंकार दो प्रकार के हैं, एक जो मुख्यत: संगीत का विधान करते हैं, जैसे अनुप्रास।

---

(१) सुमित्रानन्दन पंत : 'पल्लव' की भूमिका पृ० २०।

अनुप्रासों का समावेश वहीं अच्छा लगता है जहां वह संगीत को पुष्ट करता है, अन्यत्र वह सदहृयों को खलता है। श्रेष्ठ कवि प्रायः अज्ञातभाव से अनुप्रासों का सन्निवेश करते हैं। उस दशा में अनुप्रास मूल अनुभूति की निरर्थकता के कारण ही अच्छे लगते हैं, वह भी निम्नकोटि के पाठकों को।[1]" शब्दालंकारों में अनुप्रास आधार भूत है। प्रत्येक युग की कविता में यह प्राप्त होता है। अनुप्रास-योजना की सार्थकता इसी में है कि वह भावानुरूप हो। भावानुरूपशब्द-सृष्टि को वृतियों में परिगणित किया जाता है, जिनमें भाव नाद में प्रतिध्वनि हो उठता है। उदाहरणार्थ—

कंकण क्वणित रणित नूपुर थे,
हिलते थे छाती पर हार।

\+ \+ \+

अपना कल कंठ मिलाते थे,
झरनों के कलकल कोमल में॥

—कामायनी : प्रसाद।

इस प्रकार के स्वाभाविक अनुप्रास-प्रयोग भाषा में एक सहज आकर्षण उत्पन्न करते हैं।

अनुप्रास योजना का मनोविज्ञान यही है कि वर्णों का अनुरणन एक श्रुति-सौन्दर्य की सृष्टि करता है। छंद में अन्त्यानुप्रास की योजना भी इसी उद्देश्य-सिद्धि के लिये हुई थी। इस प्रवृत्ति की यह व्यापकता अनुप्रास के महत्व पर प्रकाश डालती है। अनुप्रास-महत्व को आधुनिक कवियों ने भी नहीं भुलाया, किन्तु नियमबद्ध अनुप्रास का स्थान स्वरमैत्री और वर्णमैत्री ने ले लिया। 'निराला' जी के अन्त्यानुप्रास हीन मुक्त छंद में यह अलंकरण मिलता है। केवल 'जुही की कली' में पच्चीस स्थलों में इसका निर्वाह मिलता है—

१. विजन-वन-वल्लरी	'व' की आवृत्ति
२. सोती श्री सुहाग-भरी— स्नेह-स्वप्न-मग्न	'स' की आवृति
३. अमल-कोमल	'मल' की आवृत्ति
४. तनु तरुणी	'त' की आवृति
५. विरह-विधुर	'व' की आवृत्ति
६. आई याद—आई याद—आई —याद	आद्यानुप्रास
७. बात-रात-गात	अन्त्यानुप्रास

(१) डा० देवराज : साहित्य-चिन्ता पृ० ५१

८. पवन उपवन	'वन' की आवृत्ति
९. सर-सरित	'स' की आवृत्ति
१०. गहन-गिरि	'ग' की आवृत्ति
११. कुञ्ज-लता-पुञ्जों	'ञ्ज' की आवृत्ति
१२. की केलि कली-खिली	'क' और 'ली' की आवृत्ति
१३. डोल उठी-हिंडोल	'डोल' की आवृत्ति
१४. जागी नहीं-मांगी नहीं	अन्त्यानुप्रास
१५. निर्दय उस नायक ने	'न' की आवृत्ति
१६. निपट निठुराई	'न' की आवृत्ति
१७. झोंकों की झाड़ियों से	'झ' की आवृत्ति
१८. सुन्दर सुकुमार देह सारी।	'स' की आवृत्ति
१९. कपोल गोल	'ओल' की आवृत्ति
२०. चकित चितवन निज चारों ओर	'च' की आवृत्ति
२१. चारों ओर फेर	'र' की आवृत्ति
२२. हरे प्यारे	'र' की आवृत्ति
२३. खिली खेल	'ख' और 'ल' की आवृत्ति
२४. रंग प्यारे रंग	'अंग' की आवृत्ति
२५. वल्लरी सुहागभरी	'री' की आवृत्ति।

शब्द के अर्थ-विवेक में छायावादी कवियों ने शब्द-कोश अथवा प्रचलन की उपेक्षा की है और अपने ध्वनि-भेद को अधिक महत्व प्रदान किया है। अपनी इस रुचि का विस्तृत परिचय पंत जी ने 'पल्लव' की भूमिका में दिया है। उनके अनुसासर "भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द प्रायः संगीत भेद के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं। जैसे 'भ्रू' से क्रोध की वक्रता, 'भ्रकुटि' से कटाक्ष की चंचलता, 'भौहों' से स्वाभाविक प्रसन्नता, ऋजुता का हृदय में अनुभव होता है। ऐसे ही 'हिलोर' में उठान, 'लहर' में सलिल के वक्षःस्थल की कोमल कम्पन, 'तरंग' में लहरों के समूह का एक-दूसरे को धकेलना, उठ कर गिर पड़ना, 'बढ़ो-बढ़ो' कहने का शब्द मिलता है; 'बीचि' से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूलती हुई हसमुख लहरियों का, 'उर्मि' से मधुर मुखरित हिलोरों का, 'हिल्लोल-हिल्लोन' से ऊंची-ऊंची बाहें उठाती हुई उत्पातपूर्ण तरंगों का आभास मिलता है।[1]" इसी सिलसिले में पंत जी ने इस प्रकार के अनेक रोचक उदाहरण दिये हैं। पत जी ने इन शब्दों के जो अर्थ निश्चित किये हैं, उनमें कहां तक औचित्य है, यह प्रश्न दूसरा है। वास्तविकता है इस विचार की पृष्ठभूमि में

---

१ 'पल्लव' की भूमिका पृ० १६-१७

कार्य करने वाली छायावादी कवि की भाववादी या व्यक्तिनिष्ठ (सब्जेक्टिव) प्रवृत्ति या दृष्टिकोण को पहचानना। यह प्रवृत्ति पंत जी के अतिरिक्त निराला जी में भी है। 'मेरे गीत और कला' निबंध में उन्होंने संस्कृत के 'श ण व ल' और हिन्दी के 'स म ब ल' संगीत की जो रोचक व्याख्या की है, वह भी इसी प्रवृत्ति की सूचक है। उनके लिए 'वर्ण चमत्कार' इसी में था कि 'एक-एक शब्द बंधा ध्वनिमय साकार' रहे। शब्द-रचना संबंधी संगीतका जहां तक संबंध है छायावादी कवियों ने स्वर अथवा व्यंजन संबंधी अनुप्रास का सहारा लिया है। निराला जी में यह प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। उदाहरणार्थ—

> दिवसावसान का समय
> मेघमय आसमान से उतर रही है
> वह संध्या-सुन्दरी परी-सी
> धीरे-धीरे-धीरे।
>
> —परिमल : निराला।

यहाँ 'दिवसावसान-आसमान', 'समय मेघमय' तथा 'सुन्दरी परी-सी' में स्वर और व्यंजना संबंधी अनुप्रास-सौन्दर्य दर्शनीय है। इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण देखिये—

> वे गये असह दुख भर
> वारिद झर झर झर कर
> नदि कल कल छल-छल सी
> वह छवि दिगंत पल की
> घन गहन गहन
> बंधु दहन

(२) मधुपबाला का मधुर मधु मुग्धराग।
×   ×   ×
(३) तरुणता की उन तरंगों में तरल।
×   ×   ×
(४) चपल चोखी चोट कर अब पंख की।
×   ×   ×
(५) ललित लोल उमंग सी लावण्य की।

—ग्रंथि।

प्रगति-प्रयोगवादी कवियों की कविताओं में भी स्वाभाविक अनुप्रास के प्रयोग प्राप्त होते हैं—

क्या दूं देव ! तुम्हारी इस विपुल विभुता को मैं उपहार ?

—भग्नदूत : अज्ञेय।

मसली सुहागिन सेज पर के सुमन वे।

—नाश-निर्माण :
गिरिजाकुमार मथुर।

पी के फूटे आज प्यार के पानी बरसा री।
हरियाली छा गई, हमारे सावन सरसा री।

—गीतफरोश : भवानी प्रसाद मिश्र।

इस प्रकार के सानुप्रासिक प्रयोगों के लिए कवि को कोई आयास-प्रयास नहीं करना पड़ता, किन्तु कहीं-कहीं प्रयत्न परिलक्षित होता है। यथा—

(१) तरणि के ही साथ तरल तरंग में
तरणि डूबी थी हमारी ताल में,
(२) गरज गगन के गान गरज गंभीर स्वरों में।
(३) पुलकित पलक पसार अपार।
(४) क्रीड़ा-कौतूहल कोमलता।
(५) रूप, रंग, रज, सुरभि मधुर मधु भर-भर मुकुलित
—अंगों में।

—सुमित्रानन्दन पंत।

इन उदाहरणों में वर्ण-निर्वाचन प्रयत्नसाध्य है, किन्तु अनुरणन कम नहीं है। प्रसाद जी के शब्दों में भी अनुरणन मिलता है—

(१) चन्द्रकिरण हिम-विन्दु मधुर मकरंद से।

(२) स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान,
उड़ाती हो परमाणु पराग।

(३) नवतमाल श्यामल नीरदमाला भली।

आधुनिक युग में यमक और श्लेष नामक अलंकारों के बहुत कम प्रयोग हुए हैं; क्योंकि ये अलंकार चमत्कार-प्रधान हैं और आज का कवि अलंकारों के चमत्कार को पसंद नहीं करता; साथ ही इन अलंकारों के प्रयोग के लिये बहुत ही सावधानी, सोच-विचार और कौशल की अपेक्षा रहती है। इसलिये इन अलंकार-प्रयोगों की आधुनिक हिन्दी-कविता में न्यूनता है। प्रतिभाशाली कवियों ने ऐसे प्रयोग किये हैं, जो बहुत ही सुन्दर हुए हैं।

यमक वर्णों की आवृत्ति नहीं, वर्ण-संघात वर्ण-श्रृंखला अर्थात् 'पद' की आवृत्ति है और चूंकि पद सार्थक होने पर शब्द भी होता है। अत: वहाँ कभी-कभी शब्द की आवृति होती है, पर सदैव नहीं। इस कारण यमक तीन प्रकार का होता है—निरर्थक-निरर्थक पदों का यमक, निरर्थक-सार्थक पदों का यमक, सार्थक-सार्थक पदों का यमक। आधुनिक हिन्दी-कविता से यमक के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

विश्वम्भर सौरभ से भर जाय।
—कामायनी : प्रसाद।

यहाँ पर भर (पूर्ण तथा भरना) शब्द के दो अर्थ है।

तरणि के ही साथ तरल तरंग में,
तरणि डूबी थी हमारी ताल में।
—ग्रन्थि : पंत।

इसमें प्रयुक्त तरणि (सूर्य तथा नाव) शब्द के दो अर्थ हैं। इस उदाहरण में यमक के साथ अनुप्रास का भी प्रयोग हुआ है।

बोल रसाल रसाल सजाते,
मधु बरसा मधुमास जगाते।
—प्रभातफेरी : नरेन्द्र।

रसाल (रसवाला), रसाल (आम), मधु (मिठाई या शहद), मधु (चैत्र-बसंत)।

ये तीनों उद्धरण सार्थक-सार्थक पदों के यमक हैं। अब निरर्थक-सार्थक पदों का एक यमक देखिये—

फागुन-गुन गा प्राणों की पिक कुहुकी मधुबन यौवन में।

—प्रभातफेरी : नरेन्द्र।

यहाँ गुन-गुन निरर्थक-सार्थक पदों की आवृत्ति है।

आधुनिक कविता में श्लेष का अपेक्षाकृत कम प्रयोग हुआ है। इसका उदाहरण है—

तुम्हारी पी मुख वास तरंग
आज बौरे भौंरे सहकार।

—गुंजन : पंत।

यहाँ बौरे के दो अर्थ हैं-पागल और बौरे-जो भ्रमर और आम दोनों के साथ लगते हैं। शेष का प्रयोग देखिये—

दीनता के ही प्रकम्पित पात्र में,
दान बढ़कर छलकता है प्रीति से।

–ग्रंथि: पंत

'लाजकाजल' में सभंगपद श्लेष दृटव्य है—
किसकी बिछुड़न न उर से सँभाली गई।
'लाजकाजल' धुला धार बहने लगी॥

—शैवालिनी : हृदयनारायण पाण्डेय 'हृदयेश'

शब्दालंकारों में पुनरुक्तिप्रकाश का भी प्रमुख स्थान है। इसमें भाव को रुचिर बनाने के लिए एक ही बात को बार-बार कहा जाता है। आधुनिक कवियों ने इसके प्रयोग किये हैं—

हृदय रो अपने दुःख का भार,
हृदय, रो उनका है अधिकार,
हृदय रो, यह जड़ स्वेच्छाचार।

—पल्लव : पंत।

आज कितनी सदियों के बाद–
देवि कितनी सदियों के बाद।

—मधुकण : भगवतीचरण वर्मा।

हवा हूँ, हवा मैं
बसंती हवा हूँ।
वही हाँ वही जो
धरा का बसंती

सुसंगीत मीठा
गुंजाती फिरी हूँ
हवा हवा हूँ, मैं
बसंती हवा हूँ।

—नींद के बादल : केदारनाथ अग्रवाल।

शब्दालंकारों में वक्रोक्ति, प्रहेलिका, चित्र आदि भी हैं, किन्तु आधुनिक कवियों ने इनके प्रयोग नहीं किये है। गुरुभक्त सिंह ने अवश्य वक्रोक्ति* का एक सुन्दर प्रयोग किया है—

एक कबूतर देख हाथ में पूछा कहाँ अपर* है।
उसने कहा अपर* कैसा है ? उड़ है गया सपर है।।

—नूरजहाँ।

यहाँ सलीम और मेहरुन्निसां का परिहास है। सलीम ने पूछा अपर (दूसरा) कहाँ है ? मेहरुन्निसां ने कहा कि यह अपर (पर-हीन) नहीं है, बल्कि सपर (परयुक्त) है; अतः उड़ गया।

अर्थालंकारों में उपमामूलभूत है। आधुनिक हिन्दी-कविता में नये-नये उपमानों की योजना की गई है। उपमा के दो भेद हैं—

१ पूर्णोपमा और
२ लुप्तोपमा।

पूर्णोपमा के प्रयोग हैं—

जब विमूर्छित नींद से मैं था जगा,
कौन जाने, किस तरह ? पीयूष-सा,
एक कोमल समव्यवस्थित-निःश्वास था,
पुनर्जीवन-सा मुझें तब दे रहा।।

—ग्रंथि : पंत।

जीवन न दीन बने,
प्रथम यौवन के मिलन-सा चिरनवीन बने।

—आधुनिक कवि : रामकुमार वर्मा।

प्रथम उदाहरण में निःश्वास उपमेय, पीयूष उपमान, सा वाचक और पुनर्जीवन साधारण धर्म है। मूर्छित कवि के पास एक बाला व्यथित निःश्वास फेंक रही है। थोड़ी देर में कवि की सांस लौट आती है, प्रतीत होता है जैसे उसका निःश्वास फेंकना व्यर्थ नहीं गया। पीयूष भी पुनर्जीवन देता है और इन निःश्वासों ने भी

पुनर्जीवन दिया। उपमा में इस प्रकार यहाँ गुण-साम्य हुआ। जीवनदान यद्यपि यहाँ निःश्वास ने नहीं, निःश्वास फेंकने वाले ने दिया है, निःश्वास का पीयूष से दूर का सम्बन्ध है, वास्तव में प्राणी ही पीयूष बन गया है; पर यह उपमा बड़ी ही मार्मिक और कोमल सिद्ध हुई है। द्वितीय उदाहरण में जीवन उपमेय है, प्रथम यौवन के मिलन उपमान, सा वाचक और चिरनवीन धर्म है।

लुप्तोपमा के अनेक भेद होते हैं। उसके कतिपय प्रयुक्त भेदों के प्रयोग आधुनिक हिन्दी-कविता से प्रस्तुत करते हैं—

उपमेयलुप्ता— मुख-कमल समीप सजे थे दो किसलय दल पुरइन के।
—आँसू : प्रसाद।

इसमें पुरइन के किसलय उपमान का उपमेय दो कान लुप्त है।

वाचक लुप्ता— शलभ-चंचल मेरे मन प्राण।
—गुंजन : पंत।

धर्मलुप्ता— जीवन की गोधूली में कौतूहल-से तुम आये।
—आँसू : प्रसाद।

वाचक धर्मलुप्ता— बिजली-माला पहने फिर मुस्काता था आँगन में।
—आंसू : प्रसाद।

आधुनिक कवियों ने मालोपमा के बड़े सुन्दर प्रयोग किए हैं। पंत जी की 'छाया' शीर्षक कविता इसके लिए पर्याप्त प्रसिद्ध है। एक अन्य उदाहरण देखिये—

सुषमा की प्रतिमा एक तरुणी दिवांगना-सी,
रति की अनूप रचना-सी,
सुन्दरी प्रणय अभिलाषा-सी
मादक मदिरा-सी,
मोहक इन्द्रधनु-सी।
—वासवदत्ता : सोहनलाल द्विवेदी।

आधुनिक हिन्दी-कविता में रूपक का प्रयोग प्रचुर परिमाण में प्राप्त होता है, किन्तु परम्परित और निरंग का अधिक, सांग का कम। सांगरूपक दूर तक चलने वाला अलंकार है। इसका आद्योपांत सफल निर्वाह आधुनिक युग के कवियों में बहुत कम मिलता है। लोगों ने प्रायः इसके प्रयोग में शास्त्रीय नियमों का उल्लंघन किया है। कभी उपमा से प्रारम्भ करके बीच में रूपक खड़ा कर देते हैं और कभी प्रारम्भिक रूप सांगरूपक को अन्त में उपमा या उत्प्रेक्षा में बिगाड़ देते हैं। जैसे—

खैंच ऐंचीला भ्रू-सुरचाप—
शैल की सुधि यों बारम्बार—
हिला हरियाली का सुदुकूल,
झुला झरनों का झलमल हार—
—आधुनिक कवि : पंत।

प्रथम पंक्ति का रूपक बाद में 'का' जोड़ देने से खंडित हो जाता है। यह आधुनिक कवियों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति की द्योतक है। यह स्वच्छन्दता प्रगति-प्रयोग-वादी कवियों में अधिक मिलती है। द्वितीय 'तारसप्तक' में नरेशकुमार मेहता की ऊषा पर कई रचनायें संग्रहीत हैं। इनमें लम्बे-लम्बे सांगरूपक बाँधने का प्रयास किया गया है, किन्तु इनका दूर तक निर्वाह नहीं हो पाया है और कहीं-कहीं तो ऐसा भी हुआ है कि पूरी रचना से कोई चित्र ही नहीं उठता। किरणों की कल्पना कहीं धेनु और कही अश्व के रूप में की है। ऐसे ही इन्द्र, वरुण, सोम, मंत्र-पाठ आदि की चर्चा से वेद-कालीन वातावरण आज के युग में बुद्धि द्वारा थोपा गया प्रतीत होता है। रचनाओं के छन्दों की तुकें इतनी बेतुकी हो गई हैं कि सारा प्रयास ही व्यर्थ-सा प्रतीत होता है।

निराला जी की कविताओं में अवश्य सांगरूपकों का बड़ा भव्य निर्वाह देखने को मिलता है। यथा-जीव-ब्रह्म-परक रहस्यवादी कविता में एक अज्ञात, बतलाते हैं कि अनंत प्रिय है। आत्मा अभिसारिका है। यह अभिसारिका लोक में चाहे जितनी लांछित हो, प्रिय के चरणों को छोड़ कर और कहां शरण पायेगी। इसे कवि रूपक में बाँध कर इस प्रकार कहता है—

मौन रही हार—
प्रियपथ पर चलती,
सब कहते शृंगार
कण-कण कर कंकण प्रिय
किण्-किण् रव किंकिणी,
रणन्-रणन् उर लाज,
लौट रङ्किणी;
और मुखर पायल स्वर करे बार-बार,
प्रिय-पथ पर चलती, सब कहते शृंगार।
शब्द सुना हो, तो अब
लौट कहाँ जाऊँ ?
उन चरणों को छोड़, और
शरण कहाँ पाऊँ ?—

बाजे सजे उर के इस सुर के सब तार,
प्रिय पथ पर चलती, कहते सब श्रृंगार ।।–
––गीतिका ।

आत्मा को चिन्ता है; हार कर प्रिय-पथ पर चलना पड़ रहा है। प्रत्येक आभरण से इसी आत्मसमर्पण की ध्वनि निकल रही है। हृदय में लाज आती है, परन्तु लौट गई, तो वह प्रिय वन फिर कहां मिलेगा ? फिर संभव है, प्रिय ने आगमन की प्रतीक्षा के बाद नूपुरों का शब्द सुन लिया हो। फिर किसकी शरण मिलेगी ? प्रिय की ओर बढ़ती हुई अभिसारिका (परमात्म तत्त्व की ओर बढ़ती हुई जीवात्मा) में यही सवादी-विवादी स्वर बज रहे है, यही तर्क-वितर्क हो रहा है।

महादेवी जी ने भी सांगरूपकों के बहुत सुन्दर प्रयोग किये है। सब से अधिक चमत्कारपूर्ण आरती का सांगरूपक है; श्लेष तथा अनुप्रास का भी मनोहर पुट प्राचीन अप्रस्तुत को नवीन रूप में प्रस्तुत करता है—

प्रिय मेरे गीले नयन बनेंगे आरती ।
श्वासों में सपने कर गुंफित ।।
वन्दनवार वेदना चर्चित ।
भर दुःख से जीवन का घट नित ।।
मूक क्षणों से मधुर भरूँगी आरती ।। १ ।।
दृग मेरे दो दीपक झिलमिल ।
भर आंसू का स्नेह रहा ढल ।।
सुधि तेरी अविराम रही जल ।
पदध्वनि पर आलोक रहूँगी बारती ।। २ ।।
यह लो प्रिय निधियोंमय जीवन ।
जग की अक्षय स्मृतियों का धन ।।
सुख सोना करुणा हीरक कण ।
तुम से जीता आज तुम्हीं को हारती ।। ३ ।।
––यामा : महादेवी ।

इस गीत में श्वासों के तार में अपने सपनों को गूंथ कर वेदनार्चित वन्दनवार बनाया है, जीवन के घट को दुखरूपी जल से भरा गया है। दोनों नेत्र झिलमिलाते हुए दीपक हैं। आंसू का तेल भरा जा रहा है और सुधिरूपी बत्ती जल कर पदध्वनि पर प्रकाश कर रही है। फिर असंख्य धन, निधि, सोना तथा हीरक जुटा दिये जाते है। सांगरूपक का एक और अनुप्रास तो है ही 'भर' 'वारती' और 'स्नेह' में श्लेष भी है। सांगरूपक का एक और उदाहरण देखिए––

मेरे मस्तक के छत्र मुकुट वसुकाल सर्पिणी के शतफन ।
मुझ चिरकुमारिका के ललाट में नित्य नवीन रुधिर चन्दन ॥
आंजा करती हूं चिता-धूम का दृग में अंध तिमिर अन्जन ।
शृंगार लपट की चीर पहन कर नाचा करती मैं छूमछनन ॥
—हुंकार : दिनकर ।

निरंगरूपक का प्रयोग है—

इस हृदय-कमल का घिरना, अलिपलकों की उलझन में ।
आंसू मरन्द का गिरना, मिलना निःश्वास पवन में ॥
—आंसू : प्रसाद ।

परम्परित का प्रयोग है—

देती पृथ्वी पुष्प-मुखों से सरस-सुरभि-संवाद ।
—चित्ररेखा : रामकुमार वर्मा ।

आधुनिक कविगण कभी-कभी परम्परित रूपक में उपयोग तथा उपमान का भी लोप कर देते हैं । यथा—

लो जग की डाली-डाली पर,
जागी नवजीवन की कलियां ।
—मधुप्रभात : पंत ।

इसमें जग को उपवन का आरोप है, किन्तु वह लुप्त है । डाली उपमान है, परन्तु इसका उपमेय अनुक्त है ।

उत्प्रेक्षा कवि-समाज का एक प्रिय अलंकार है । इसका प्रयोग बिना चित्र-कल्पना के नहीं होता । यह चित्र-कल्पना केवल उपमा से नहीं होती और न केवल रूपक से, अतः यह कवियों में या तो दुर्लभ होती है या स्वाभाविक और सटीक नहीं होती । मैथिलीशरण गुप्त ने इसके सुन्दर प्रयोग किये हैं । प्रसाद जी के एक उत्प्रेक्षा का प्रयोग देखिये :—

उस असीम नीले अंचल में
देख किसी की मृदु मुस्कान,
मानों हँसी हिमालय की है
फूट चली करती कल गान ।
—कामायनी : प्रसाद ।

उक्त विषय वस्तूत्प्रेक्षा द्वारा प्रसाद जी का रूप-चित्रण दर्शनीय है—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघवन बीच गुलाबी रंग ।
—कामायनी : प्रसाद ।

प्रत्येक अलंकार में मनु, मानों, जनु, इव आदि वाचक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। ज्यों, यथा, जैसे, सो आदि वाचक शब्दों का प्रयोग उत्प्रेक्षा में दोष समझा जाता है, क्योंकि ये समानतासूचक हैं। इनका प्रयोग साधर्म्य-बोधक अलंकारों में ही होता है। ऊपर के उदाहरण में ज्यों शब्द का प्रयोग शास्त्रीय दृष्टि से ठीक नहीं है। उत्प्रेक्षा का एक अन्य उदाहरण है—

छोटे-छोटे बिखरे से, शुभ्र बादलों को पार करता—
मानों कोई तपक्षीण कापालिक
साध्य-साधना की जल बुझी, झरी
बची-खुची राख पर धीमे पैर रखता—
नीरव चपलतर गति से
चाद भागा जा रहा है
द्रुतपद—
—भग्नदूत : अज्ञेय

इसमें निष्फल कापालिक का सब कुछ छोड़-छाड़ कर भागना लोकसिद्ध है। इससे उत्प्रेक्षावाचक 'मानों' के स्थान पर उपमावाचक 'जैसे' होना अधिक उचित प्रतीत होता है।

आधुनिक कवियों ने स्मरण, संदेह और भ्रमालंकारों के भी सुन्दर प्रयोग किये हैं। प्रत्येक के उदाहरण निम्नांकित हैं—

स्मरणालंकार—

देखता हूं जब पतला
इन्द्रधनु—सा हल्का
रेशमी घूंघट बादल का
खेलती है जब कुमुदकला
तुम्हारे मुख का भी ध्यान
मुझे तब करता अंतर्धान
——गुंजन : पंत।

संदेहालंकार

मदभरे ये नलिन नयन मलीन हैं,
अल्पजल में या विकल लघुमीन हैं।
या प्रतीक्षा में किसी की शर्वरी,
बीत जाने पर हुये ये दीन हैं।
या पथिक से लाल लोचन कह रहे,
हम तपस्वी हैं, सभी दुःख सह रहे॥
—परिमल : निराला।

भ्रमालंकार--

नाक का मोती अधर की कांति से,
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रांति से।
देख उसको ही हुआ शुक मौन है,
सोचता है अन्य शुक यह कौन है ?
--साकेत : मैथिलीशरण गुप्त।

भारतीय अलंकारशास्त्र में अपन्हुति बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके अनेक भेद होते हैं। आधुनिक कवियों ने इसके बड़े सफल प्रयोग किए हैं। उदाहरणार्थ शुद्धापन्हुति का प्रयोग है—

ये न मग हैं तव चरण की रेखियां हैं।
बलि-दिशा की ओर देखादेखियाँ हैं।
विश्व पर पद से लिखे कृति लेख हैं ये,
धरा तीर्थों की दिशा की मेख हैं ये॥
--एक भारतीय आत्मा।

इसी प्रकार कैतवापन्हुति और पर्यास्तापन्हुति के भी प्रयोग आधुनिक हिन्दी-कविता में दृष्टव्य हैं—

कैतवापन्हुति—

प्रिये, कलि कुसुम में आज,
मधुरिमा मधु सुखमा सुविकास।
तुम्हारी रोम-रोम छवि व्याज,
छा गया मधुवन में मधुमास॥
—गुंजन : पंत

पर्यास्तापन्हुति—

मधुशाला वह नहीं-जहां पर मदिरा बेची जाती है।
भेंट जहाँ मस्ती की मिलती मेरी वह मधुशाला है।
—मधुशाला : बच्चन।

उल्लेख अलंकार का प्रयोग कुछ ही कवियों में मिलता है। यथा—

फूल से कोमल, छबीला रत्न से,
बज्र से दृढ़, शुचि सुगंधित यज्ञ से।
अग्नि से जाज्वल्य, हिम से शीत भी,
सूर्य से देदीप्यमान मनोज्ञ से।

वायु से पतला पहाड़ों से बड़ा
भूमि से बढ़ कर क्षमा की मूर्ति है
कर्म का अवतार रूप शरीर जो
श्वास क्या, संसार की वह स्फूर्ति है ।
—हृदय : एक भारतीय आत्मा ।

सुरपति के हम ही हैं अनुचर, जगत्प्राण के सहचर,
मेघदूत की सजग कल्पना. चातक के चिर जीवनधार ।
मुग्धशिखी के नृत्य मनोहर, सुभग स्वाति के मुक्ताकर,
विहंगवर्ग के गर्भविधायक, कृषक बालिका के जलधर ।।
—पल्लव : पंत ।

भारतीय अलंकारशास्त्रियों ने प्राय: प्रत्येक अलंकार के मूल में अतिशयोक्ति की सत्ता मानी है जो चमत्कार का कारण है । चमत्कार की विशेषता से ही अलंकारों के भिन्न-भिन्न नामकरण किए गये है । आधुनिक हिन्दी-कवियों का यह पर्याप्त प्रिय अलंकार है । इसके अनेक रूपों में से रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग आधुनिक हिन्दी-कविता में अधिक हुआ है । यथा—

बांधा विधु को किसने इन काली जंजीरों से ।
मणिवाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से ।।
—आंसू : प्रसाद ।

प्रिय का मुख शशि के समान सुन्दर था । काले बाल व्याल-से थे । इनमें उपमेयों का निर्देशन न करके केवल उपमानों का ही निर्देश किया गया है । मोतियों से भांग भरी हुई थी, उस पर कवि का कहना है कि सर्प तो स्वयं मणिवाला है, फिर उसका मुख हीरों से क्यों भरा है ? केवल उपमान निर्देश के कारण यहां रूपकातिशयोक्ति है । इसी प्रकार चपलातिशयोक्ति का प्रयोग है—

मैं जभी तोलने का करती उपचार स्वयं तुल जाती हूं ।
भुजलता फंसाकर नरतरु से झूले से झोंके खाती हूं ।।
—कामायनी : प्रसाद ।

इसमें उपचारमात्र से तुल जाना कारण के ज्ञानमात्र से कार्य का होना दिखलाया गया है । अक्रमातिशयोक्ति में कारण और कार्य का एक साथ घटित होना प्रदर्शित किया जाता है । यथा—

पृथ्वीराज ! उधर तुम पहुंचे पाश इधर बढ़ चढ़ आया ।
तुम तो उधर बंधे पाशों में शाप इधर सिर पर छाया ।।
—जौहर : सुधीन्द्र

अर्थालंकारों में अन्योक्तिविशेष महत्वपूर्ण है। इसमें प्रस्तुत वर्णन के स्थान पर उससे मिलता-जुलता अप्रस्तुत विधान किया जाता है। इसमें सम्पूर्ण प्रस्तुत अर्थ व्यंग्य रहता है। सामान्य कथन मात्र करने वाली रचनाओं से ऐसी रचनाओं में अधिक प्रभविष्णुता रहती है। द्विवेदीयुगीन कवियों ने इसके बड़े सुन्दर प्रयोग किए हैं; किन्तु लगभग सभी ने संस्कृत-काव्य की राशि-राशि मनोरम अन्योक्तियों को ही हिन्दी में ढाला है। संस्कृत-अन्योक्तियों के भाव-समुद्र में निरन्तर निमग्न रहने से मौलिक अन्योक्ति-मुक्ताएं भी कवियों के साथ लगी हैं। अन्योक्तिकारों ने स्थूल और सूक्ष्म, पृथ्वी से लेकर हिमालय तक पदार्थों (तृण, कठोर केतकी, चन्दन, आम, खजूर, खटमल, घुन, भ्रमर, पतंग, काक, वक, कीर, कुक्कुट, मैना, कोकिल चातक, चक्रवाक, बिल्ली, मूषक, मृग, हाथी, सिंह, पथिक, माली, मेघ, वर्षा, गंगा, गंगाजल, कर्मनाशा, तड़ाग, समुद्र, बसंत, मलयानिल, संध्या, हिमालय आदि) पर अन्योक्तियों की सृष्टि और भाव-शिल्प प्रदर्शित किया है। प्रतिभावान कवि ही इस शिल्प में सफल हो सकते है। पंत जी की निम्नांकित 'पतझर' शीर्षक अन्योक्ति संस्कृत की प्रत्यक्ष मुद्रा से मुक्त एक मौलिक रचना है।

द्रुतझरो जगत के जीर्णपत्र।
हे स्त्रस्त ध्वस्त ! हे शुष्क-शीर्ण !
हिम-ताप-पीत, मधुवात-भीत,
तुम वीतराग, जड़ पुराचीन !!

निष्प्राण विगत-युग ! मृत विहङ्ग।
जग नीड़ शब्द औ' श्वास-हीन,
च्युत, अस्त-व्यस्त पंखों-से तुम
झर-झर अनन्त में हो विलीन !

कङ्काल जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर, पल्लव लाली।
प्राणों की मर्मर से मुखरित
जीवन की मांसल हरियाली।

मंजरित विश्व के नवयौवन के
जगकर जग का पिक, मतवाली
निज पमर प्रणय स्वरमदिरा से
भर दे फिर नवयुग की प्याली।

—आधुनिक कवि : पंत

यह कविता अन्योक्ति का एक सुन्दर उदाहरण है। इसमें रूढ़ि ही पुराना पत्ता है। युग की चाल के कारण सुन्दर संस्कार ही रूढ़ियां बन जाते हैं। नवीन विचारों से उन्हें नाश का भय होता है। पुराना युग मृत पक्षी के समान है। अतः संसार रूपी नीड़ कलरव और श्वासों से हीन है। संसार में हर्ष और उल्लास का वेग नहीं है। जिस प्रकार मरे हुए पक्षी के गिरे पंख धीरे-धीरे झर कर मिट्टी में विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार तुम भी लय हो जाओ। जब पुराने सड़े पत्ते झर जायेंगे, तब सूखे वृक्षों की डालियों में बसंतागमन पर नये-नये लाल पल्लव फूट पड़ेंगे। जब रूढ़ियां नष्ट हो जावेंगी, तब संसार में नवीन शक्ति का संचार होगा। पुराने पक्षी मर जायेंगे, नये पक्षी आवेंगे और हरे-भरे उपवनों को कलरव से गुंजित कर देंगे। जब मनुष्य रूढ़ियों से मुक्त हो जायेगा, तब उसके प्राणों में नया जोश और नया जीवन लहलहा उठेगा। वसंत के आने पर आम मंजरियों से लद जायेंगे। अर्थात् जीवन में नवीन स्फूर्ति आ जायेगी। प्रगति का प्रथम पद प्राचीन कुसंस्कारों से मुक्ति प्राप्त करना है—कवि के कहने का यह तात्पर्य है। 'ग्राम्या' की 'स्वीट पी के प्रति' शीर्षक कविता भी इसी प्रकार की रचना है, जिसमें मध्यवर्गीय कुलबधू का वर्णन है,पर उसका वर्णन स्पष्ट नहींहुआ है। स्वीट पी देखने में सुन्दर होती है, बड़े यत्न से उसकी रक्षा की जाती है। सम्पन्न व्यक्तियों की फुलवारी में वह लगाई जाती है, पर सामान्य रूप से खाने-पीने में उसका उपयोग नहीं किया जाता है अर्थात् उपयोगिता की दृष्टिसे उसका विशेष मूल्य नहीं है। ये सारी बातें कुल-बधू के पक्ष में भी घट जाती हैं। इस प्रकार की रचनाओं में व्यंग्य की भी अच्छी योजना की जा सकती है। निराला जी की 'कुकुरमुत्ता' नामक रचना व्यंग्यपूर्ण अन्योक्ति ही है। 'कोयले' पर लिखी गई एक अन्य अन्योक्ति देखिये, जिसमें अन्योक्ति—पद्धति द्वारा श्रमिकों की खिन्नता, दीनता और मलिनता के साथ ही यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया गया है कि अब उनमें चेतना आ गई है और वे अपनी दुर्दशा से परित्राण पाने के लिए प्रस्तुत हैं—

जल उठे है तन—बदन से,
क्रोध में शिव के नयन—से।
खा गये निशि का अंधेरा,
हो गया खूनी सवेरा।
जग उठे मुरदे बिचारे,
बन गये जीवित अँगारे।
रो रहे थे मुंह छिपाए,
आज खूनी रंग लाए।

—युग की गंगा : केदारनाथ अग्रवाल।

इसमें कोयले से श्रमिक का सादृश्य है कुरूपता और मलिनता का। साधर्म्य इस बात का है कि जैसे कोयले आग से जल उठते हैं, वैसे ही श्रमिक चेतना के

उद्बुद्ध होने पर क्रोध से लाल हो गये हैं। सम्पूर्ण रचना से यह व्यंग्य है कि जो वस्तु इतनी तुच्छ है वह भी कर्म की प्रेरणा और उत्साह का संचार होने पर शक्तिमती बन सकती है। इस रचना में सामान्य कथन की अपेक्षा कुछ आकर्षण और चमत्कार अवश्य आ गया है।

जहाँ अनेक प्रस्तुत विषयों का अथवा अनेक अप्रस्तुत विषयों का क्रिया अथवा गुण द्वारा एक ही धर्म दिखलाया जाता है, वहाँ तुल्ययोगिता होती है। इसका प्रयोग है—

राम-भाव अभिषेक समय जैसा रहा,
बन जाते भी सहज सौम्य वैसा रहा।
वर्षा हो या ग्रीष्म सिन्धु रहता वही,
मर्यादा की सदा साक्षिणी है मही॥

—साकेत : गुप्त

यहां राज्याभिषेक और बनवास जैसे हिताहित में राम के मुख का भाव एक सा बना रहा। हित-अनहित में तुल्यवृत्ति के वर्णन के कारण इसे द्वितीय तुल्य योगिता कह सकते हैं। तुल्ययोगिता के समान ही दीपक भी गम्यौपम्याश्रित अलंकार है। आधुनिक हिन्दी-कविता में इसके प्रयोग प्राप्त होते हैं। यथा—

घन में सुन्दर बिजली-सी, बिजली में चपल-चमक-सी।
आंखों में काली पुतली, पुतली में श्याम झलक-सी॥
प्रतिमा में सजीवता-सी, बस गयी सुछवि आँखों में।
थी एक लकीर हृदय में, जो अलग रही लाखों में॥

—आँसू : प्रसाद

जहां पूर्वकथित घन में उत्तरकथित बिजली का, फिर पूर्वोक्त बिजली का उत्तरकथित चमक और ऐसे ही आंखों में पुतली का फिर पुतली में श्यामता का 'बस गयी सुछवि आखों में' इस एक क्रियारूप धर्म से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। अत: यहां माला-दीपक है। कारक दीपक में अनेक क्रियाओं का एक ही कारक दिखलाया जाता है। जैसे—

इन्दु की छवि में, तिमिर के गर्भ में,
अनिल की ध्वनि में, सलिल की बीचि में।
एक उत्सुकता बिचरती थी सरल,
सुमन की स्मृति में, लता के अधर में॥

—ग्रन्थि : पंत

दीपक के एक भेद पदार्थवृत्ति का प्रयोग देखिये, जिसमें छाया क्रिया पद की आवृत्ति हुई है—

तब इस घर में था तम छाया,
था मातम छाया गम छाया।

—भ्रम छाया ॥

—मधुशाला : बच्चन

पण्डित जगन्नाथ के मतानुसार प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त में विशेष अन्तर न होने से इनको एक ही अलंकार में परिगणित करना उचित है। वास्तव में दोनों में अन्तर उपमावाची शब्द के प्रयोग से आ जाता है। प्रतिवस्तूपमा में उपमावाची भिन्न शब्द एक ही धर्म का बोध कराते हैं, दृष्टान्त में वे होते ही नहीं। दृष्टान्त में बिम्ब–प्रतिबिम्ब का भाव आवश्यक है, उदाहरणार्थ—

सुख–दुख के मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरन।
फिर घन में ओझल हो शशि फिर शशि से ओझल हो घन ॥

—गुंजन : पंत

इसमें सुख-दुख और शशि-घन का उपमेयोपमेय भाव है और साधारण धर्म का भी बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है। यह दृष्टान्त का एक नया रूप है। निम्नांकित पंक्तियों में उदाहरण अलंकार दर्शनीय है—

ज्यों दिन ढलते संध्या विहग,
प्रतिपल नीड़ाकुल होते ।
वैसे ही तुम बिन ये चंचल,
प्राण तृषातुर रोते ॥

—मधूलिका : अंचल

आधुनिक हिन्दी–कविता में समासोक्ति का विशिष्ट महत्व है। आधुनिक कवियों ने इसके नये–नये प्रयोग किये हैं। जैसे—

जग के दु:ख–दैन्य–शयन पर यह रुग्णा बाला,
रे कब से जाग रही वह आंसू की नीरव माला ।
पीली पड़ निर्बल कोमल,--देहलता कुम्हलाई,
विवसना लाज में लिपटी सांसों में शून्य समाई ॥

—गुंजन : पंत

यहां लिंग की समता के कारण प्रस्तुत चांदनी के वर्णन से अप्रस्तुत रुग्णा–बाला का आभास होता है।

वैषम्य या विरोधमूलक अलंकारों द्वारा भी काव्य में सौन्दर्य–विधान किया जाता है.। विरोधाभास अलंकार में वास्तविक न होते हुए भी श्लेषादि के चमत्कार से विरोध की मिथ्या प्रतीति कराई जाती है। जैसे—

तुम मांसहीन तुम रक्तहीन,
हे अस्थिशेष तुम अस्थिहीन ।
तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिरपुराण हे चिर नवीन ।।
—युगांत : पंत

यहां दूसरे चरण में द्रव्य-द्रव्य और चौथे चरण में गुण-गुण का विरोधाभास है, जिसका परिहार गांधी जी के व्यक्तित्व से हो जाता है। इसी प्रकार आग से हिमजल का ढुलकना और, और दाह का शीतल होना क्रिया से विरोध दिखलाया गया है—

आग हूं जिससे ढुलकते बिन्दु हिमजल के ।
शून्य हूं जिसमें बिछे हैं पांवड़े पल के ।।
—यामा : महादेवी

भिगोता हिमजल में यह कौन ।
जलाने वाली शीतल आग ।।
—करुणा : हृदयेश

विभावना विरोधमूलक अलंकारों के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है। इसमें कारणान्तर की कल्पना की जाती है। इसके अनेक भेद होते हैं। भिन्नकारण-मूलता का उदाहरण देखिये, जिसमें भिन्न कारण या अकारण से कार्य होता है—

चुभते ही तेरा अरुन बान,
बहते कन-कन से फूट-फूट
मधु के निर्झर से सजल गान ।
—यामा : महादेवी

यहां वाण के आघात से गान की सृष्टि होना भिन्न कारण से कार्य होता है।

यथा—

दुख इस मानव आत्मा का रे नित का मधुमय भोजन ।
दुख के तम को खा-खा कर भरती प्रकाश से वह मन ।।
—गुंजन : पंत ।

विरोधाभास सहित कारण-कार्य की स्वाभाविक संगीत के त्याग में असंगति अलंकार होता है। इसके देशगता-कारण कहीं कार्य कहीं हो रहा हो- का प्रयोग है-

मेरे जीवन की उलझन बिखरी थीं उनकी अलकें ।
पी ली मधु मदिरा किसने, थीं बन्द हमारी पलकें ।।
—आंसू : प्रसाद

अलकें तो बिखरी थीं दूसरों की, दूसरे की जान आफत में थी। मदिरा पी किसी ने और पलकें बंद हुई किसी की। एक ही काल में कारण-कार्य के भिन्न-भिन्न स्थान हैं और विरोध का आभास भी। इसमें तो विरोध का आभास है, किन्तु विषम अलंकार में विरोध सत्य होता है—

आज गर्वोन्नत हर्म्य अपार, रत्नदीपावलि मन्त्रोच्चार।
उलूकों के कल भग्नविहार, झिल्लियों की झनकार॥
—पल्लव : पंत।

पल-पल श्री शोभा करती लीला से शृंगार जहां।
दग्ध कथा अपनी कहते थे अब बिखरे अंगार वहां॥
—जौहर : सुधीन्द्र

समर्थनीय कथितार्थ का किसी कारण के द्वारा समर्थन में काव्यलिंग होता है; जैसे—

और भोले प्रेम! क्या तुम हो बने
वेदना के विकल हाथों से जहाँ
झूमते गज से विचरते हो, वहीं
आह है, उन्माद है, उत्ताप है!
—ग्रंथि : पंत

यहां प्रेम का वेदना के हाथों द्वारा बना होना सिद्ध करने के लिये चौथी पंक्ति में कारण उक्त है। इसमें पृथक्-पृथक् पदों में कारण उक्त है। इसी प्रकार एक अन्य प्रयोग है—

क्षमा करो इस भांति न तुम तज दो मुझे,
स्वर्ण नहीं हे राम! चरणरज दो मुझे।
जड़ भी चेतन मूर्ति हुई पाकर जिसे,
मुझे छोड़ पाषाण भला भावे किसे?
—साकेत : गुप्त

निम्नलिखित उद्धरण में भरत को जन्म देने वाली जननी भी जिसके आशय को न जान सकी, इस अर्थ की प्रबलता से और किसी को उनके आशय का न जानना स्वतःसिद्ध है। अतः यहां काव्यार्थापत्ति है—

प्रभु ने भाई को पकड़ हृदय पर खींचा,
रोदन-जल से सविनोद उन्हें फिर सींचा।
उसके आशय की थाह मिलेगी किसको?
जन कर भी जननी जान न पाई जिसको॥
—साकेत : गुप्त।

इसी प्रकार का प्रयोग निराला जी ने भी किया है कि ऋषिमुनियों के धैर्य छूट जाने से भोगियों का धैर्य छूट जाना स्वतः सिद्ध हो जाता है—

देखो यह कपोत कंठ,
बाहु वल्लरी कर सरोज ।
नितम्ब भार–चरण सुकुमार गति मन्द–मन्द,
छूट जाता ऋषि–मुनियों का,
देव–भोगियों की तो बात ही निराली है ।
—परिमल : निराला ।

एक पदार्थ का 'सह' आदि सहार्थवाची शब्दों के साहचर्य से दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध-स्थापन में 'सहोक्ति' अलंकार होता है । यथा—

निज पलक मेरी बिकलता साथ ही,
अवनि से उर से मृगेक्षिणि ने उठा ।
एक पल निज शस्य श्यामल दृष्टि से,
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप से ।।
—ग्रंथि : पंत ।

निम्नांकित पंक्तियों में विशेषालंकार का प्रयोग हुआ है, जिसमें एक ही काल में एक ही स्वभाव से सूनेपन का स्थानों में होना वर्णित है अर्थात् एक आधेय अनेक आधार हैं—

आंखों की नीरव भिक्षा में आंसू के मिटते दागों में,
ओठों की हँसती पीड़ा में, आहों के बिखरे त्यागों में ।
कन–कन में बिखरा है निर्मम,
मेरे मानस का सूनापन ।।
यामा : महादेवी ।

जहां किसी आधेय वस्तु का अनेक आधारों में अथवा उसका विलोम क्रम से होना प्रदर्शित किया जाता है, वहां पर्याय अलंकार होता है । इसका निर्वाह निम्न उद्धरण में हुआ है—

तेरी आभा का कण तम को देता अगणित दीपक दान ।
दिन को कनक–राशि पहनाता विधु को चांदी का परिधान ।
—यामा : महादेवी ।

यहां एक आभा का ताराओं में, दिन के प्रकाश में और चन्द्रमा की उज्ज्वलता में होना वर्णित है । इसी तरह नीचे के प्रयोग में भी एक ही आधेय का अनेक आधारों में होना वर्णित है—

अलि कहां सन्देश भेजूं मैं किसे संदेश भेजूं,
नयनपथ से स्वप्न में मिल प्यास में घुल,
प्रिय मुझी में खो गया अब दूत को किस देश भेजूं ।।
—यामा : महादेवी ।

एक परिस्थिति में अनेक वस्तुओं, गुणों, क्रियाओं आदि के एकत्रीभाव में समुच्चय अलंकार होता है । अनेक गुणों का समुच्चय है—

आली तू ही बता दे इस विजन बिना मैं कहां आज जाऊं ।
दीना हीना अदीना ठहरकर जहां शांति दूं और पाऊं ।।
—साकेत : गुप्त ।

पात्र भी मधु भी मधुप भी मधुर विस्मृति भी ।
अधर भी हूं और स्मित की चांदनी भी ।।
—यामा : महादेवी ।

तुम सुन्दर सुपमामयी कांत कमनीया ।
तुम रुचिर चारु बन गई प्रकृति में माया ।।
——प्रेयस : सुधीन्द्र

चमत्कारक उत्तर होने से उत्तर अलंकार होता है ।
जैसे——

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ! यह मैं कैसे कह सकता,
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो भार विचार न सह सकता ।
हे विराट हे विश्वदेव तुम कुछ हो ऐसा होता भान ।।
——कामायनी : प्रसाद ।

तुम मुझ में प्रिय फिर परिचय क्या !
तेरा अधर विचुम्बित प्याला, तेरी ही स्मृति–मिश्रित हाला ।
तेरा ही मानस मधुशाला,
फिर पूछूं मैं मेरे साकी देते हो मधुमय विषमय क्या ?
यामा : महादेवी ।

यहां प्रथम का उत्तर संदिग्ध व असम्भव है और द्वितीय का उत्तर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे इस उत्तर के लिये किसी ने प्रश्न किया हो । निम्नलिखित पंक्तियों में रज अपना रंग छोड़ कर ऊषा का रंग ग्रहण करती है अर्थात् यहाँ तद्गुण अलंकार का निर्वाह हुआ है—

यह शैशव का सरल हास है, सहसा उर से है आ जाता,
यह ऊषा का नवविकास है जो रज को है रजत बनाता ।
यह लघु लहरी का विकास है, कलानाथ जिसमें खिच आता ।।
—पंत

भाविक अलंकार में भूत और भविष्य के भावों का वर्तमान की भाँति वर्णन किया जाता है। यद्यपि इसमें कोइ विशेष आलंकारिक चमत्कार नहीं है, किन्तु आचार्यों ने अलंकार-वर्गीकरण में इसका उल्लेख किया है। अत: इसके प्रयोग में भी आलंकारिक परिभाषा का निर्वाह देख लेना चाहिये—

अरुण अधरों का पल्लव प्रात, मोतियों—सा हिलता हिमहास,
इन्द्रधनुषी पट से ढँक गात, बाल विद्युत का पावस लास।
हृदय में खिल उठता तत्काल, अधखिले अंगों का मधुमास।
तुम्हारी छवि का कर अनुमान प्रिये प्राणों की प्राण ॥
—गुंजन : पंत।

इसमें भावी प्रियतमा की छवि का अनुमान वर्तमानकाल में हुआ है। निम्न-लिखित उद्धरण में भूत का वर्तमान-सदृश वर्णन किया गया है—

अरे मधुर हैं कष्टपूर्ण भी जीवन की बीती घड़ियां,
जब निःसंबल होकर कोई जोड़ रही बिखरी कड़ियां ॥
—यामा : महादेवी।

इसी प्रकार विगत युद्धस्थल का वर्णन वर्तमानकाल में देखिये—
संभल-संभल कर पलकों के पग धरिये इसमें दर्शक वृन्द।
दलित न हो पाये मानव के लोहू के वे विन्दु अमन्द ॥
चमक रहे सम्मुख रजकण वे लेकर रण का हास-विलास।
ये वे कीर्तिस्तम्भ हैं जिन पर लिखा पुण्य-जय का इतिहास ॥
—जौहर : सुधीन्द्र।

यहां तक लगभग सभी प्रमुख अर्थालंकारों को लेकर उनकी परिभाषाओं की निर्वाह की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी-कविता में प्रयोगों का अनुशीलन किया गया है। अब थोड़ा उभयालंकारों के प्रयोगों पर भी विचार करना है। पंत जी ने लिखा है कि—

निज पलक मेरी विकलता साथ ही,
अवनि से, उर से, मृगेक्षिणी ने उठा।

एक निज स्नेह श्यामल दृष्टि से,
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप-सी ॥
—ग्रंथि : पंत।

इस पद में सहोक्ति श्लेष और उपमा का सुन्दर संकर है, साथ ही प्रत्येक अलंकार एक पृथक् भाव का द्योतक है; उसका स्वतन्त्र प्रयोग नहीं हुआ है और

अंतिम उपमा दीप-सी तो बहुत ही सुन्दर बन पड़ी है। इसी प्रकार एक पद और लीजिये जिसमें विषम, विरोधाभास, लोकोक्ति का सुन्दर समावेश है—

जो अपांगों से अधिक है देखता,
दूर होकर और बढ़ता है तथा,
वारि पीकर पूछता है घर सदा,
—ग्रंथि : पंत।

लोकोक्ति का एक प्रयोग और देखिये—

तट ने धोखा दिया मुझको मझधार का,
अंगुली छू गई बाँह गहने लगी।
—शैवालिनी : हृदयेश

निम्नलिखित पद में संध्या की लाली और रात्रि की कालिमा के स्थान पर हेमजाल और कालीचादर का वर्णन होने से रूपकातिशयोक्ति है, पर साथ ही हेमजल (गुण)के साथ कालीचादर(दोष) होने के कारण उल्लास अलंकार भी है। इन दोनों अलंकारों के निर्णय में संदेह है, अतः यहाँ संदेह संकर है—

जब शांत मिलन संध्या को हम हेमजाल पहनाते।
काली चादर के स्तर का खुलना न देखने पाते॥
—आँसू : प्रसाद।

निम्नोद्धरण में अंगांगि-भाव-संकर देखिये—

करुणामय को भाता है तम के परदे से आना।
ओ नभ की दीपावलियो, तुम छिन भर को बुझ जाना॥
—यामा : महादेवी।

इस पद में दो रूपक हैं—एक तम के परदे में आना और दूसरा नभ की दीपावलियो। ये दोनों परस्पर उपकारक हैं—एक के बिना दूसरे की स्थिति असम्भव है, अतः यहाँ अंगागि-भाव-संकर है—

सिंधु-सेज पर धरा-बधू अब।
तनिक संकुचित बैठी-सी॥
—कामायनी : प्रसाद।

सिंधु-सेज में रूपकालंकार है, साथ ही छेकानुप्रास भी है। इसलिए इसमें एकवाचककानुप्रवेश संकर है। इसी प्रकार एक दूसरा उदाहरण लीजिये—

तुम तुंग हिमालय शृंग और मैं चंचल गति सुरसरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास और मैं कांत-कामिनी कविता॥

यहाँ कांत-कामिनी-कविता में अनुप्रास और रूपक दोनों अलंकार आ गये हैं।

सखी नीरवता के कंधे पर डाले बांह ।
छाँह-सी अम्बर-पथ से चली ।।
—परिमल : निराला ।

यहाँ उपमा (छाँह-सी) और रूपक (अम्बर-पथ) का सम्मिलित होते हुए भी भेद स्पष्ट है। अतः इसमें अर्थालंकार-संसृष्टि है। एक और पद देखिये, जिसमें अर्थालंकार-संसृष्टि है—

व्योम-विपिन में जब बसंत-सा
खिलता नव पल्लवित प्रभात,
बहते तब हम अनिल-स्रोत में
गिर तमाल-तम के-से पात ।
—पल्लव : पंत

यहाँ व्योम-विपिन में और अनिल-स्रोत में रूपक तथा बसंत-सा और तमाल-तम के से में उपमालंकार सम्मिलित होते हुए भी पृथक्-पृथक् हैं। अब एक शब्दार्थालंकार-संसृष्टि का प्रयोग देखिये—

जीवन प्रात समीरण-सा लघु विचरण निरत करो ।
तरु-तोरण तृण-तृण की कविता छवि-मधु सुरभि भरो ।।
--परिमल : निराला

इसके पूर्वार्द्ध में उपमा और उत्तरार्द्ध में त, र, ण का वृत्यानुप्रास है। छवि-मधु में रूपक भी है, जिसकी स्थिति पृथक् है ।

यहाँ तक तीनों प्रकार के अलंकारों-शब्द, अर्थ और उभय-की परिभाषाओं का निर्वाह आधुनिक हिन्दी कविता में देखने का प्रयत्न किया है और इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रथम तो आधुनिक कविता में अलंकारों का जमघट नहीं है, और द्वितीय उसमें रीतिकालीन ढंग के आलंकारिक प्रयोग शोध करना व्यर्थ है। रीतिकाल में तो अलंकार साध्य बन गये थे, किन्तु इस युग में ऐसी दशा नहीं है। अब तो वे केवल भावाभिव्यक्ति के साधन हैं। आज के कवि में अलंकारों की पट्टेबाजी या चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति नहीं है। वह रीतिकालीन कवि की भांति अलंकारों को मस्तिष्क में रख कर काव्य-रचना नहीं करता। अतः उसके काव्य में आलंकारिक परिभाषाओं का स्पष्ट निर्वाह भी नहीं उपलब्ध होता। आधुनिक कवि तो काव्य के बहिरंग (छंद,अलंकार) का प्रायः बहिष्कार करता है और उसके अंतरंग पर ही अधिक बल देता है। ऐसी स्थिति में आधुनिक कवियों से सर्वथा शास्त्रीय निर्वाह की आशा करना संभव नहीं है।

अलंकारों की नवीन दिशा से मेरा तात्पर्य आंग्ल अलंकारों से है। हिन्दी के आधुनिक कवियों ने काव्य-रचना में अंग्रेजी-साहित्य से पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त की है। अतः कतिपय अंग्रेजी अलंकारों–मानवीकरण (Personifiation), ध्वन्यार्थव्यंजना (Onomatopoea) विशेषणविपर्यय (Transferred Epithet) आदि के बड़े ही सुन्दर प्रयोग आधुनिक कवियों ने किये हैं। इस प्रकार के प्रयोग विशेषरूप से छायावादी कविता में प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। प्रसाद जी की 'झरना' पुस्तक छायावाद की नवीन शैली में लिखी हुई प्रथम पुस्तक मानी जाती है। इस संग्रह में मानवीयकरण के कुछ उदाहरण मिलते हैं। यह कहना तो अनुचित होगा कि प्रसाद जी पर अंग्रेजी का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। उन्होंने बंगला के अध्ययन से आंग्ल प्रभाव को ग्रहण किया। 'झरना' की प्रथम कविता में ही मानवीयकरण प्राप्त होता है—

उषा का प्राची में आभास
सरोरुह का सर बीच विकास
कौन परिचय था ? क्या सम्बन्ध ?...
राग से अरुण घुला मकरंद
मिला परिमल से जो सानन्द
वही परिचय था, वह सम्बन्ध
'प्रेम का मेरा तेरा छंद'।

—झरना : प्रसाद

वर्डस्वर्थ की भांति प्रसाद जी भी उक्त सचेतन प्रकृति में प्रेम के आदान-प्रदान का दर्शन करते है। समस्त प्रकृति उन्हें प्रेम-पाश में बद्ध प्रतीत होती है। इसी प्रकार उषा उन्हें एक रूपसी सदृश दृष्टिगत होती है जो अम्बर के पनघट पर तारों के घट को डुबो रही है—

बीती विभावरी जाग री।
अम्बर-पनघट में डुबो रही—
तारा-घट ऊषा नागरी।
खग-कुल कुल-कुलसा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो, यह लतिका भी भर लायी—
मधु मुकुल नवल रस-गागरी,
अधरों में राग अमंद पिये,
अलकों में मलयज बंद किये—
तू अब तक सोयी है आली।
आँखों में भरे विहागरी।

—लहर : प्रसाद

चित्रात्मकता लाने के लिये प्रसाद जी ने 'कामायनी' में मानवीकरण अलंकार का बहुत उपयोग किया है, उदाहरणार्थ—

१. भयमय मौन निरीक्षक-सा था सजग सतत चुपचाप खड़ा।
२. संध्या की लाली में हँसती उसका ही आश्रय लेती-सी।
छाया-प्रतिमा गुनगुना उठी श्रद्धा का उत्तर देती-सी।
३. सृष्टि हँसने लगी आँखों में खिला अनुराग।
४. शिथिल अलसाई पड़ी छाया निशा की कांत।
सो रही थी शिशिर कण की सेज पर विश्रांत।।
५. अभिलाषा अपने यौवन में उठती उस सुख के स्वागत को।

—कामायनी : प्रसाद।

प्रसाद जी के अतिरिक्त निराला, पंत, महादेवी के काव्य में मानवीकरण के बहुत ही मनोरम उदाहरण मिलते हैं। छायावादी कवियों ने प्रायः प्रकृति को नारी के रूप में ही चित्रित किया है। उदाहरणार्थ निराला जी की 'संध्या-सुन्दरी' शीर्षक कविता देखिये—

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही
वह संध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे-धीरे-धीरे
तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर,
किन्तु गम्भीर, नहीं है उनमें हास-विलास।
हँसता है तो केवल तारा एक
गुंथा हुआ उन घुँघराले काले-काले बालों से,
हृदय राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।

अलसता की-सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली,
सखी-नीरवता के कंधे पर डाले बाँह,
छाँह-सी अम्बर-अथ से चली।
नहीं बजती उसके हाथों में कोई वीणा,
नहीं होता कोई अनुराग-राग-अलाप,
नूपुरों में भी रुन-झुन रुन-झुन नहीं,
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा "चुप-चुप-चुप"
है गूंज रहा सब कहीं—

× × ×

और क्या है ? कुछ नहीं ।
मदिरा की वह नदी बहाती आती,
थके हुए जीवों को वह सस्नेह
प्याला एक पिलाती,

सुलाती उन्हें अंक पर अपने,
दिखलाती फिर विस्मृति के वह कितने मीठे सपने ।

—परिमल : निराला

मानवीकरण की दृष्टि से निराला जी की 'तरङ्गों के प्रति' 'यमुना के प्रति' 'जुही की कली' रचनाएँ भी परिलक्षणीय हैं। पंत जी की प्रकृति के मानवीयकरण की दो सर्वोत्तम रचनाएँ 'संध्या' और 'चाँदनी' हैं। संध्या को कवि ने एक अप्सरा के रूप में देखा है जो व्योम से मंथर गति से चुपचाप सुनहले केशों को फैलाये हुये उतर रही है। अनिल से पुलकित संध्या का लोल स्वर्णांचल, खग-कुल खेल के रूप में उसकी नूपुर ध्वनि, जलदों के सीप के समान खुले उसके पंख आदि का बड़ा भव्य वर्णन किया गया है—

कहो, तुम रूपसि कौन ?
व्योम से उतर रही चुपचाप
छिपी निज छाया-छवि में आप,
सुनहला फैला केश-कलाप,
मधुर, मंथर, मृदु, मौन ।

मूंद अधरों में मधुपालाप,
पलक में निमिष, पदों में चाप,
भाव-संकुल, बंकिम भ्रू-चाप,
मौन, केवल तुम मौन ।

ग्रीव तिर्यक, चम्पक-द्युति गात,
नयन मुकुलित, नत मुख-जलजात,
देह छबि-छाया में दिन-रात,
कहाँ रहती तुम कौन ?

अनिल-पुलकित स्वर्णांचल लोल,
मधुर नूपुर- ध्वनि खग-कुल-रोल,
सीप-से जलदों के पर खोल,

उड़ रही नभ में मौन ।

लाज से अरुण-अरुण सुकपोल,
मधुर अधरों की सुरा अमोल,
बने पावस-घन स्वर्ण-हिंदोल,
कहो एकाकिनि, कौन ?
मधुर, मंथर तुम मौन।
—पल्लविनी : पंत।

इसी प्रकार पंत जी ने 'चाँदनी' में ज्योत्सना के विविध रूपों का वर्णन किया है। कभी वह सरिता के कूल पर सोई हुई नारी के रूप में है—स्तब्ध समीरण उसकी सांसें और लघु-लघु लहरों की गति उसका उर-स्पन्दन है। कभी वह अपने ही सौन्दर्य में छिपी हुई शिखर पर खड़ी है और उसकी सुन्दर छवि सागर की लहर-लहर पर नृत्य कर रही है।

महादेवी जी ने भी प्रकृति का मानवीकरण किया है। उन्होंने मानवीकरण द्वारा चेतन प्रकृति के कहीं-कहीं पर विराट चित्र प्रस्तुत किये हैं। वह 'बसंत-रजनी' को क्षितिज पर से उतरने के लिये कहती है—

धीरे-धीरे उतर क्षितिज से,
आ बसंत रजनी !
तारकमय नव वेणी बन्धन,
शीशफूल कर शशि का नूतन,
रश्मि-वलय सित घन-अवगुण्ठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे,
चितवन से अपनी।
पुलकित आ बसंत-रजनी।
मर्मर की सुमधुर नूपुर ध्वनि;
अलि-गुंजित पद्मों की किंकिणि;
भर पदगति में अलस तरंगिणि;
तरल रजत की धार बहा दे
मृदु स्मित से सजनी।
विहँसित आ बसंत-रजनी।
पुलकित स्वप्नों की रोमावलि;
कर में हो स्मृतियों की अंजलि;
मलयानिल का चल दुकूल अलि;
घिर छाया-सी श्याम, विश्व को
आ अभिसार बनी !
सकुचाती आ बसंत-सजनी

सिहर-सिहर उठता सरिता-उर;
खुल-खुल पड़ते सुमन सुधा-भर;
मचल-मचल आते पल फिर-फिर;
सुन प्रिय की पदचाप हो गई
पुलकित यह अवनी !
सिहरती आ वसंत-रजनी !

—यामा : महादेवी वर्मा ।

एक अन्य रचना में महादेवी जी ने प्रकृति को अप्सरा के रूप में देखा है, जो अनन्तकाल से अमर लय-गीत तथा पद-ताल से नृत्य करती रही है—

लय गीत मदिर, गति ताल अमर,
अप्सरि, तेरा नर्तन सुन्दर ।
आलोक तिमिर सित असित चीर,
सागर गर्जन रुनझुन मँजीर;
उड़ता झंझा में अलक-जाल,
मेघों में मुखरित किंकिणि स्वर ।
अप्सरि, तेरा नर्तन सुन्दर ।

—यामा : महादेवी ।

रामकुमार वर्मा की सौंदर्यवादिता भी प्रकृति के मानवीकरण में कभी-कभी व्यक्त होती है । वह ज्योत्सना को नभ की बरसी हुई उमंग के रूप में देखते हैं—

वह ज्योत्सना तो देखो नभ की बरसी हुई उमंग ।

—आधुनिक कवि : रामकुमार वर्मा ।

वह पर्वत को नभ के स्पर्श से धरा का पुलकित हुआ गात मानते हैं—

नभ को छू के पर्वत स्वरूप ।
है उठा धरा का पुलक गात ।।

—आधुनिक कवि : रामकुमार वर्मा ।

प्रयोगवादी कवियों में गिरिजाकुमार माथुर को मानवीकरण अलंकार बहुत प्रिय है । उन्होंने नारी-रूप में वर्षा का बड़ा ही रम्यरूप चित्रित किया है—

गीली अलकों से बारि-बूंदें चुआती हुई,
झीनी झोलियों से मुक्त-मुक्ता लुटाती हुई,
कोयल-सा श्यामल स्वर

सुरमीली आँखों को ढांक रही श्यामअलक,
सांवली बदलियों का उड़ता-सा घूंघट पट,
छिपता-सा इन्दु बदन जाता है झलक-झलक,
उठती नत चितवन जब हलकी-सी विद्युत बन ।

—मंजीर : गिरिजाकुमार माथुर ।

प्रकृति और विश्व की समस्त जड़ तथा अरूप वस्तुयें चेतन और सरूप बन कर मानवी क्रिया-व्यापार करने लगती हैं, तब मानवीकरण अलंकार होता है । इस अलंकरण की उद्भावना चित्रोपमता लाने के लिये और अनुभूति-प्रवणता की दृष्टि से हुई है । इसी से मिलते-जुलते एक अलंकार का उल्लेख भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने किया है, जिसका नाम समासोक्ति है । अब हमें यह देखना है कि मानवीकरण और समासोक्ति में क्या अन्तर है । विश्वनाथ ने समासोक्ति की परिभाषा दी है कि जिस वाक्य में प्रस्तुत और अप्रस्तुत में समानरूप से अन्वित होने वाले कार्य लिंग और विशेषणों से प्रस्तुत में अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप किया जाय, वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है ।[1] ऊपर से देखने में समासोक्ति और मानवीकरण में कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता ।

आधुनिक कवियों के मानवीकृत प्रकृति-वर्णन में प्रस्तुत की अपेक्षा अप्रस्तुत-मानवीयरूप व्यापार ही अधिक मुखर हुए हैं । प्रस्तुत उनमें दब जाता है । ऐसे स्थलों में समासोक्ति का उपर्युक्त लक्षण पूर्णतः घटित नही होता । यहीं समासोक्ति और मानवीकरण में अन्तर है ।

उदाहरणार्थ—

नीले नभ के शतदल पर,
वह बैठी शारद-हासिनि,
मृदु करतल पर शशि-मुख धर,
नीरव, अनिमिष एकाकिनि !
वह स्वप्न-जड़ित नत चितवन
छू लेती अग-जग का मन,
श्यामल, कोमल चल चितवन
जो लहराती जग-जीवन ।

—पल्लविनी : पंत ।

---

१ समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिंगविशेषणैः ।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ।।

—साहित्यदर्पण ।

इस उद्धरण में प्रस्तुत पक्ष– चाँदनी का वर्णन गौण पड़ गया है तथा अप्रस्तुतपक्ष-नायिका के स्वरूप ने उसे दबा लिया है।

पंत जी ने लिखा है कि "पर्यायवाची शब्द, प्राय: संगीत भेद के कारण एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं। जैसे "भ्रू" से क्रोध की वक्रता, 'भ्रकुटि' से कटाक्ष की चञ्चलता, भौंहों से स्वाभाविक प्रसन्नता ऋजुता का हृदय में अनुभव होता है।" पंख शब्द में केवल फड़क ही मिलती है, उड़ान के लिए भारी लगता है; 'स्पर्श जैसे प्रेमिका के अंगों का अचानक स्पर्श होकर हृदय में जा रोमांच हो उठता है उसका चित्र है;'''अनिल से एक प्रकार की कोमल शीतलता का अनुभव होता है, जैसे खस की टट्टी से छन कर आ रही हो, वायु में निर्बलता तो है ही, लचीलापन भी है। यह शब्द रबर के फीते की तरह खिंच कर फिर अपने ही स्थान पर आ जाता है'''" इत्यादि। छायावादी कवियों ने विशेषरूप से सजग होकर इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है। यह अंग्रेजी अलंकार ध्वन्यार्थव्यंजना का प्रभाव है। इसमें नाद भाव का अनुकरण करता है। उदाहरणार्थ गति-व्यंजना का प्रयोग देखिये, जिसमें शब्दों की ध्वनि से क्षिप्र-मंद गतिकी व्यंजना होती है—

फिर क्या ? पवन
उपवन-सर-सरित गहन-गिरि-कानन
कुन्ज-लता पुन्जों को पार कर
पहुँचा......

—परिमल : निराला।

यहाँ पवन की क्षिप्रता ध्वनि से कंणित हो उठी है।

छायावादी कवियों ने भाव और नाद की मैत्री का बड़ा ही सुन्दर निर्वाह किया है। नाद-व्यंजना के उदाहरण देखिए—जिसमें ध्वनि से वस्तु के नाद (शब्द) की व्यंजना हुई है—

पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश,
पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश।
—पल्लव : पंत।

शत-शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर
—पल्लव : पंत।

कणकरण रव किंकिणि,
रणन रणन नूपुर।
—गीतिका : निराला

इसके उदाहरण निस्सन्देह प्राचीन हिन्दी कविता में भी हैं। तुलसी के 'कंकन किंकिणि नूपुर धुनि सुनि' में नूपुर की ध्वनि भी सुनाई देती है। वृत्तियों के निर्वाह में कुछ ऐसा ही सिद्धान्त था, किन्तु उसमें पूर्ण ध्वनिव्यंजना का निर्वाह कदाचित ही हो पाता था। नादानुकरण पर भाषा में अनेक शब्द (हिनहिनाना, झंकार, हुंकार, आदिं) बने हैं। छायावादी कवियों ने विशेषरूप से पंत जी ने शब्द के चित्र के साथ उसकी ध्वनि की प्रकृति को भी पहिचाना है। उन्होने छोटे-छोटे नादानुकारी पदों की सृष्टि की है—रतमल रणमण, टलमल, टलमल, छलछल, कलमल, रलमल, कलकल, छलछल, झर्झर, मर्मर आदि। निराला जी की संध्या-सुन्दरी, भी जब अम्बर-पथ से उतर कर चलने लगती है, तो एक अव्यक्त शब्द 'चुप, चुप, चुप' ही सुनाई पड़ता है। नाद-व्यंजना आधुनिक कवियों की निजी विशेषता है। इस दृष्टि से इस युग की कविता द्विवेदी-युग की कविता से बहुत आगे बढ़ आयी थी। यह अन्तर निम्नलिखित दो उद्धरणों से स्पष्ट हो जायेगा—

सरस, सुन्दर सावन मास था,
घन रहे नभ में घिर घूमते ।
विलसती बहुधा जिनमें रही,
छबिवती उड़ती बक-मालिका ॥
घहरता गिरि-सानु समीप था,
बरसता क्षिति छू नव वारि था।
घन कभी रवि अन्तिम अंशु ले,
गगन में रचता बहु चित्र था ॥
नवप्रभा परमोज्ज्वल लीक-सी,
गतिमती कुटिला-फणिनी समा ।
दमकती–दुरती घन–अंक में,
विपुल केलि-कला-खनि दामिनी ॥
—प्रियप्रवास : हरिऔध ।

झूम-झूम मृदु गरज, गरज घन घोर।
राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर।

झर झर झर निर्झर-गिरि-सर में,
घर मरु, तरु-मर्मर, सागर में,
सरित-तड़ित-मति-चकित पवन में,
मन में, विजन-गहन-कानन में,
आनन-आनन में, रव-घोर-कठोर—
राग अमर ! अम्बर में भर निज-रोर !

× × ×

धंसता दलदल,
हंसता है नद खल-खल
बहता, कहता कुलकुल कलकल कलकल।
देख-देख नाचता हृदय
कहने को महा विकल-बेकल,
इस मरोर से-इसी शोर से—
सघन घोर गुरु गहन रोर से

मुझे-गगन का दिखा सघन वह छोर।
राग-अमर अम्बर में भर निज रोर।

—परिमल : निराला

प्रथम कविता द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि कवि हरिऔध जी की है और द्वितीय छायावाद के प्रमुख कवि निराला जी की है। दोनों कवियों ने अपनी-अपनी कविताओं में बादलों का वर्णन किया है; किन्तु भाषा का जो महान वैभव, छंद का जो अपूर्व गंभीर लास, शैली की जो अपार्थिव झंकार निराला जी की कविता में है, वह हरिऔध जी में अप्राप्य है। निराला जी की शब्द-योजना से बादलों का रव व्यंजित हो रहा है, किन्तु हरिऔध जी की कविता में वह गुण अनुपलब्ध है। इसी प्रकार पंत जी की निम्नलिखित 'बादल' कविता में भी नाद-सौन्दर्य की इतनी प्रचुरता है कि वह चित्रकाव्य बन गई है—

धूम धुंआरे काजर कारे
तुम ही बिकरार बादर
मदनराज के वीर बहादुर
पावस के उड़ते फणिधर
चमक झमकमय मन्त्र वशीकर
छहर घहरमय विष सीकर
स्वर्गसेतु से इन्द्रधनुषधर
कामरूप घनश्याम अमर।

—पल्लव : पंत

इसी प्रकार 'पवन-गीत' में वायु-ध्वनि का अनुरणन पकड़ने का प्रयास है—

सर सर मर मर झन-झन सन-सन
गाता कभी गरजता भीषण,
वन-वन, उपवन,
पवन, प्रभंजन !

—पल्लविनी : पत

भ्रमरों की ध्वनि की व्यंजना से नीचे के छंद में आए सभी शब्द झुनझुना रहे हैं—

वन वन, उपवन—
छाया उन्मन उन्मन गुंजन,
नव वय के अलियों का गुंजन।

—पल्लविनी : पंत

इस प्रकार की कविताओं में अंग्रेजी अलंकार ध्वन्यार्थ-व्यंजना का ही प्रभाव है।

जहां एक पदार्थ का विशेषण दूसरे पदार्थ के साथ नियोजित हो जाता है, वहां विशेषण विपर्यय होता है। यह एक प्रकार का अर्थालंकरण है। तद्गुण भी इसी का सजातीय है, जिसमें एक वस्तु का गुण दूसरी निकट की वस्तु ग्रहण कर लेती है। विशेषण विपर्यय में वाच्यार्थं का बोध होने और सांकेतिक अर्थं का स्वीकार होने के कारण यह एक लाक्षणिक प्रयोग ही है, किन्तु अंग्रेजी में यही विशेषण विपर्यय (Transferred Epithet) के नाम से प्रचलित है। समस्त आंग्ल अलंकार प्राय: लक्षणाश्रित ही हैं। आधुनिक कवियों ने विशेषण-विपर्यय के बहुत प्रयोग किये हैं। यथा—

१. अभिलाषाओं की करवट फिर लुप्त व्यथा का जगना।

—आंसू : प्रसाद

२. चल चरणों का व्याकुल पनघट।

—परिमल : निराला

३. वेदना के ही सुरीले हाथ से —ग्रंथि : पंत

४. बच्चों के तुतले भय-सी। —पल्लव : पंत

उपर्युक्त उदाहरणों में करवट, सुप्त, व्याकुल, अलसित, सुरीले, तुतले विशेषण विपर्यस्त है। अभिलाषाएं करवट नहीं लेती, आदमी करवट लेता है; व्यथाएं सुप्त नहीं हैं, आदमी सुप्त है; पनघट व्याकुल नहीं, कदाचित् गोपियां व्याकुल थीं; वेदना का स्वर सुरीला है, हाथ नहीं; भय तुतला नहीं, बालक तुतला है। इसी प्रकार के अजाननयन (Innocent eyes), स्वप्निल हास (Dreamy Smile) आदि भी प्रयोग हैं जो पाश्चात्य प्रभाव से हिन्दी-कविता में आए हैं। इसी प्रकार मेटोनिमी (Metonymy) और सिनक्डकी (Synecdoche) अलंकार है जिनके प्रयोग आधुनिक हिन्दी-कविता में मिलते हैं। मेटोनिमी में लिंगी के लिए लिंग, आधेय के लिए आधार और कर्ता के लिए कारण प्रयुक्त होता है। सिनक्डकी में व्यक्ति के लिए जाति, जाति के लिये व्यक्ति, अंग के लिए अंगी, अंगी के लिये अंग, मूर्त के लिए अमूर्त और अमूर्त के लिए मूर्त प्रयोग किया जाता है।

उक्त आंग्ल-अलंकारों को भारतीय अलंकारशास्त्रियों ने अलंकारों में नहीं परिगणित किया है। इसका कारण है, शब्द-शक्ति का पृथक् विवेचन। भारतीय और यूरोपीय अलंकार-शास्त्र में प्रमुख अन्तर यही है कि भारतीय आचार्यों में शब्द-शक्तियों का अलंकारों से पृथक् विवेचन किया है और यूरोपीय आचार्यों ने अलंकारों में ही शब्द-शक्ति को अन्तर्भूत कर लिया है। संस्कृत में अनेक अलंकार ऐसे हैं जो लक्षणाव्यंजनाश्रित हैं। संस्कृत में तो अत्यन्त साधारण चमत्कार में भी अलंकारिता स्वीकार की गई है। इतना ही नहीं, किन्हीं-किन्हीं कथनों में तो कोई अलंकारतत्व है ही नहीं, किन्तु उन्हें भी अलंकार-संज्ञा दी गई है। ऐसी स्थिति में आंग्ल-अलंकारों को भारतीय अलंकार-शास्त्र में स्थान देना अनुचित न होगा। यद्यपि यह सर्वविदित तथ्य है कि यूरोप में अलंकार-शास्त्र का इतना सूक्ष्म विवेचन नहीं हुआ है जितना कि भारतीय आचार्यों ने किया है, फिर भी ज्ञान-वृद्धि-हेतु समयानुसार परिशोधन, परिवर्द्धन और नवीनता का समावेश असंगत न होगा। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि 'भारती को कुछ नवीन भूषणों से अलंकृत करने में हमें संकोच नहीं करना चाहिए। फिर क्या कारण कि बेचारी भारती के जेवर वही, भरत, कालिदास भोज इत्यादि के जमाने के ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं। भारती को क्या नवीनता पसन्द नहीं ? न हो तो न सही। हो तो केडिया जी कुछ नए आभूषणों की खोज या कल्पना करने की भी कृपा करें। ये पुराने भूषण-भाषण के भिन्न-भिन्न ढंग हैं। क्या इनके सिवा बोलने और लिखने में सरसता या चमत्कार उत्पन्न करने के लिए कोई अन्य ढंग नहीं हो सकता है।'[1] द्विवेदी जी का यह कथन सर्वथा सत्य, संगत, समीचीन और समयानुकूल है।

---

१ 'भारती-भूषण' की प्रस्तावना में उद्धृत पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी का एक पत्र।

8

आधुनिक अलंकृत उक्तियाँ और शब्द-शक्ति

मानव-जीवन में वाणी का बहुत महत्त्व है। वाणी की विशिष्टता के कारण ही मानव सृष्टि की सर्वोत्कृष्ट रचना है। वाणी द्वारा मानव ने शेष सृष्टि से सम्बन्ध स्थापित कर अपने क्षेत्र को व्यापक बनाया है। यही कारण है कि वह इतर जीव-सृष्टि के सदृश स्वनिष्ठ नहीं है। वाणी अपनी इसी महत्ता के कारण प्रारम्भ से ही मनीषियों के मनन-चिंतन का विषय रही है। "मानव-जाति के सम्पूर्ण इतिहास में शब्द और अर्थ से सम्बन्धित प्रश्नों के अतिरिक्त अन्य ऐसा कोई प्रश्न नहीं रहा, जिसने इतनी अधिक गवेषणात्मक व्यस्तता तथा इतना आकर्षण उत्पन्न किया हो—अब, यह गवेषणा शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध की प्रकृति के विषय में है, जो शब्दार्थ-विज्ञान की वास्तविक तथा उच्चतम समस्या है; यहाँ शब्द और अर्थ का प्रयोग दोनों के विस्तृत अर्थ में किया गया है।"[1] विश्व की प्राचीनतम पुस्तक ऋग्वेद में वाणी के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि "वाणी को देखते हुए भी कई व्यक्ति नहीं देख पाते; कई लोग इसे सुनकर भी नहीं सुन पाते। किन्तु विद्वान व्यक्ति के समक्ष वाणी अपने कलेवर को ठीक, उसी तरह प्रकट कर देती है, जैसे सुन्दर वस्त्र वाली कामिनी प्रिय के हाथों अपने आपको अर्पण कर देती है। विद्वान व्यक्ति देवताओं

---

1. Throughout the whole history of human race, there have been no questions which have caused more heart-searchings, tumults and devastations than questions of the correspondence of words to facts..........Now, it is the investigation of the nature of correspondence between words and facts, to use these terms in the widest sense, which is the proper and higest problem of the Science of meaning.

—Dr. Postgate quoted by Ogden and Richards in The Meaning of Meaning, P. 17.

का मित्र है, वह किसी भी समय असफल नहीं होता। किन्तु जो व्यक्ति पुष्प और फल से रहित अर्थात् निरर्थक वाणी सुनता है, वह ढोंग करता है।" इसी प्रकार विश्व के विद्वानों ने वाणी की महत्ता का विभिन्न ढंगों से व्याख्यान किया है।[१]

काव्यशास्त्रियों ने शब्द और अर्थ के अनेक भेद किये हैं।[२] शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। वे सर्वथा एक दूसरे के विपरीत विचारधारा रखते हैं।[३] किन्तु, वाणी के विषय में जितनी सूक्ष्मता से भारतीय

---

१. अ—एक: शब्द: सम्यग्ज्ञात: सम्मक् प्रयुक्त:;
 स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति ।। पतंजलि ।
 ब—अनादि निधनं ब्रह्म शब्द तत्त्वं यदक्षरम् ।
 विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत: ।।
 आत्म रूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपञ्चच दृश्यते ।
 अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपश्च प्रकाशते ।।
 स—इदमन्धतम: कृतस्नं जायते भुवनत्रयम् ।
 यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्नदीप्यते ।। दंडी ।

 द—For one word a man is oftendeemed to be wise and for one word he is deemed to be foolish. We ought to be careful what we say.—Confucius.

२. भारतीय विद्वानों के अनुसार सार्थक शब्द चार प्रकार का होता है-प्रकृति, प्रत्यय, निपात तथा उपसर्ग, और अर्थ भी चार प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष अनुमति, आप्तोलब्ध और कल्पित।

इसी सम्बन्ध में एक बात और भी जान लेना आवश्यक है कि वाणी तथा भाव; अथवा शब्द तथा अर्थ में अद्वैत सम्बन्ध है या द्वैत सम्बन्ध। यहाँ अद्वैत तथा द्वैत शब्दों का प्रयोग हम वेदान्त आदि दर्शन के पारिभाषिक रूप में न कर साधारण अर्थ में ही कर रहे हैं। भाषा के दर्शन तथा मनोविज्ञान के अन्तर्गत वाणी तथा भाव की इस समस्या को प्राय: दो प्रकार से मीमाँसित किया गया है। कुछ विद्वानों के मतानुसार वाणी तथा भाव में अभिन्न सम्बन्ध है, दोनों एक ही हैं। दूसरे विद्वानों के मतानुसार वाणी भाव (विचार) नहीं, एक अभिव्यक्ति अर्थात् विचारों, भावों तथा इच्छाओं का बहि:प्रदर्शन है।

३. प्रसिद्ध भाषाशास्त्री स्तीन्थाल वाणी तथा विचारों की अद्वैतता को मानते हैं। उनके मतानुसार ' वाणी स्वयं विचार है, शब्द स्वयं भाव है, वाक्य स्वयं ही निर्धारण है। केवल एक ही समय में इनमें भाषाशास्त्रीय तथा ध्वन्यात्मक एकता

विद्वानों ने विचार किया है, उतना यूरोपीय विद्वानों ने नहीं। शब्दके सम्बन्ध में मत-वैभिन्य होते हुए भी एक बात अवश्य सर्वमान्य हैं कि शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। और काव्य के विषय में तो यह कथन और भी अधिक सत्य है। "बिलियर्ड का कोई खिलाड़ी कंदुक को उछालकर 'क्यू' को अपनी नाक में संतुलित कर अपने क्रीड़ा–कौशल से दर्शकों को चकित करने की चेष्टा करता है; इसी प्रकार चाहे हम जानें या न जानें, चाहें या न चाहें, वाणी का प्रयोग करते हुए हम सब ऐन्द्र-जालिक हैं।[१]" इसी कारण शब्द का पूर्ण अर्थ-ज्ञान हमें तभी होता है, जब वह वाक्य में व्यवहृत हो। कहा भी गया है कि "वाक्य में प्रयुक्त सार्थक शब्द-ज्ञान से ही शब्द-बोध होता है, केवल शब्द के हीं जान लेने से नहीं।[२]" शब्द का अर्थ से एक प्रकार का सम्बन्ध रहता है। बिना सम्बन्ध का शब्द अर्थ-हीन होता है। उसमें अर्थ-बोध कराने की शक्ति नहीं होती अर्थात् संबंध ही शब्द की शक्ति है।

कालिदास भी वाणी तथा अर्थ को परस्पर संश्लिष्ट एवं अद्वैत मानते जान पड़ते हैं। शिव-पार्वती की वंदना करते हुए वे कहते है—"मैं वाणी के अर्थ की प्रतीति के लिये संसार के माता-पिता, पार्वती तथा शिव की बंदना करता हूँ, जो एक दूसरे से उतने ही संश्लिष्ट हैं, जितने वाणी और अर्थ।" यहाँ शिव-पार्वती के अर्धनारीश्वर वाले अद्वैत रूप की स्तुति की गई है। इसी को महाकवि तुलसीदास ने भी यों व्यक्त किया है।

गिरा-अरथ जल-वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दहुँ सीता-राम-पद, जिन्हहिं परमप्रिय खिन्न॥ (बालकांड दो० १८)

इसके प्रतिकूल लीबमान जैसे विद्वान वाणी तथा विचारों की अद्वैतता का निषेध करते हुए कहते हैं "शब्द विचार (भाव) नहीं, विचार (भाव) कल्पना के आधार पर निर्मित नहीं, विचारात्मक मनन न तो आभ्यंतर वाणी ही है, न कल्पना ही। किन्तु दोनों में से एक वस्तुतः मानसिक शक्तियों से दूर है।

ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्तः डा० भोलाशङ्कर व्यास, पृ० २१।

1. Whether we know it or not, we are all jugglers when we converse, keeping billiard-balls in the air while we balance the cue on our nose.

Practical Criticism by J. A. Richards, P. 180.

२. वाक्यभावमवाप्तस्य सार्थक-स्यावबोधतः।
संपद्यते शाब्दबोधो न तन्मात्रस्य बोधतः॥
—शब्द शक्ति-प्रकाशिका, कारिका। १२।

बिना संबंध के शब्द प्राणहीन होता है। इसीलिये शब्द-तत्त्ववेत्ताओं ने कहा है कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का नाम शक्ति है (शब्दार्थ सम्बन्धः शक्तिः)। लेकिन शब्द एक से अधिक भावों का बोधक होता है; अतः शब्द की एक से अधिक शक्तियाँ मानी गई हैं जिनके द्वारा शब्द अनेक अर्थो का ज्ञान कराता है। "एक 'बैल' (गौः) शब्द ही 'सास्नादिमान पशु विशेष' (वाच्यार्थ), 'पुरुष विशेष' (लक्ष्यार्थ) तथा 'मूर्खत्व' (व्यंग्यार्थ) का बोधन करा सकता है, और प्रत्येक दशा में उसकी एक विशेष शक्ति होगी। एक दशा में वह सीधा अर्थ सूचित करता है, दूसरे तथा तीसरे में टेढ़ा। इन्हीं सम्बन्धों को क्रमशः अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना व्यापार माना गया है। इन व्यक्तियों में से कुछ विद्वान केवल दो ही शब्द शक्तियाँ मानते हैं। मीमांसकों के मतानुसार अभिधा व लक्षण दो ही शब्द शक्तियां हैं। यही नैयायिकों को भी सम्मत है। भट्ट मीमांसक तथा नैयायिक तात्पर्य वृत्ति नाम की एक शक्ति जरूर मानते हैं, जो वस्तुतः शब्द की शक्ति न होकर वाक्य की शक्ति है। प्राचीन वैयाकरण स्पष्ट रूप से दो ही शब्द शक्तियाँ मानते हैं, नव्य वैयाकरण अवश्य व्यंजना को अलग से शब्द शक्ति मानने के पक्ष में हैं। भरत, भामह, दण्डी, वामन आदि प्राचीन आलंकारिकों ने यद्यपि शब्द-शक्ति पर कोई प्रकाश नहीं डाला है, तथापि यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि वे भी अभिधा व लक्षणा इन दो शब्द शक्तियों को ही मानने के पक्ष में थे।[१]" "निरुक्त, छन्दशास्त्र तथा वाक्यज्ञान आदरणीय विज्ञान हैं, तथा मानव-ज्ञान के विशाल-क्षेत्र में उनका भी समुचित स्थान है। वे काव्य के शरीर-विज्ञान हैं। किन्तु वे हमें काव्य-शक्ति के रहस्यों को समझाने की सहायता वितरित नहीं करते, क्योंकि काव्य-शक्ति आकस्मिक तथा वाह्य-साम्य से सर्वथा निराश्रित हैं।[२]" अर्थात् लक्षणा-व्यजना की काव्यालोचन सरणि काव्य के अन्तरतम गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करती है। यही बात प्रकारान्तर से आनन्दवर्धनाचार्य ने भी कही है कि वह (प्रतीयमान अर्थ) शब्दशास्त्र (व्याकरणादि) और अर्थशास्त्र (कोशादि) के ज्ञानमात्र से ही प्रतीत नहीं होता, वह तो केवल काव्य मर्मज्ञ को ही विदित होता है, क्योंकि केवल काव्यार्थतत्त्वज्ञ ही उस अर्थ को जान सकते हैं। यदि वह अर्थ केवल वाच्यरूप ही होता तो शब्द और अर्थ के ज्ञानमात्र से ही उसकी प्रतीति होती। परन्तु केवल पुस्तक से गन्धर्वविद्या को सीख लेने वाले उत्कृष्ट

---

(१) ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्तः डा० भोलाशंकर व्यास, —पृ० ६७

[2] Etymology versification, syntax are respectable sciences and have their proper place in the wide field of human knowledge. They are the anatomy and physiology of poetry. But they do not help us to understand the secrets of poetic power for the simple reason that the poetic power is independent of accidental and external resemblances.

—Creative Criticism, P. 11.

गान के अनभ्यासी (नौसिखिये) गायकों के लिये स्वर, श्रुति आदि के रहस्य के समान काव्यार्थ भावना से रहित केवल वाच्यवाचक (कोशादि अर्थ निरूपक शास्त्र और व्याकरणादि शब्दशास्त्र) में कृतश्रम पुरुषों के लिए वह (प्रतीयमान) अर्थ अज्ञात ही रहता है[1]। इस प्रकार वाच्यार्थ से भिन्न व्यंग्य की सत्ता का ही काव्य में प्राधान्य होता है।

अलंकारों और शब्द-शक्तियों का परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। पण्डित-राज जगन्नाथ ने 'रस गंगाधर' में शब्द-शक्ति-प्रसंग में अलंकारों पर नवीन दृष्टिकोण से विचार किया है। उन्होंने अलंकारों का मूलाधार लक्षणा माना है। इस प्रकार अलंकारों का आधार शब्द-शक्ति हो गई है और मुख्याधार लक्षणा है। यूरोपीय साहित्यशास्त्र के प्राय: सभी अलंकार लाक्षणिक प्रयोग के अन्तर्गत आ जाते हैं।

शब्द-शक्तियों में अभिधा प्रधान शक्ति है, इसीलिये उसे मुख्या या अग्रिम कहा जाता है। ऐसी कविता की स्थिति असम्भव है जिसमें अभिधा शक्ति से किसी-न-किसी रूप में काम न लिया गया हो। लक्षण से तो इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है ही, व्यंजना भी अभिधाश्रित है। जब लक्षणा भी किसी वाक्य का प्रकरणसापेक्ष्य अर्थ नहीं दे पाती, तब अभिधाशक्ति के बल पर ही व्यंजना अभीष्ट अर्थ को प्रकट करती है। इसीलिये अभिधाशक्ति का कोई कम महत्व नहीं है। देव ने तो अभिधामूलक काव्य को ही सर्वोत्तम स्वीकार किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी काव्य में अभिधाशक्ति का ही सर्वश्रेष्ठत्व मानते हुए लिखा है कि "यह स्पष्ट है कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी 'योग्यता' या 'उपयुक्तता' को पहुँचा हुआ, समझ में आने योग्य रूप में आया हुआ, अर्थ ही होता है। अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा या व्यंजना द्वारा योग्य और बुद्धिग्राह्य रूप में बहुत परिणत होकर हमारे सामने आता है।[2]" इस प्रकार अभिधाशक्ति का काव्य में बहुत महत्व है, इसमें दो मत नहीं हो सकते; किन्तु यह कहना कि अभिधात्मक काव्य ही सर्वोत्तम काव्य है, उचित नहीं प्रतीत होता।

---

(१) शब्दार्थशासन ज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते सतु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥१।७॥

सोऽर्थो यस्मात् केवलं काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव ज्ञायते। यदि च वाच्यरूप एवासावर्थः स्यात्, तद वाच्यवाचकस्वरूपपरिज्ञानादेवतत्प्रतीतिः स्यात्। अथ च वाच्यवाचक-लक्षणमात्रकृतश्रमाणां काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुखानां स्वरश्रुत्यादिलक्षणमिवाप्रगीतानां गान्धर्वलक्षणविदामगोचर एवासावर्थः ॥७॥

—ध्वन्यालोक।

(२) चिन्तामणि, भाग द्वितीय, पृष्ठ १७८।

आधुनिक-हिन्दी-कविता में यथार्थवादी और प्रगतिवादी कवियों, जैसे—बच्चन, दिनकर, नरेन्द्र, नेपाली, सुमन, केदारनाथ आदि—ने अधिकतर अभिधात्मक शैली में ही काव्य रचना की है। उदाहरणार्थ—

> दोनों चित्र सामने मेरे !
> सिर पर बाल घने घुंघराले काले, कड़े, बड़े, बिखरे से,
> मस्ती, आजादी, बेफिक्री, बेखबरी के हैं संदेश !
> माथा उठा हुआ ऊपर को, भौंहों में कुछ टेढ़ापन है,
> दुनियाँ को है एक चुनौती, कभी नहीं झुकने का प्रण है !
> सिर पर बाल कड़े कंघी से, तरतीबी से चिकने, काले,
> जग की रूढ़-रीति ने जैसे मेरे ऊपर फंदे डाले !
> भौंहें झुकी हुई नीचे को, माथे के ऊपर है रेखा,
> अंकित किया जगत ने जैसे, मुझ पर अपनी जय का लेखा ।।
>
> —आकुल अंतर : बच्चन

इस उद्धरण में लगभग सभी वाक्य सीधे-सीधे और मुख्यार्थ का संकेत करते हैं।

द्विवेदी युग की कविता इतिवृत्त प्रधान अभिधामूलक है और तत्पश्चात्-कालीन कविता लक्षणा-व्यंजना प्रधान है। "द्विवेदी युग के इतिवृत्त काव्य की भीषण प्रतिक्रिया रूप छायावाद का जन्म हुआ। द्विवेदी-कविता की इतिवृत्त शैली के विपरीत छायावाद का जन्म हुआ। द्विवेदी-कविता की इतिवृत्त शैली के विपरीत छायावाद की शैली अतिशय व्यंजनापूर्ण है। द्विवेदी युग का कवि जहाँ व्यंजना के रहस्य-सौंदर्य से अपरिचित रहा, वहां छायावाद में लक्षणा-व्यंजना का का आकर्षण इतना अधिक बढ़ गया कि अभिधा की एक प्रकार से उपेक्षा हो गई। छायावाद के प्रवर्त्तक प्रसाद ने छायावाद के व्युत्पत्ति-अर्थ के मूल में ही व्यंजना का आधार माना। जिस प्रकार मोती में वास्तविक सौंदर्य उसकी छाया है जो दाने की सारभूत छवि के रूप में पृथक् ही झलकती है, इसी प्रकार काव्य में वास्तविक सौंदर्य उसकी ध्वनि है जो शब्दों के वाच्यार्थ से पृथक् ही व्यंजित होती है। इसकी प्रेरणा प्रसाद जी ने स्पष्टत: संस्कृत के ध्वनिवादी आचार्यों से प्राप्त की है।[१]" द्विवेदी युग के पश्चात्कालीन कवियों द्वारा अभिधा शक्ति से अधिक काम न लेने का कारण यह है कि इससे साक्षात् सांकेतिक अथ का ही बोध होता है, अप्रत्यक्ष, सूक्ष्म और आभ्यंतर अर्थों को व्यक्त करने की इसमें क्षमता नहीं होती. इस व्यापार में तो लक्षणा और व्यंजना शक्तियाँ ही सक्षम हैं।

---

१ डा० नगेन्द्र—ध्वन्यालोक की भूमिका पृष्ठ—६७।

सर्वप्रथम हम आधुनिक अलंकृत उक्तियों में लक्षणा शक्तियों के विकास पर विचार करेंगे। कभी-कभी साहित्याध्ययन में किसी विशेष स्थल में वाच्यार्थ की संगति नहीं बैठती। ऐसे समय में वाच्यार्थ से सम्बन्धित अन्य अर्थ का ग्रहण किया जाता है। इस ढंग के अर्थ-ग्रहण में या तो कोई लोक-व्यवहार (रूढ़ि) कारण होता है या वक्ता की किसी बात को व्यंजित करने की इच्छा (प्रयोजन)। इस प्रकार प्रतीत अर्थ किसी शब्द का लक्ष्यार्थ होता है। इस अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति लक्षणा कहलाती है और इसका शब्द लाक्षणिक। लक्षणा के लिये तीन तत्त्वों की आवश्यकता होती है, जिनके अभाव में लाक्षणिकता असम्भव है, वे तत्त्व हैं—वाच्यार्थ का बोध, वाच्यार्थ का योग और रूढ़ि का प्रयोजन। इसी बात को मम्मटाचार्य ने इस प्रकार कहा है कि "वाच्यार्थ के बोध होने पर, लक्ष्यार्थ के उससे सम्बद्ध होने पर तथा रूढ़ि या प्रयोजन के कारण जहाँ अन्य अर्थात् वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति हो, वहां आरोपित क्रियारूप लक्षणा होती है।[१]" इस परिभाषा से स्पष्ट है कि लक्ष्यार्थ शब्द का वास्तविक अर्थ न होकर आरोपित अर्थ है। लक्ष्यार्थ की उत्पत्ति के दो कारण हैं–रूढ़ि और प्रयोजन। एतदर्थ इन्हीं के अनुसार दो प्रकार की लक्षणा मानी गई है–रूढ़ि और प्रयोजनवती लक्षणा। इसी प्रकार उपादान और उपलक्षण की दृष्टि से उसके दो भेद हैं—उपादान लक्षण और लक्षण लक्षणा। फिर प्रस्तुत–अप्रस्तुत के आरोप या अध्यवसाना के आधार पर सारोपा और साध्यवसाना ये दो लक्षणाएँ मानी गई हैं। सादृश्य और सादृश्येतर आधार पर खड़ी होने से उसके गौणी तथा शुद्धा दो और रूप हो जाते हैं। ये सब आपस में मिलकर अनेक प्रकार की लक्षणाओं को उत्पन्न करते हैं, जैसे प्रयोजन के साथ सादृश्य उपदान और अध्यवसाना का योग होने पर प्रयोजनवती शुद्ध उपादन साध्यवसाना लक्षणा होती है। गूढ़ और अगूढ़ अर्थानुसार प्रयोजनवती लक्षणा के भी दो भेद हो जाते हैं। पदगत और वाक्यगत होने से रूढ़ि लक्षणा के कुल सोलह भेद और प्रयोजनवती के धर्म-भेद तथा धर्मि-भेद एवं पदगत और वाक्यपद होने से कुल चौंसठ भेद हो जाते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर अस्सी लक्षणाएँ हो जाती हैं। लेकिन इन सबके सोदाहरण विवेचन के लिये यहाँ स्थान और अवकाश नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का विस्तृत विवेचन एक पृथक् ग्रन्थ का विषय है। यहाँ तो हम केवल

---

१ मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिताक्रिया॥ २९॥
—काव्यप्रकाश।

इसी प्रकार— मुख्यार्थबाधे तदयुक्तो यथान्योर्थः प्रतीयते।
रूढ़ेः प्रयोजनद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥ २। ५॥
—साहित्यदर्पण।

आधुनिक अलंकृत उक्तियों में उन्हीं लक्षणों पर विचार करेंगे जो स्पष्ट और अधिक दृष्टिगत होती हैं। उदाहरणार्थ—

१ बीती विभावरी जाग री !
अम्बर-पनघट में डुबो रही तारा-घट ऊषा-नागरी।
—लहर : प्रसाद।

२ इस हृदय-कमल का घिरना अलि-अलकों की उलझन में।
आँसू-मरन्द का गिरना मिलना निश्वास-पवन में॥
—आँसू : प्रसाद।

३ स्वर्ण-किरण-कल्लोलों पर बहता रे यह बालक मन।
—निराला।

४ अ– पलक-यवनिका के भीतर छिप हृदय-मञ्च पर आ छविमय।
ब– निश्चल जल के शुचि दर्पण।
स– सिक्ता की सस्मित सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर।
—पल्लविनी : सुमित्रानन्दन पंत।

५ तेरा मुख सहास अरुणोदय, परछाईं रजनी विषादमय।
—यामा : महादेवी वर्मा।

६ नयन के निलय नील अश्रु उड्गन।
—शैवालिनी : हृदय नारायण पाण्डेय 'हृदयेश'

७ व्योम-सर में हो उठा विकसित अरुण आलोक शतदल।
—चक्रवाल : दिनकर।

८ एक बस मेरे मन–विवर में दुबकी कलौंस को।
—बावरा अहेरी : अज्ञेय।

इन उदाहरणों के अम्बर-पनघट, तारा-घट, ऊषा-नागरी, आँसू-मरन्द, हृदय-कमल, अलि-अलकों, पलक-यवनिका, निश्चल जल के शुचि दर्पण, सिकता की सस्मित सीपी, अश्रु उड्गन, व्योम-सर, मन-विवर आदि पदों में अभेद रूपक है। इन पदों में प्रस्तुत-अप्रस्तुत का अभेद-भाव होते हुए भी उपमेय के बने रहने के कारण सारोपा लक्षण है। उपमेय का महत्व और सौंदर्य-वृद्धि के प्रयोजन से ऐसा किया गया है। अतः यह प्रयोजनवती और वाच्यार्थ के लक्ष्यार्थ का उपलक्षणमात्र होने से लक्षण-लक्षणा हुई। उपमेय-उपमान में सादृश्य-सम्बन्ध होने के कारण यहाँ गौणी लक्षणा है। इस प्रकार यहाँ प्रयोजनवती गौणी सारोपा लक्षण लक्षणा है। इसी प्रकार एक और उदाहरण देखिये—

जब कामना सिन्धु तट आई ले संध्या का तारा-दीप।
फाड़ सुनहली साड़ी उसकी तू क्यों हँसती अरी प्रतीप॥
—कामायनी।

इसमें 'संध्या का तारा-दीप' तथा 'सुनहली साड़ी उसकी' में साधर्म्यगत लाक्षणिकता है। प्रथम में संध्या के साथ तारे का वही सम्बन्ध है जो प्रिय की कुशलकामना के लिये सागरतट पर पूजा-दीप को बहाने आती हुई नायिका से दीपक का। साथ ही उसी नायिका से सुनहली साड़ी का ठीक वही संबंध है, जैसे संध्या से उस अरुणिमा का। अतः यहाँ रूपक अलंकार तो है ही, साथ ही इस अलंकार के मूल में कार्य करने वाली शब्द-शक्ति प्रयोजनवती गौणी सारोपा लक्षण-लक्षणा है। अब प्रयोजनवती शुद्धा सारोपा लक्षण-लक्षणा का उदाहरण देखिये—

भावुकता अंगूर लता से खींच कल्पना की हाला,
कबि बनकर है साकी आया भरकर कविता का प्याला
पाठकगण हैं पीनेवाले पुस्तक है मेरी मधुशाला ॥

—मधुशाला : बच्चन

इस उदाहरण के उपमेय-उपमान में सादृश्येतर सम्बन्ध होने से शुद्धालक्षणा है। इसी प्रकार निराला जी की 'नव अपांग-शर-हत व्याकुल उर' उक्ति में भी यही लक्षणा कार्य कर रही है।

साध्यवसाना लक्षण में प्रस्तुत का अप्रस्तुत में अध्यवसान होने से ऐसा अभेदभाव उत्पन्न होता है कि प्रस्तुत आच्छादित हो जाता है अर्थात् प्रस्तुत शब्दतत: प्रकट नहीं होता अपितु अप्रस्तुत द्वारा ही उसका ज्ञान होता है। अधोलिखित छन्द में साध्यवसाना गौणी लक्षणा का बड़ा भव्य प्रयोग हुआ है। इसमें 'पगली' शब्द रात्रि के लिये, 'अंचल' आकाश के लिये और 'मणिराजी' ताराओं के लिए प्रयुक्त हुआ है—

पगली हाँ सम्हाल ले कैसे,
　　छूट पड़ा तेरा अंचल ।
देख बिखरती है मणिराजी
　　अरी उठा बेसुध चंचल ॥

—कामायनी

उपर्युक्त उद्धरण में केवल अप्रस्तुतों द्वारा ही प्रस्तुत का संकेत किया गया है। प्रस्तुत का यह अध्यवसान गुण-साधर्म्य के कारण है। इस प्रकार रूपकातिशयोक्ति में साध्यवसाना पाई जाती है। इस लक्षणा द्वारा चमत्कार की सृष्टि अधिक होती है। यह लक्षणा तो रूपकातिशयोक्ति का बीज है। इसका एक उदाहरण और देखिये—

बाँधा है विधु को किसने इन काली जंजीरों से,
मणिवाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से ?

विद्रुम सीपी सम्पुट में मोती के दाने कैसे,
है हंस न, शुक यह फिर चुगने को मुक्ता कैसे ?

—आँसू : प्रसाद

इन पंक्तियों में विधु, काली जंजीरें, सीपी सम्पुट, मोती के दाने आदि उपमानों में उपमेयों का अध्यवसान किया गया है जिससे उपमानों के वाच्यार्थ बाधित होने पर लक्ष्यार्थ उपमेयों का ज्ञान होता है। अतः यहाँ प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना लक्षण लक्षणा है। इसी प्रकार थोड़े अन्तर से प्रयोजनवती शुद्धा साध्यवसाना लक्षण-लक्षणा होती है। इसका उदाहरण निम्नांकित है—

झंझा झकोर गर्जन था, बिजली थी नीरदमाला।
पाकर इस शून्य हृदय को किसने आ डेरा डाला॥

—आँसू : प्रसाद

उक्त उदाहरण में उपमान में उपमेय का अध्यवसान होने तथा मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्येतर सम्बन्ध होने से शुद्धा साध्यावसाना लक्षणा है। अप्रस्तुत योजना के साभिप्राय होने और मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के उपलक्षणमात्र होने से यह प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा भी है।

यूरोपीय काव्यशास्त्र के प्रायः सभी (साधर्म्यगत) अलंकार साधर्म्यगत लाक्षणिकता के अन्तर्गत आते हैं।[1] उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि सभी अलंकार जो साधर्म्य को लेकर चलते हैं, इसी कोटि में आते हैं। उपमा (Simile) के विषय में अरस्तू का कहना है कि उपमा लाक्षणिक प्रयोग ही है, क्योंकि उपमा में रूपक के समान दो प्रकार के वाचक पाये जाते हैं।[2] अतिशयोक्ति (Hyperbole) भी इसी साधर्म्यगत लाक्षिणिकता की कोटि में आती है।[3] यही नहीं मानवीकरण (Personification) में इसी साधर्म्यगततत्त्व का विशेष हाथ होता है। अरस्तू

---

१. अँग्रेजी में लक्षणा या लाक्षणिकता के लिये 'मेटाफर' (Metaphor) शब्द प्रयुक्त होता है। यह ग्रीक शब्द 'मेताफोरोइ' (Mataphoroi) का ही परिवर्तित रूप है।

2. Similies also, are in some way approved metaphors, for they. always are expressed in two terms like the analogical metaphor
—Rhetoric, Book iii chap. xi.

3. Again, hyperboles, which are recoginsed as metaphors, as that about a person with a black eye, "you would have thought him a basket of mulberries.'
—Rhetoric, Book iii chap xi.

ने कहा है कि "अचेतन में चेतन का आरोप इसी कोटि के अन्तर्गत है। होमर ने अनेक स्थानों पर लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा अचेतन वस्तुओं को चेतन के रूप में चित्रित किया है।" अरस्तू की दृष्टि से लाक्षणिकता के लिए चार अत्यंतावश्यक गए हैं—(१) लाक्षणिक प्रयोग सर्वथा उपयुक्त हो। (२) यदि किसी का उत्कर्ष सूचित करना हो, तो उसका ग्रहण उन्नत मूल से किया जाना चाहिए और यदि अपकर्ष का बोध कराना हो तो निम्न मूल से। (३) ध्वनि-माधुर्य का भी ध्यान परमावश्यक है। (४) लाक्षणिक प्रयोग दूरारूढ़ न हों।[१] इन चारों प्रकारों में अरस्तू ने साधर्म्यगत को ही सर्वसुन्दर और चमत्कारपूर्ण बतलाया है। उसने कहा है कि "चार प्रकार के लाक्षणिक प्रयोगों में वह प्रकार-भेद उच्चतम कोटि का है जिसका आधार समानुपात (साधर्म्य) है। जैसे पेरेक्लीज़ ने कहा था कि जिस प्रकार वर्ष से बसंत छीन लिया गया हो, उसी प्रकार युद्ध में मारे हुए नवयुवक नगर से विलीन हो गये।"[२] अरस्तू के मतानुसार अधोलिखित उद्धरण लाक्षणिकता का सर्वोत्तम प्रयोग होगा—

उषा सुनहले तीर बरसती,
जयलक्ष्मी-सी उदित हुई।
उधर पराजित कालरात्रि भी,
जल में अन्तर्निहित हुई॥
वह विवर्णमुख त्रस्त प्रकृति का,
आज लगा हँसने फिर से।
वर्षा बीती हुई सृष्टि में,
शरद-विकास नये सिर से॥

—कामायनी

उपर्युक्त सम्पूर्ण पद्य में भारतीय अलंकारशास्त्र की दृष्टि से समासोक्ति

---

1. The four essentials of metaphor:—(1) Must be appropriate, (2) From a better class if to embelish, from a lower if to debase, (3) The emphony must be attended to, (4) Must not be far-fetched.

—Rhetoric, Book III, Chap. II.

(2) But of metaphor, which is fourfold that species is in the highest degree approved which is constructed on similar ratios; Just as Pericles said, "that the youth which had perished in the war, had so vanished from the city, as if one were to take the spring from the year."

—Rhetoric, Book II, Chap. X.

अलंकार है और यूरोपीय अलंकार शास्त्रानुसार मानवीकरण अलंकार है। जिस प्रकार कोई राजा अपने शत्रु को पराजित कर देता है और उस विजयी राजा की जयलक्ष्मी बाणों की वृष्टि करती हुई पराजित राजा को नष्ट कर देती है; वैसे ही प्रलय-निशा को विनष्ट करती हुई उषा अपनी स्वर्णिम किरणें बरसाती हुई प्रकट हुई। पराजित राजा अपनी रक्षार्थ कहीं जाकर छिप जाता है, उसी प्रकार काल-रात्रि भी समुद्र के जल में छिप गई। जब दुर्जन राजा की पराजय हो जाती है और सज्जन राजा विजयी होता है, तो वह प्रकृति (मंत्री, प्रजा आदि) जो दुर्जन राजा के अत्याचार से म्लानमुख थी, फिर प्रसन्न हो जाती है, ठीक इसी प्रकार प्रलय-निशा में ध्वस्त प्रकृति अब उल्लासमय हो गई। शोक का अंत हुआ तथा उल्लास का संचार हो गया। संसार में वर्षा का अन्त हो गया, नये सिरे से शरदागमन हुआ। यहाँ 'वर्षा' शोक तथा मलिनता की द्योतक है, 'शरद विकास' उल्लास तथा निर्मलता का। यहाँ विजयी राजा से पराजित राजा, बाण तथा मंत्रियों का ठीक वही संबंध है, जो उषा से रात्रि, किरणें तथा प्रकृति का। इसी प्रकार उषा से रात्रि का वही सम्बन्ध है, जो शरत् से वर्षा का। ये समस्त प्रयोग मनु के मन से चिन्ता के मालिन्य नष्ट होने तथा वहाँ आशोल्लास के संचार होने की व्यंजना करते हैं।

विशेषण-विपर्यय (Transferred Epithet) आदि पाश्चात्य अलंकारों द्वारा आधुनिक हिन्दी-कविता में नये-नये लाक्षणिक प्रयोग किये जा रहे हैं। ऐसे स्थलों में प्रायः साध्यवसाना लक्षणा कार्य करती है। सर्वप्रथम हम विशेषण-विपर्यय का ही उदाहरण लेते हैं। कभी-कभी किसी कथन को विशेष अर्थ-गर्भित करने के लिये विशेषण का विपर्यय कर दिया जाता है। अभिधाशक्ति से विशेषण का जो स्थान है, वहाँ से हटाकर लक्षणा द्वारा उसे अन्य स्थान पर प्रतिष्ठित कर देने से काव्य-सौंदर्य कभी-कभी द्विगुणित हो उठता है। काव्य में इस प्रकार के प्रयोग का नाम आंग्ल-अलंकार शास्त्र में विशेषण विपर्यय है। यथा—

थके हुए दिन के निराश भरे जीवन की। —लहर : प्रसाद।

तब शिथिल सुरभि से धरणी में।
बिछलन न हुई थी सच कहना।। —कामायनी : प्रसाद

बता कहां अब वह वंशीवट,
कहां गये नटनागर श्याम।
चल चरणों का व्याकुल पनघट,
कहाँ आज वह वृन्दाधाम।।

—परिमल : निराला।

किस विनोद की तृपित गोद में,
आज पोंछती वे दृग-नीर।

कहाँ छलकते अब वैसे ही,
ब्रज-नागरियों के गागर ॥
—परिमल : निराला

सुरीले ढीले अधरों बीच,
अधूरा उसका लचका गान।
—पल्लव : पंत।

बच्चों के तुतले भय सी। —पल्लव : पंत।
वदना के ही सुरीले हाथ से। —ग्रन्थि : पंत।

इन उदाहरणों में थका, शिथिल, व्याकुल, तृषित, सुरीले ढीले, लचक, तुतले और सुरीले विशेषण क्रमशः दिन, सुरभि, पनघट, गोद, अधरों, भय और हाथ के लिये प्रयुक्त हुये हैं, जब कि ये अन्य वस्तुओं के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं। विशेषण-विपर्यय के कारण शब्द के अर्थ में विशिष्ट चमत्कार आगया है। इस प्रकार के प्रयोगों से काव्य-सौंदर्य और मार्मिकता में वृद्धि होती है। इसी तरह करुण-भौंहें, तरल आकांक्षा, भीगीतान, गीलागान आदि में विशेषण-विपर्यय अलंकार है। इसके मूल में साध्यवसाना लक्षण का ही चमत्कार है।

पाश्चात्य अलंकारशास्त्र में एक उपलक्ष (Synecdoche) अलंकार होता है जिसमें अंश के लिये पूर्ण तथा पूर्ण के लिए अंश का प्रयोग होता है। जैसे—

(१) हैं कुपथ पर पाँव मेरे आज दुनिया की नजर में। —सोपान :बच्चन।
(२) जिसे चूम हँसती है दुनियाँ उसें देख मैं रोती हूँ। चक्रवाल : दिनकर।

(३) हाथ जो
चट्टान को
तोड़े नहीं
वह टूट जाये।
—युग की गंगा : केदारनाथ अग्रवाल

प्रथम दो उदाहरणों में 'दुनिया की नजर' और 'दुनिया हँसती है' ऐसा बोलने की रूढ़ि है। आधाराधेय भाव-सबंध द्वारा लक्षण से 'दुनियाँ का' अर्थ होता है दुनियाँ में रहने वाले। इस तरह इसकी अर्थ-बाधा मिट जाती है। इसी प्रकार तृतीय उदाहरण में हाथ चट्टान तोड़ने वाले व्यक्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है। व्यक्ति के लिये हाथ का प्रयोग है। अतः इन तीनों उदाहरणों में रूढ़ि लक्षणा है। रूढ़ि लक्षणा में रूढ़ि के कारण मुख्यार्थ को छोड़कर उससे संबंध रखने वाला अन्य अर्थ ग्रहण किया जाता है। जैसे 'पंजाब लड़ाका है।' पंजाब अर्थात् पंजाब प्रान्त लड़ाका नहीं हो सकता इसमें मुख्यार्थ की बाधा है। इसमें इसका लक्ष्यार्थ पंजाब प्रदेशवासी होता है; क्योंकि पंजाब से उसके निवासी का आधाराधेय-भाव-

सम्बन्ध है। यहाँ पंजाबियों के लिये पंजाब कहना रूढ़ि है। इसी प्रकार दुनियाँवालों के लिये दुनियाँ और व्यक्ति के लिये हाथ कहना रूढ़ि है।

आँग्ल-साहित्यशास्त्र में उपलक्ष (सिनेकडाकी) अलंकार से मिलता-जुलता एक अन्य अलंकार Metonymy (अर्थ के लिये धर्मी का प्रयोग) है जो लक्षणाश्रित है। आधुनिक हिन्दी–कविता में इस प्रकार बहुत से प्रयोग प्राप्त होते हैं। इनमें धर्म के स्थान पर धर्मी के प्रयोग से लाक्षणिक प्रयोग के चमत्कार के कारण काव्य–सौंदर्य बढ़ जाता है। ऐसे प्रयोगों में एक बात का ध्यान परमावश्यक है कि जिस धर्म या गुण के लिये जिस वस्तु का उल्लेख किया जाय, वह उसी धर्म व गुण के लिये प्रसिद्ध हो। ऐसा न होने से न तो गुण-धर्म की विशिष्टता ही व्यक्त होगी और न काव्य ही चमत्कृत होगा। इस प्रयोग में जितनी ही मार्मिकता से काम लिया जायेगा उतना ही उसका सफल प्रयोग समझा जायेगा। यथा—

उषा का था उर में आवास,
मुकुल का मुख में मृदुल विकास।
चाँदनी का स्वभाव में भास,
विचारों में बच्चों की साँस॥
—पल्लव : पंत।

उपर्युक्त उदाहरण का प्रथमचरण हृदय में हर्षातिरेक के लिये, द्वितीय सुंदर स्मित के लिये, तृतीय स्वभाव की निश्छलता के लिये और चतुर्थ विचारों की सरलता के लिये प्रयुक्त हुआ है। इनमें गुण या धर्म का उल्लेख न करके वस्तुओं का ही उल्लेख कर दिया गया है जो अपनी लाक्षणिकता से पूर्ण अर्थ बोध-कराते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों के लिये थोड़ा कल्पना से काम लेना पड़ता है, किन्तु दुरूहता का सामना नहीं करना पड़ता।

कहीं-कहीं पर अवश्य आधुनिक हिन्दी-कविता की लाक्षणिकता में दुरूहता आ गई है। जैसे प्रसाद जी की 'अभिलाषाओं की करवट फिर सुप्त व्यथा का जगना' में सुप्त व्यथाओं के जगने के समान अभिलाषाओं के जगने तक तो हम लक्ष्यार्थ को बोधगम्य बना सकते हैं और गुप्त जी की पंक्ति 'कैसी हिलती-डुलती हैं, कली तुम्हें खिलने की' में लक्ष्यार्थ से अभिलाषा के उठने तक का अभिप्राय समझा जा सकता है, किन्तु 'अभिलाषा का करवट बदलना' तो अत्यन्त दुरूह है। यह तो एक प्रकार की लक्षणा पर लक्षणा है, क्योंकि जगना तो एक लक्षणा है ही और दूसरी लक्षणा है करवट बदलना जो जगने का पूर्वलक्षण है। इस पर प्रकार की जटिल लक्षणाओं से कविता दुर्बोध हो जाती है। कभी-कभी इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग असम्बद्ध प्रलाप प्रतीत होते हैं। आधुनिक हिन्दी-कविता की लाक्षणिकता पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि "खड़ी बोली की कविता में उपमा, रूपक आदि के ढाँचे तो रहते थे; पर लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और भाषा की

विमुक्त स्वछन्द गति नहीं दिखायी पड़ती थी। अभिव्यंजनावाद के कारण योरोप के काव्यक्षेत्र की उत्पन्न वक्रोक्ति या वैचित्र्य की प्रवृत्ति, जो हिन्दी के वर्तमान काव्यक्षेत्र में आयी उससे खड़ी बोली की कविता की व्यंजना-प्रणाली में बहुत कुछ सजीवता तथा स्वच्छन्दता आयी। लक्षणाओं के अधिक प्रचार से काव्य-भाषा की व्यंजकता अवश्य बढ़ रही है।"

काव्य में मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ से इतर एक प्रमुख अर्थ को प्रकट करने वाली व्यापार व्यंजना-शक्ति है। कविराज विश्वनाथ ने कहा है कि अपना-अपना अर्थ-बोधन करके अभिधादिक वृत्तियों के शांत होने पर जिससे अन्य अर्थ का बोधन होता है, वह शब्द में तथा आर्थादिक में रहने वाली वृत्ति (शक्ति) व्यंजना कहलाती है।[1] मम्मटाचार्य ने व्यंजना की कोई निश्चित परिभाषा नहीं प्रस्तुत की है। वे व्यंजना के अभिधामूला तथा लक्षणामूला इन दो भेदों को अलग-अलग लेकर उनका स्वरूप निबद्ध किया है। अभिधामूला के विषय में आचार्य मम्मट का कहना है कि जहाँ संयोगादि अर्थ नियामकों के द्वारा शब्द की अभिधाशक्ति एक स्थल में नियंत्रित हो जाती है, पर फिर भी किसी मुख्यार्थ की प्रतीति हो ही जाती है, वहाँ अभिधामूला व्यंजना होती है[2]। लक्षणा के प्रयोजन के विषय में बतलाया है कि इस प्रयोजन की प्रतीति कराने में व्यंजना-व्यापार ही साधन होता है। जिस प्रयोजन या फल की प्रतीति के लिये प्रयोजनवती लक्षणा का प्रयोग किया जाता है, वहाँ व्यंजना से भिन्न और कोई शक्ति नहीं है, क्योंकि फल (प्रयोजन) की प्रतीति लक्ष्यार्थ के लिये प्रयुक्त शब्द से ही होती है[3]। इस प्रकार इन दोनों से व्यंजना का एक निश्चित रूप स्पष्ट हो जाता है। इनमें अभिधामूला शाब्दी व्यंजना के पन्द्रह, लक्षणामूला के बत्तीस और आर्थीव्यंजना के तीस भेद माने गये हैं।

व्यंजना ध्वनि का प्राण है। ध्वनिवादी रस-अलंकार आदि को भी ध्वनि के अन्तर्गत ही मानते हैं। अतः वस्तु, अलंकार और रस तीनों में ध्वनि होती है।

---

१ [illegible] मयार्थो बोध्यते परः ।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्यच ॥२।१२॥
--साहित्यदर्पण।

२ ...... यत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।
यस्य [illegible] लक्षणा समुपास्यते ।
फल शब्दैक गम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापराक्रिया ॥२।
—काव्यप्रकाश ।

३ अनेकार्थस्यशब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यै रवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥२।
—काव्यप्रकाश ।

उनके अनुसार तीन भेद होते हैं–१. वस्तु-ध्वनि, २. अलंकार-ध्वनि, ३. रसादि-ध्वनि। इनमें से वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि शब्द-शक्ति से उद्भूत ध्वनि हैं। रसादि-ध्वनि कभी शब्द या अर्थ की शक्ति से नहीं उत्पन्न होती; क्योंकि रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि स्वयं किसी भी शब्द या अर्थ से वाच्य नहीं होते; वे तो विभावादिकों से व्यक्त होते हैं। अतः रसादि ध्वनि सभी रसात्मक काव्य में अनिवार्यतः प्राप्त होती है। वस्तु-ध्वनि में अलंकार-रहित वस्तुध्वनित होती है और अलंकार ध्वनि वहाँ होती है जहां अलंकार शब्द या अर्थ में वाच्य नहीं प्रत्युत् व्यंग्य होते हैं अर्थात् वे वस्तु से ध्वनित होते हैं। वस्तु या अलंकार से जब व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण होता है, तभी अलंकार-ध्वनि उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ—

नीरव थी प्राणों की पुकार,
मूर्छित जीवन सर निस्तरंग नीहार घिर रहा था अपार।
निःस्तब्ध अलस बनकर सोयी चलती न रही चंचल बयार॥
पीता मन मुकुलित कञ्ज आप अपनी मधु बूँदें मधुर मौन।
निस्वन दिगन्त में रहे रुद्ध सहसा बोले मनु अरे कौन॥
—कामायनी।

यहाँ इड़ा को देखकर मनु की निस्तब्धता का वर्णन व्यंग्य द्वारा ही हुआ है। इस वर्णन में व्यंग्य द्वारा रूपक अलंकार की ध्वनि है। मनु के हृदयरूपी कमल के भीतर उनका मनरूपी मधुकर मकरन्द-रूपी भावनाओं का आनन्द ले रहा है। अलंकार-व्यंजना का इसी प्रकार का एक उदाहरण और देखिए—

अति मधुर गंधवह बहता,
परिमल बूँदों से सिंचित।
सुख स्पर्श कमल केशर का,
कर आया रज से रंजित॥
जैसे असंख्य मुकुलों का,
मादन विकास कर आया।
उनके अछूत अधरों का,
कितना चुम्बन भरलाया॥
—कामायनी।

यहाँ 'जैसे असंख्य मुकुलों का मादन विकास कर आया' इसमें उत्प्रेक्षा अलंकार वाच्यरूप में कहा गया है। यही उत्प्रेक्षालंकार पवन के ऊपर कामी नायक के व्यवहार के आरोप की व्यंजना कराता है। अतः यहाँ समासोक्ति अलंकार व्यंग्य है। इसी प्रकार अधोलिखित पद्य में शब्द शक्ति मूलाव्यंजना के द्वारा प्रस्तुत 'डाल' के साथ ही अप्रस्तुत 'पार्वती' की व्यंजना तथा उनका उपमानोपमेय भाव व्यक्त हो रहा है—

देख खड़ी करती तप अपलक,
हीरक-सी समीर-माला जप,
शैल-सुता अर्पण-अशना,
पल्लव वसना बनेगी,
वसन बासंती लेगी,
रूख री यह डाल, वसन बासंती लेगी ॥
—गीतिका : निराला ।

अत्यन्त तिरस्कृत अविवक्षित ध्वनि में मुख्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार हो जाता है । इसके मूल में लक्षणलक्षणा होती है । जैसे—

बाँधा है विधु को किसने इन काली जंजीरों से ?
मणि वाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से ?
—आँसू : प्रसाद ।

उपर्युक्त उद्धरण में विधु का अर्थ मुख और जंजीरों का लटें है । इन शब्दों का मुख्यार्थ सर्वथा तिरस्कृत है, यहाँ गुण या लक्षण-साम्य के कारण अन्य अर्थ ध्वनित होता है । अत: यहाँ पदगत अत्यन्त तिरस्कृत अविवक्षित काव्यध्वनि के साथ ही रूपातिशयोक्ति अलंकार भी है ।

जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग हो कि उस स्थान पर उनके अतिरिक्त अन्य पर्यायवाची शब्दों से व्यंग्यार्थ का बोधन हो वहाँ शब्दशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि होती है । यथा—

क्या कहती हो ठहरो नारी,
संकल्प—अश्रु जल से अपने ।
तुम दान कर चुकी पहले ही,
जीवन के सोने से सपने ॥
नारी तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत—नग—पग तर में ।
पीयूस—स्रोत सी बहा करो,
जीवन के सुंदर समतल में ॥
—कामायनी ।

इसमें नारी, सकल्प, दान आदि शब्दों से व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है; उनके पर्यायवाची शब्द स्त्री, विश्वास, देने आदि से ध्वनि नहीं निकल सकती; क्योंकि दान में संकल्प करने के समान ही नर की सहधर्मिणी नारी का आत्मसमर्पण-कार्य होता है । पर्यायवाची शब्दों से यह अर्थ—चमत्कार नहीं उत्पन्न हो सकता था । इसी उदाहरण में रूपक और उपमा व्यंग्य हैं जो नारी के आत्मोत्सर्ग, विश्वास, जीवन-दायिनी शक्ति आदि गुणों के महत्व को ध्वनित करते हैं । लज्जा कामायनी से कह

रही है कि तुमने पुरुष के सम्मुख द्रवित होकर आत्मोत्सर्ग तो पहले ही कर दिया है, अब उसके जीवन को सुख-शांति और आनन्द से पूर्ण बनाओ; यही तुम्हारे जीवन की सार्थकता है।

जहाँ वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर किसी पद की शक्ति द्वारा अलंकार का व्यंग्यार्थरूप में बोध होता हो, वहाँ पदगत शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम अलंकार ध्वनि होती है। यथा—

चढ़ मृत्यु–तरणि पर तूर्ण चरण
कह पितः पूर्ण आलोक वरण
करती हूँ मैं, यह नहीं मरण
'सरोज' का ज्योतिः शरण–तरण।
—निराला।

सरोज नामक लड़की क्षिप्र चरणों से मृत्यु की तरणि पर चढ़कर यह कहती हुई अपने जीवन का अवसान करती है कि—हे! पिता, मेरा यह मरण नहीं है; अपितु पूर्ण प्रकाश का वरण है। यह 'सरोज का ज्योति (प्रकाशपूर्ण ब्रह्म) की शरणागत होना है—यह तो मेरा तरण है, मरण नहीं। प्रस्तुत उद्धरण में 'सरोज' शब्द द्वारा यह व्यंग्यार्थ–बोध होता है कि सूर्य की किरणों से जीनेवाला सरोज (कमल) उस जीवन-दायिनी महाकिरणों में मिल जाय तो उसका यह मरण नहीं समझना चाहिये। उसी प्रकार परब्रह्म से उत्पन्न यह जीवात्मा उसी परम प्रकाशपूर्ण अपने ब्रह्म में विलीन हो गयी है। यहाँ व्यंग्यार्थ अपने वाच्यार्थ द्वारा दृष्टांत अलंकार के रूप में व्यक्त हो रहा है। इस दृष्टांत अलंकार का सूचक शब्द सरोज है। इस प्रकार उक्त उदाहरण में शब्द–शक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम दृष्टान्तालंकार ध्वनि है।

जहाँ किसी शब्द के पर्यायवाची रख देने पर भी अर्थ के कारण व्यंग्य होता है, वहाँ अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि होती है। इसके तीन भेद होते हैं– स्वतःसम्भवी, कवि प्रौढोक्तिमात्रसिद्धि और कविनिबद्ध पात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्धि। इन तीनों भेदों में कहीं वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ, दोनों ही वस्तुरूप या अलंकार रूप में होते हैं और कहीं दोनों में एक वस्तुरूप में होता है। इसलिये प्रत्येक के–वस्तुरूप से ध्वनि, वस्तु से अलंकार–ध्वनि, अलंकार से वस्तुध्वनि और अलंकार से अलंकार-ध्वनि–चार–चार भेद होते है तथा चारों प्रबन्धगत, वाक्यगत और पदगत के भेद से बारह–बारह हो जाते हैं। अधोलिखित अंश में प्रबन्धगत स्वतः सम्भवी अर्थशक्तिमूलक वस्तु अलंकार–ध्वनि देखिये—

रहिये–रहिये उचित नहीं उत्थान यह
देते हैं श्रीमान् किसे बहुमान यह!
मैं अनुगत हूँ, भूल पड़े कहिये कहाँ?
अपना मृगयावास समझ रहिये यहाँ।
कुशलमूल इस मधुर हास पर भूल सब,

वारूँ मैं निज नील-विपिन के फूल सब।
सहसा ऐसे अतिथि मिलेंगे कब किसे,
क्यों न कहूँ तो अहोभाग्य अपना इसे।
पाकर यह आनन्द-सम्मिलन-लीनता,
भूल रही है आज मुझे निज हीनता॥
—साकेत : मैथिलीशरण गुप्त।

भगवान राम का बन में आगमन सुनकर भक्तनिषाद उनके सम्मान में बहुत से उपहार लेकर मिलने आया। उसको आता हुआ देखकर भगवान राम ने स्वयं उठकर उसका सत्कार किया। इस पर निषाद कहता है कि भगवान आपका मेरे लिये उठना उचित नहीं है। आप यह बहुमान किसे प्रदान कर रहे हैं। आपके दर्शन प्राप्त कर मैं धन्य हो गया हूँ। आपके आगमन से जो परमानन्दोपलब्धि हुई है, उसमें मैं अपनी हीनता को आज भूल गया हूँ। यह स्वतः सम्भवी वस्तुरूप वाच्यार्थ है। इस वस्तुरूप वाच्यार्थ से यहाँ विषमालंकार व्यंग्य है। कहाँ मर्यादपुरुषोत्तम राम की महानता और कहाँ निषाद की तुच्छता। संपूर्ण प्रबन्ध से निषाद का यही भाव प्रकट हो रहा है कि दोनों का सम्मेलन सर्वथा विषम है। अतः यहाँ प्रबन्धगत स्वतःसम्भवी अर्थशक्तिमूलक वस्तु से विषमालंकार-ध्वनि है, यद्यपि कहीं भी शब्द या वाक्य से विषमालंकार व्यक्त नहीं है। इसी प्रकार निम्नांकित उद्धरण में प्रबन्धगत स्वतःसम्भवी अर्थशक्तिमूलक अलंकार से वस्तुव्यंग्य है—

बोली वह—'किंतु क्या यही है धर्म ?
पीड़ियों का पीड़न यही है कर्म ?
राक्षसों के गेह रही बद्ध श्री जनकजा,
तो भी नहीं राम ने उसे तजा'
उत्तर मिला—'आदि शक्ति' जानकी थीं आप,
कैसे उन्हें छूता पाप ?
आग में आँच उन्हें नेक नहीं आई थी;
बन्हि ने विशुद्धता बताई थी।'
सहसा सुभद्रा के प्रदीप्त नेत्र जल के
हो गए प्रपूरित अनल से !
सजला घटा में उठी विद्युदग्नि एक संग,
करके तिमिर भंग !
देख सके किन्तु न वे स्पष्ट उस अग्नि ओर,
दोषी चोर—

तुल्य निज नेत्र नत करके !
बोली यह वाणी में ज्वलंत रोष भरके—
अच्छी बात ! वैसी ही परीक्षा अभी दूंगी मैं,
पीछे नहीं हूँगी मैं—
मुझ पर जैसा क्रूर तुमने प्रहार किया,
नारकियों ने भी नहीं वैसा घोर प्रहार किया !
—अग्नि-परीक्षा : सियारामशरण गुप्त ।

इसमें दृष्टान्तालंकार है। इससे सुभद्रा का सतीत्व, सहिष्णुता और दीप्ति आदि गुण ध्वनित हैं जो स्वत:सम्भवी एवं वस्तुरूप हैं।

झर पड़ता जीवन-डाली से,
मैं पतझड़ का-सा जीर्ण प्रात।
केवल-केवल जग—आँगन में,
लाने फिर से मधु का प्रभात ॥
——उत्तरा : पंत।

इसमें उपमा और रूपक की संसृष्टि द्वारा—मरण नवजीवन जाता है, क्योंकि पुनर्जन्म होता है—यह वस्तुरूप व्यंग्य वाक्य से निकलता है। अत: यहाँ वाक्यगत स्वत:सम्भवी अर्थशक्तिमूलक अलंकार से वस्तुव्यंग्य है। इसी प्रकार—

प्रिय तुम भूले मैं क्या गाऊँ !
जुही-सुरभि की एक लहर से निशा बह गयी, डूबे तारे।
अश्रु-विन्दु में डूब-डूब कर दृग-तारे ये कभी न हारे ॥
——आधुनिक कवि : डा० रामकुमार वर्मा

इसमें व्यतिरेक अलंकार है; क्योंकि उपमानभूत आकाश के तारों से दृग के उपमेयभूत तारों में विशेषगुण का कथन है। इस अलंकार से यहाँ आराधक की वियोग-दशा तथा प्रेम का अतिरेकरूप वस्तु ध्वनित होती है। यह अलंकार-उद्भूत वस्तु-ध्वनन किसी एक पद द्वारा नहीं, अपितु सम्पूर्ण वाक्य द्वारा होता है। साथ ही आँसुओं में निरन्तर डूबते रहना और कभी हारना नहीं यह स्वाभाविक और लौकिक है। इसी तरह यहाँ वस्तु-ध्वनन अर्थ-शक्ति से ही होता है, शब्द-शक्ति से नहीं। अत: यहाँ भी वाक्यगत अलंकार से वस्तुव्यंग्य है। इसी प्रकार पदगत अलंकार से वस्तु-ध्वनि का प्रयोग देखिये—

"किस तापस की तपती हो तुम कन्या ?
मदन भस्म से रचित कौन हो धन्या ?
होम-शिखा-सम उजली कौन अनन्या ?"
—इलाचन्द्र जोशी।

यह पद्य बाणभट्ट रचित पद्य-काव्य 'कादम्बरी' की एक नायिका 'महाश्वेता' शीर्षक कविता का है। यहाँ होमशिखासम पदगत जो 'महाश्वेता' की उपमा है, उससे अग्नि-परितप्त-विशुद्धता, तेजोमयता, पवित्रता आदि वस्तुरूप व्यंग्य है।[1]" अतः यह पदगत अलंकार से वस्तुध्वनि का उदाहरण है।

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीपशिखा-सी शांत, भाव में लीन,
वह क्रूर-काल ताण्डव की [illegible],
वह टूटे तरु की छूटी लता-सी दीन,
दलित भारत की ही विधवा है।

—परिमल : निराला

प्रस्तुत पद्य में अनेक उपमाएँ हैं। सभी एक पदगत या अनेक पदगत हैं। प्रत्येक पदगत उपमा से पृथक-पृथक भारतीय विधवा की तेजस्विता, पवित्रता, दयनीयदशा रूप वस्तु की ध्वनि होती है। अतः इसमें कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से वस्तुध्वनि है। इसी प्रकार निम्नांकित कविता में प्रबन्धगत कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलंकार से वस्तुव्यंग्य दर्शनीय है—

सँसृति के विशाल मण्डप में यह भीषण विराट आयोजन,
समाधि बने हैं, आज राष्ट्र ये हिंसा का जल रहा हुताशन !
वसुन्धरा की महावेदिका धधक उठी है हवनकुंड बन !
पहन प्रौढ़ दुर्भेद्य लौह के वसन रक्तरंजित दानवगण !
मानव के शोणित का घृत ले नरमुण्डों के ले अक्षतकण !
विध्वंसों पर अट्टहास भर-भर कर-कर स्वाहा उच्चारण !
होम कर रहे लश्करों में लिये श्रुवा शस्त्रों के भीषण !
करता है साम्राज्यवाद का विजयघोष अम्बर में गर्जन !
तुमुल नादकारी विस्फोटक करते साम मन्त्र का गायन !
अग्नेयों का धूम पुञ्ज कर रहा निरन्तर गगन-विकम्पन !
अवभृथ इन्हें कराने आये क्यों न प्रलय हो सिन्धु लहरबन !

—राजसूययज्ञ : जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द'

इस प्रबन्ध के साङ्गरूपक अलंकार से विश्वव्यापी महायुद्ध की भयंकरता और योद्धाओं की तन्मयता वस्तु व्यंग्य है।

---

१. पं० रामदहिन मिश्र : काव्यालोक, पृ० २९७।

हँस देता जब प्रात सुनहरे अञ्चल में बिखरा रोली,
लहरों की बिछलन पर जब मचली पड़ती किरणें भोली।
तब कलियाँ चुपचाप उठाकर पल्लव के घूँघट सुकुमार,
छलकी पलकों से कहती हैं—कितना मादक है संसार ।।
—यामा : महादेवी वर्मा ।

इसमें प्रात:काल में कलियों का अपने कोमल घूँघट उठाकर खुली पलकों से संसार की मादकता आदि देखना कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्र और वस्तुरूप वाच्य है; क्योंकि जब कलियाँ प्रभात को हँसते और सुनहरे अञ्चल में रोली बिखराते हुए भोली किरणों को लहरों पर मचलती देखती हैं तो अपनी शालीनता को त्याग कर तुरन्त कह उठती हैं कि संसार कितना मादक है? इसमें कोई अलंकार नहीं वस्तु-कथन है, लेकिन वाच्यार्थ से काव्यलिंग अलंकार ध्वनित होता है; क्योंकि स्पष्ट-रूपेण प्रभात का हँसकर रोली बिखराना और किरणों का मचलन संसार की मादकता का ज्ञापन नहीं करता। अत: यहाँ वाक्यगत कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्धवस्तु से अलंकार व्यंग्य है। इसी प्रकार यशोधरा कहती हैं कि—

उनकी यह कुंज-कुटीर वही झड़ता उड़ अंशु-अबीर जहाँ,
अलि,कोकिल,कीर,शिखी सब हैं सुन चातक की रट पीय कहाँ।
अब भी सब साज-समाज वही, तब भी सब आज अनाथ यहाँ
सखि! जा पहुँचे सुध-संग कहीं यह अंध सुगंध समीर वहाँ ।।
यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त ।

यद्यपि सब साज-समाज वही है, तथापि आज सब अनाथ हैं। यहाँ बिना शब्द के न रहने पर भी वस्तु से (स्वामी के बिना) विनोक्ति अलंकार-ध्वनि है।

अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी ।।
—यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त ।

इसमें 'कुसुमादपि सुकुमारी' और 'वज्रादपि कठोर' दोनों प्रौढ़ उक्तियाँ कवि-निबद्ध-पात्र यशोधरा की हैं। उक्ति दोनों ही वस्तुरूप हैं। प्रौढोक्ति इसलिये है कि फूल से भी सुकुमार और वज्र से भी कठोर होना असम्भव है। अत: यहाँ पदगत कवि-निबद्ध-पात्र प्रौढोक्तिमात्र सिद्ध वस्तु से अतिशयोक्ति अलंकार व्यंग्य है। अब पदगत कवि-निबद्धपात्र-प्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध अलंकार से वस्तुध्वनि देखिये—

जीवन-निशीथ का अंधकार
भग रहा क्षितिज के अंचल में मुख आवृत कर तुमको निहार ।।
—कामायनी ।

यह इड़ा के प्रति मनु की उक्ति है। 'जीवन-निशीथ' के अंधकार का क्षितिज

में भागना कवि-निबद्ध-पात्र 'मनु' की प्रौढ़ोक्ति है। तुम्हारे (इड़ा) के दर्शन से जीवन-निशीथ का अंधकार अपना मुख ढककर क्षोभ के कारण भागा जा रहा है। इस वाच्यार्थ के मुख्य अंश 'जीवन-निशीथ पद में रूपक अलंकार है। इस रूपक द्वारा तुम्हारे दर्शन (ज्ञान-प्रसार) से हमारे अन्दर का घोर अंधकार (अज्ञानादि) भाग रहा है अर्थात् जीवन में कर्मण्यता आ रही है, यह वस्तु व्यंग्य से प्राप्त होती है। इसलिए यहाँ पदगत अलंकार से वस्तु व्यंग्य है।

मैं नीरभरी दुख की बदली।
विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना।
परिचय इतना इतिहास यहाँ,
उमड़ीकल थी मिट आज चली।
मैं नीर-भरी दुख की बदली॥

—यामा : महादेवी वर्मा।

मैं नीर-भरी दुख की बदली तो हूँ, किन्तु बदली सदृश मेरा भाग्य नहीं है। बदली को विस्तृत नभ में छा जाने का अवसर भी प्राप्त होता है, लेकिन मुझे तो इस घर के कोने में ही बैठकर अपने दुख के दिन व्यतीत करने पड़ते हैं। इस प्रकार उपमान से उपमेय की न्यूनता बतलाने से व्यतिरेक अलंकार स्पष्ट है। यहाँ बदली और विरहिणी की समानता न वाच्य है न लक्ष्य, अपितु व्यंग्य है। बदली आज उमड़ती और कल मिटती है, नीरभरी तो है ही; लेकिन विरहिणी जैसी नहीं। भले ही वह क्षणभर के लिये प्रसन्न होकर पुनः उदासीन हो जाती हो और आँसुओं से डबडबायी रहती हो। अतः समता की व्यंजना ही है जो संलक्ष्यक्रम है। इसी प्रकार समस्त गीत के वाच्यार्थ से करुण रस की भी व्यंजना होती है जो असंलक्ष्यक्रम है। अतः यहाँ एक व्यंजकानुप्रवेश संकर है। इसमें एक से अधिक ध्वनियाँ एक ही पद या वाक्य में होती हैं। इसका एक अन्य उदाहरण अधोलिखित है—

कहता जग दुख को प्यार न कर।
अनबिंधे मोती यह दृग के बँध पाये बंधन में किसके ?
पल-पल बिनते पल-पल मिटते तू निष्फल गुँथ-गुँथ हार न कर।
कहता जग दुख को प्यार न कर,

—यामा : महादेवी वर्मा।

प्रियतम के वियोग में दुखमय जीवन व्यतीत करने वाले प्रेमी की तन्मय आराधना का मर्म न समझने वाला कहता है कि तू दुःख को प्यार न कर। तू चाहता है कि अनबिंधे दृग के मोतियों का हार बनाकर प्रियतम के मिलने पर अपनी विरह-व्यथा का उपहार-रूप यह हार उनके गले में डाले, किन्तु तेरा यह व्यवहार नितांत

निरर्थक है; क्योंकि आँसुओं का हार बनाना असम्भव है, एतदर्थ व्यर्थ प्रयास है। उद्धरण के 'जग कहता है' इस वाक्य में जग का लक्ष्यार्थ होता है केवल आदान-प्रदान के व्यापार में लिप्त, प्रेमकला से अनभिज्ञ, हृदयहीन आदि। इससे प्रेमी की दृष्टि में जग की बातों का कोई मूल्य नहीं है। इस प्रकार यहाँ जग का यह व्यंग्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृतवाच्यध्वनि है। इस वर्णन से व्यतिरेकालंकार व्यंग्य है; क्योंकि यहाँ उपमेय आँसुओं के यथार्थ वर्णन से उनके हाररूप में बन जाने की असंभाव्यता और उपमान मोतियों की संभाव्यता द्योतित होने से उपमेय की अपेक्षा उपमान का ही उत्कर्ष ध्वनित है। फिर जिस वाक्य से व्यतिरेकालंकार का व्यंग्यबोध होता है, उसी से अत्यन्त दुख-सहिष्णुता और सततअश्रुवर्षणशीलता की भी व्यंजना है। इससे असंलक्ष्य-क्रम स्पष्ट होता है। फिर समस्त वाक्य से संलक्ष्यक्रमध्वनि द्वारा अर्थ से यह भी व्यंग्य होता है कि इस दुःख के आराधक को निरन्तर दुख का जीवन व्यतीत करते-करते उसी में अपने को डुबोये रखना अतिप्रिय हो गया है। अतः वह 'जग' की कही बातों को उपहासास्पद अपने कार्य को उचित तथा आवश्यक समझता है। अतः यहाँ असंलक्ष्यक्रम, संलक्ष्यक्रम, व्यतिरेक अलंकार आदि कई व्यंग्य एक साथ व्यक्त हैं। इससे यहाँ भी एकव्यंजकानुप्रवेश संकर है।

वाच्य की अपेक्षा गौण व्यंग्य को गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं। कहने का अभि-प्राय यह है कि जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से उत्तम न हो अर्थात् वाच्यार्थ के समान ही हो या न्यून हो उसे गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं। इसमें व्यंग्य गुणीभूत अर्थात् अप्रधान होता है।[1] मुख्य रूप से काव्य दो प्रकार का होता है—ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य।[2] ध्वनि उत्तमकोटि का काव्य होता है और गुणीभूत व्यंग्य मध्यम काव्य है। आचार्यों ने गुणीभूत होने के आठ कारण बतलाये हैं।[3] उदाहरणार्थ—

> बीती विभावरी जाग री,
> अम्बर-पनघट में डुबो रही।
> तारा घट ऊषा-नागरी॥

---

१. अपरं तु गुणीभूतव्यंग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यंग्ये॥
—साहित्यदर्पण, चतुर्थ परिच्छेद।

२. काव्यं ध्वनिर्गुणीभूत व्यग्यं चेति द्विधामतम्॥
—साहित्यदर्पण, चतुर्थ परिच्छेद।

३. तत्रस्यादितराङ्गं काक्वाक्षिप्तंच वाच्य सिद्ध्यङ्गम्॥ ४। १३॥
संदिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यमस्फुटमगूढम्।
व्यंग्यमसुन्दरमेवं भेदास्तस्योहिता अष्टौ॥ ४। १४॥
—साहित्यदर्पण।

खगकुल कुलकुल-सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भरलायी—
मधु मुकुल नवल रस-गागरी ॥

—लहर : प्रसाद ।

उपर्युक्त पद्य की द्वितीय तथा तृतीय पंक्तियों में रूपकालंकार है। ऊषा के द्वारा आकाशरूपी पनघट में ताराओं रूपी घड़ों का डुबाना वाच्यार्थ है। लक्ष्यार्थहोता है—ऊषा के आगमन से आकाश के तारों का लुप्त होते जाना और इसका जो व्यंग्यार्थ 'रात्रि का बीत जाना' है यह 'ऊषा' और उसके व्यापार से स्पष्ट है। 'बीती विभावरी' से तो वह और भी स्पष्ट हो जाता है। अत: यहाँ लक्षणामूलक अगूढ़व्यंग्य है। अंतिम दो पंक्तियों का वाच्यार्थ है—लतिका भी मुकुल की गागरी में मधु-रूप नवल रस भर लायी। यहाँ लतिका के द्वारा मुकुलों की गागरी में रस भर लाना नितान्त असम्भव होने के कारण वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार है। लक्ष्यार्थ होता है कलियों का खिलना और मकरन्द से परिपूर्ण होना। फिर इससे वस्तुरूप इस व्यंग्यार्थ का बोध होता है कि प्रभात हो गया। इसलिये यहाँ अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य गुणीभूत व्यंग्य है। अगूढ़ व्यंग्य होने का कारण यह है कि 'प्रभात हो गया' यह वस्तुरूप व्यंग्य पद्य की प्रथम पंक्ति से ही ज्ञात हो जाता है। निम्नलिखित पद्य भी गुणीभूत व्यंग्य का एक सुन्दर उदाहरण है—

जिस पर पाले का एक पर्त्त-सा छाया,
हत जिसकी पंकज-पंक्ति अचल-सी काया।
उस सरसी-सी आभरण-रहित सित-वसना,
सिहरे प्रभु माँ को देख, हुई जड़ रसना ॥

—साकेत : मैथिलीशरण गुप्त ।

प्रस्तुत पद्यांश की प्रथम तीन पंक्तियों द्वारा जो कौशल्या का वैधव्य अभिव्यंजित होता है, उसमें कोई सौंदर्य नहीं है, अपितु समस्त पद्य का अर्थचित्र उसमें अधिक सुन्दर है। अन्तिम पंक्ति के 'सिहरे' और 'जड़ रसना' के वाच्यार्थ में कौशल्या के वैधव्य का जो अतुल हाहाकार निहित है, वह तो बहुत ही सुन्दर है; क्योंकि उसके कारण भगवान राम जसे महापुरुष की रसना का जड़ हो जाना और शरीर का सिहर उठना साधारण बात नहीं है। अत: यहाँ गुणीभूत व्यंग्य तो है ही साथ ही कौशल्या की अवस्था की तुलना तुषार द्वारा हत श्री कमलिनीवाली सरसी से की गयी है। इसलिये व्यंग्य का अंग यहाँ उपमालंकार है। एतदर्थ यहाँ गुणीभूत व्यंग्य और उपमालंकार का मिश्रण है। इसी प्रकार—

निशा को धो देता राकेश,
चाँदनी में जब अलकें खोल।
कली से कहता था मधुमास,
बता दो मधुमदिरा का मोल ॥
—कामायनी।

इसमें प्रस्तुत राकेश-निशा तथा मधुमास-कली पर नायक-नायिकावाले अप्रस्तुत का व्यवहार समारोपण प्रतीत होता है। अतः यहाँ समासोक्ति अलंकार तथा गुणीभूत व्यंग्य है। यहाँ विशेष चमत्कार वाच्यार्थ में ही है।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में व्यंजना का भारतीय शैली में कोई पृथक् विवेचन तो नहीं मिलता, किन्तु यत्र-तत्र ग्रंथों में इस सम्बन्ध में विचार अवश्य प्राप्त होते हैं।[1] इंगलैण्ड के विख्यात मेधावी आलोचक रिचर्ड्स ने अपने 'प्रिंसिपल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' (काव्यालोचन के सिद्धान्त), 'मीनिंग आफ मीनिंग' (अर्थ का अर्थ), और 'प्रेक्टिकल क्रिटिसिज्म' (व्यावहारिक आलोचना) नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थों में व्यंजनाशक्ति के विषय में बहुत ही महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। रिचर्ड्स महोदय ने काव्य तथा विज्ञान का अन्तर स्पष्ट करते हुए भाषा के दो प्रकार के प्रयोग स्वीकार किये हैं। इन्हीं दो प्रयोगों को वैज्ञानिक तथा भावात्मक श्रेणियों में विभाजित करते हुए बतलाया है कि भाषा का वैज्ञानिक प्रयोग किसी सत्य अथवा असत्य संबंध का ज्ञान कराने के लिये किया जाता है, जिसे वह उत्पन्न करता है। भावात्मक प्रयोग उस संबंध से किसी मानसिक भाव की उद्भावना कराने के लिये होता है। "अनेक शब्दों का विधान, सम्बन्ध की आवश्यकता के बिना ही स्फूर्ति उत्पन्न करता है। ये शब्द संगीतात्मक शब्द-समूहों के सदृश कार्य करते हैं। लेकिन प्रायः ये सम्बन्ध, किसी विशेष प्रवृत्ति के विकास में परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं का कार्य करते हैं, फिर भी वह विशेष प्रकृति ही (उस प्रयोग में) महत्वपूर्ण है, ये संबंध नहीं। इस विषय में संबंध सत्य है या मिथ्या, इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। इसका एक मात्र कार्य उन प्रवृत्तियों को उत्पन्न करना तथा उनकी सहायता करना ही है। ये ही उसके अंतिम प्रतिपाद्य हैं।"[2] यहाँ रिचर्ड्स के मतानुसार काव्य में शब्द तथा अर्थ की इतनी महत्ता नहीं है,

---

१ व्यंजना को अंग्रेजी में 'सजेस्टिवनेस' (Suggestiveness) कहते हैं।

2 Many arrangements of words evoke attitudes without any reference required in route. They operate like musical phrases. But usually references are involved as conditions for or stages in, the ensuing development of attitudes, yet it is still the attitudes, not the references which are important. It matters not at all in such cases

जितनी शब्द तथा अर्थ द्वारा व्यंजित प्रवृत्ति (भावात्मक व्यंजना) की। उदाहरणार्थ 'यदि तुम किसी व्यक्ति को सुअर कहते हो, तो यह प्रयोग इसलिये हो सकता है कि उस व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ सुअर सदृश हैं। यह इसलिये है कि उस व्यक्ति के प्रति तुम्हारी भावना ठीक वैसी ही है, जैसे सुअर के प्रति अथवा तुम यथा संभव अपनी भावनाओं को उद्दीप्त करने के लिये ऐसा प्रयोग करते हो।'[1] इस कथन से स्पष्ट है कि लाक्षणिक प्रयोग का स्वयं इतना महत्व नहीं है जितना कि उन भावनाओं की व्यंजना का जो लाक्षणिक प्रयोग लक्ष्य हैं। लाक्षणिक प्रयोग तो भाव-व्यंजना का साधन मात्र हैं। इस प्रकार रिचर्ड्स ने काव्य के प्रतीयमान अर्थ अर्थात् ध्वनि (व्यंजना) की सत्ता-महत्ता की ओर संकेत किया है।

अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध कवि-आलोचक एबरक्राम्बी ने तो व्यंजना का सीधा प्रतिपादन किया है जो बिल्कुल भारतीय ढंग का है। उनका कहना है कि "साहित्य का कार्य है अनुभूति का प्रेषण—परन्तु अनुभूति भाषा में तो घटित होती नहीं। (अतएव) कवि की अनुभूति इस प्रकार की प्रतीक भाषा में अनूदित होनी चाहिए जिसका सहृदय फिर अपनी अनुभूति में अनुवाद कर सकें—दोनों अवस्थाओं में ही अनुभूति भावित तो होगी। × × × ×

× × इस प्रकार, अनुभूति जैसी अत्यंत तरल (परिवर्तनशील) वस्तु का अनुवाद भाषा में करना पड़ता है जिसकी शक्ति स्वभाव से ही अत्यंत सीमित है। अतएव काव्य-कला सदा ही किसी न किसी अंश, में ध्वनि-रूप होती है और काव्य कला का चरम उत्कर्ष है भाषा की इस व्यंजना शक्ति को अधिक से अधिक व्यापक, प्रभावपूर्ण, प्रत्यक्ष, स्पष्ट तथा सूक्ष्म बनाना। यह व्यंजना शक्ति भाषा की साधारण अर्थ-विधायिनी (अभिधा) शक्ति की सहायक होती है।

भाषा की इसी शक्ति का परिज्ञान कवि को सामान्य व्यक्ति से पृथक करता है। इसी व्यंजनावृत्ति के प्रति संवेदनशीलता सहृदय की पहचान है। (अतएव) कर्त्ता में प्रेरक, और भोक्ता में ग्राहक रूप से वर्तमान यही वह विशेषगुण है जिसे कि काव्य की आत्मा मानना चाहिए।'[2] पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के अलंकार-

---

whether the references are true or false. Thei sole function is to bring about and support the attitudes which are further response.

—Principles of Literary Criticism ch. X X X IV, P. 267—8.

1 If you call a man a swine, for example, it may be because his features resemble those of a pig, but it may be because you have towards him something of the feeling you conventionally have towards pigs, or because you propose, if possible, to excite those feelings.

—Practical Criticism.

२ डा० नगेन्द्र— 'ध्वन्यालोक' की भूमिका में उद्धृत, पृष्ठ बावन।

विधान में ध्वनि की स्वीकृति और भी प्रत्यक्ष है। हमारे यहाँ लक्षणा-व्यंजना को शब्द की शक्तियाँ मानकर उनके चमत्कार का पृथक् विवेचन किया गया है, परन्तु पश्चिम में उनके चमत्कार अलंकार रूप में ग्रहण किये गये हैं। उदाहरण के लिये वक्रतामूलक इनुएंडों और आयरनी में व्यंजना का प्रत्यक्ष आधार है। भारतीय काव्य-शास्त्र के अनुसार उनका समावेश अलंकारों के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता क्योंकि उनमें वाच्यार्थ का चमत्कार होता है। यू फ्यूमिज्म में कटुता को बचाने के लिये अप्रिय बात को प्रिय शब्दों में लपेटकर कहा जाता है—संस्कृत के पर्याय की भाँति उसका भी आधार निश्चय ही व्यंजना है।"[1]

किसी भी देश के सांस्कृतिक एवं साहित्यक विकास के साथ-साथ अर्थ में भी विकास होता रहता है। किसी देश के युग विशेष के साहित्य में जो शब्द उस समय व्यंजनापूर्ण थे, वे ही शब्द आगे आनेवाले साहित्यकार के लिये व्यंजना-वैभवहीन सिद्ध होते और तब नवीन साहित्यकार नये शब्दों को अभिनव अर्थवत्ता प्रदान करता है। इस प्रकार शब्द सर्वदा अपने प्राचीन व्यंग्यार्थ-वैभव को खोकर वाचक बनता रहता है, 'अज्ञेय' ने द्वितीय 'तारसप्तक' की भूमिका में इसी बात की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि "यह क्रिया भाषा में निरंतर होती रहती है और भाषा विकास की एक अनिवार्य क्रिया है। चमत्कार मरता रहता है और चमत्कारिक अर्थ अभिधेय बनता जाता है। यों कहें कि कविता की भाषा निरंतर गद्य की भाषा होती जाती है। इस प्रकार कवि के सामने हमेशा चमत्कार की सृष्टि की समस्या बनी रहती है। वह शब्दों को निरंतर नया संस्कार देता चलता है और वे संस्कार क्रमश: सार्वजनिक मानस में बैठ कर फिर ऐसे हो जाते हैं कि उस रूप में—कवि के काम के नहीं रहते। 'बासन को अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।'[2] × × × जब चमत्कारिक अर्थ मर जाता है और अभिधेयक बन जाता है तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है। उस अर्थ से रागात्मक संबंध नहीं स्थापित होता। कवि तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है जिससे पुन: राग का संचार हो, पुन: रागात्मक संबंध स्थापित हो।"[2] उदाहरणार्थ द्विवेदी युगीन कविता की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रियास्वरूप छायावाद का उद्‌भव हुआ। द्विवेदी-युग की कविता-शैली के विपरीत छायावादी कविता-शैली बहुत व्यंजनापूर्ण है। लेकिन 'छायावाद से आगे की नयी प्रयोगवादी कविता में व्यंजना का आधार और भी अनिवार्य हो गया है। प्रयोगवादी कवि ने जब शब्द में साधारण अर्थ से अधिक अर्थ भरना चाहा तो स्वभावत: ही उसे व्यंजना का आश्रय लेना पड़ा। वास्तव में इस नयी कविता की भाषा अत्यधिक सांकेतिक तथा प्रतीकात्मक है। यहाँ शब्द में इतना अधिक अर्थ भरने का प्रयत्न किया गया है कि उसकी व्यंजना-शक्ति जवाब दे जाती है—यह व्यंजना के साथ बलात्कार है।"[3]

---

१. डा० नगेन्द्र—'ध्वन्या लोक' की भूमिका, पृष्ठ तिरपन।

२. द्वितीय तारसप्तक (भूमिका) पृ० ११–१२।

३. डा० नगेन्द्र : हिन्दी ध्वन्यालोक की भूमिका पृ० ६८–६९।

९

आधुनिक अलंकृत उक्तियों में भाव और वस्तु-व्यंजना

काव्य में अलंकारों की स्थिति पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है।"[1] इसके अंतर्गत अभिव्यक्ति की प्रेषणीयता और प्रभावोत्पादकता दोनों ही विशेषताएँ आ जाती हैं। इस प्रकार अलंकार के दो कार्य हुए—भावोत्कर्ष-व्यंजना तथा वस्तुओं की रूपानुभूति, गुणानुभूति और क्रियानुभूति को तीव्र करना। प्राचीन आलंकारिकों ने अलंकारों को सामान्य भाषा से लोकोत्तर और विचित्र उक्ति माना है अर्थात् उन्होंने स्वाभाविक अलंकारों की अपेक्षा कृत्रिम अलंकारों को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया है; लेकिन जिस प्रकार अत्यधिक वस्त्राभूषणों द्वारा शरीर का स्वाभाविक सौंदर्य आवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार अस्वाभाविक और अनावश्यक अलंकारों की अतिशयता से भी भाषा एवं भावों का सहज सौंदर्य आच्छादित हो जाता है अर्थात् उसमें अलंकारों का प्राधान्य हो जाता है और अलंकार्य गौण; फलतः काव्य क्षीण हो जाता है। इसीलिये आचार्य विश्वनाथ ने अलंकारों को काव्य की आत्मा नहीं अपितु शब्द और अर्थ की शोभा में वृद्धि करनेवाला, उनका अस्थिर धर्म और रस, भावादि का उपकारक माना है।[2] और यह उचित भी है, क्योंकि काव्य में प्रधानता प्रस्तुत

---

१ गोस्वामी तुलसीदास, 'अलंकार–विधान' पृ० १४७।

२ शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥ साहित्यदर्पण—दशम्-परिच्छेद ॥१॥

की होती है, अप्रस्तुत की नहीं। मनुष्य शरीर और आत्मा से युक्त है। वह अपने शरीर को वस्त्रालंकारों से सुसज्जित करता है, किन्तु वस्त्रालंकार शरीर के बाह्य उपादान हैं। वस्त्रालंकारों के अभाव में जीवन सम्भव है, लेकिन शरीर के बिना चेतना और चेतना के बिना शरीर की स्थिति नहीं सम्भव है। इसी प्रकार अलंकारों के बिना भी काव्य-रचना हो सकती है, लेकिन शब्द और अर्थ के संयोगाभाव में काव्य का अस्तित्व असम्भव है। इस दृष्टि से काव्य की आत्मा (भाव) और शरीर (शब्द) दोनों ही आवश्यक तथा अन्योन्याश्रित दृष्टिगत होते हैं एवं अलंकार अनिवार्य नहीं, ऐच्छिक प्रतीत होते हैं, अर्थात् अलंकार काव्य के साधन हैं, साध्य नहीं।

आधुनिक कवि उक्त विचारधारा से पूर्णत: अवगत थे। उन्होंने अलंकारों का पर्याप्त प्रयोग किया है, किन्तु उनके अलंकार काव्य की प्रेषणीयता और प्रभविष्णुता में साधक हैं, बाधक नही। वे यह स्वीकार करते हैं कि भाव और भाषा की तरह अलंकारों के स्वरूप में भी परिवर्तन होता रहता है। विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति में अलंकारों का परम्परामुक्त नियम-पालन और उनका शुकवत् व्यवहार अवांछनीय अशोभनीय और अस्वाभाविक प्रतीत होता है। रीतिकालीन कविता की स्थूल अलंकार-प्रियता और एक ही प्रकार के प्रयोगों की अशोभन उद्धरणी के विरोध-स्वरूप छायावादी कविता का प्रादुर्भाव हुआ। पंत जी ने कहा है कि "और इनकी भाषालंकारिता ? जिसकी रंगीन डोरियों में वह कविता का हैंगिग-गार्डन—वह विश्व-वैचित्र्य झूलता है, जिसके हृत्पट पर वह चित्रित है ?—इन साहित्य के मालियों में से जिसकी विलास-बाटिका में भी आप प्रवेश करें, सब में वही अधिकतर कदली के स्तम्भ, कमल-नाल, दाड़िम के बीज, शुक, पिक, खन्जन, शंख, पद्म, सूर्य, सिंह, मृग चन्द्र, चार आँखें होना, कटाक्ष करना, आह छोड़ना, रोमाँचित होना, दूत भेजना, कराहना, मूर्छित होना, स्वप्न देखना, अभिसार करना;—बस इनके सिवा और कुछ नहीं ! भाव और भाषा का शुक-प्रयोग, राग और छन्दों की ऐसी एक स्वर रिम-झिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास एवं तुकों की ऐसी आश्रान्त उपल-वृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है ? घन की घहर, भेकी की भहर, झिल्ली की झहर, बिजली की बहर और मोर की कहर, समस्त संगीत तुक की एक ही नहर में बहा दिया। और बेचारे औपकायन की बेटी उपमा को तो बाँध ही दिया !—आँख की उपमा ? खन्जन, मृग, कन्ज, मीन इत्यादि; होठों की ? किसलय, प्रवाल, लाल, लाख इत्यादि और इन धुरन्धर साहित्याचार्यों की ! शुक, दादुर, ग्रामोफोन इत्यादि। ब्रजभाषा के उन्नत भाल में इन कविवरों की लालसा के सांप, इनकी उपमाओं के शाप-भ्रष्टनहुष, उसके कोमल पक्ष में इनके अत्याचार के नख-क्षत, उसके सुकुमार अंगों में इनकी वासना का, विरहाग्नि का असह्य ताप सदा के लिये बना ही रहेगा ! उसकी उदार छाती पर इन्होंने पहाड़ रख दिया ! ऐसा किमाकार-रूप उस युग के आदर्श ने ग्रहण किया कि यदि काल ही अगस्त्य की तरह उसका शिखर भू-लुण्ठित न कर देता तो उस

युग की उच्छृंखलता के विन्ध्य ने, मेरु का स्वरूप धारण करने की चेष्टा में हमारे 'सूर' 'शशि' की प्रभा को भी पास आने से रोक लिया होता !......यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि उस युग की वाणी में जो कुछ सुन्दर, सत्य तथा शाश्वत है उसका जीर्णोद्धार कर उस पर प्रकाश डाल, तथा उसे हिन्दी प्रेमियों के लिए सुलभ तथा सुगम बना, उसका घर-घर प्रचार करना चाहिये। जो ज्ञान-वृद्धि, वयोवृद्ध, काव्यमर्मज्ञ उस ओर झुके हैं उनके ऋण से हिन्दी कभी मुक्त न हो सकेगी।"[1] बँधे-बँधाये अलंकारों के प्रति विरोध की यह प्रवृत्ति सभी आधुनिक कवियों से परिलक्षित होती है।

भाषा में भावाभिव्यक्ति की क्षमता का आगमन तभी होता है, जब उसमें अनेक प्रकार के अलंकार मिल कर उसके अंग बन जाते हैं। इस प्रकार भावनाओं की सूक्ष्मता और संश्लिष्टता के साथ भाषा भी स्वत: अलंकृत और संश्लिष्ट हो जाती है। यही बात आधुनिक कविता विशेषरूप से छायावाद में दिखलाई पड़ती है। छायावादी कवियों ने एक नवीन भाषा का निर्माण किया है जिसमें भावों को व्यक्त करने की अधिक शक्ति है और जो भावों के सौंदर्य के कारण ही अधिक सुन्दर हो गई है। इसीलिए पंत जी ने स्पष्टरूपेण कहा है कि "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए ही नहीं वरन् भाव की अभिव्यक्ति के भी विशेष द्वार हैं, भाषा की पुष्टि के लिये, राग की पूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं। वे वाणी के आचार-व्यवहार, रीति-नीति हैं, पृथक स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न चित्र हैं।"[2] इस कथन का तात्पर्य है कि अलंकार काव्य के गुणरूप हैं, शरीर-स्थित आत्मारूप नहीं। इसीलिये छायावादी कविता रीतिकालीन आलंकारिक अतिशयता का प्रबल विरोध करते हुए भी काव्य-क्षेत्र से अलंकारों का सर्वथा बहिष्कार न कर सकी। उसमें व्यवहृत अलंकार ऊपर से पहनाये हुए परिधानवत् नहीं प्रतीत होते, अपितु काव्य-शरीर के अंगभूत दृष्टिगत होते है। काव्य में अलंकार–विधान की यही सच्ची सार्थकता है।

अब हम यहाँ यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि आधुनिक अलंकृत उक्तियाँ, भाव–व्यंजना और वस्तुओं के रूप, गुण तथा क्रिया का अनुभव तीव्र कराने में कहाँ तक सहायक होती हैं ?

अधोलिखित उद्धरण में तुलनात्मक प्रतिद्वन्द्विता द्वारा चमत्कार के साथ उर्मिला के करुण क्रंदन की भाव-व्यंजना भी बड़े सुन्दर ढंग से हुई है—

करुणे क्यों रोती है 'उत्तर' में और अधिक तू रोई।
मेरी विभूति है जो उसको 'भवभूति' क्यों कहे कोई ?

—साकेत : मैथिलीशरण गुप्त

---

१ 'पल्लव' की भूमिका पृ० ८–१०।
२ 'पल्लव' की भूमिका पृ० १९।

प्रस्तुत पंक्तियों में 'भवभूति' उनके 'उत्तररामचरित' और 'एको रसः करुण एव' ये तीनों समक्ष प्रस्तुत हो जाते हैं। उर्मिला के कारुणिक वर्णन में उत्तर और भवभूति शब्दों द्वारा करुणा-रस पूर्ण भूवभूतिकृत उत्तररामचरित नाटक की सूचना इससे की गयी है। इससे यह ज्ञात होता है कि इस सर्ग अर्थात् नवम् सर्ग में करुणरस का वर्णन उत्तररामचरित जैसा है। यहाँ मुद्रालंकार है। कवि को यह अभिप्रेत नहीं है कि ऐसी कोई कल्पना भी करे कि मैं और मेरा नवम् सर्ग भवभूति और उत्तररामचरित की समक्षता करने वाला है। कवि इस भावना को मन में लाकर उर्मिला के मुंह से कहलवाता है कि उत्तररामचरित में करुणा का अधिक क्रंदन है अर्थात् उसमें करुण रस का पूर्ण परिपाक है। किसी रोने वाले से पूछा जाय कि क्यों रोता है तो वह उत्तर नहीं देता है और रो उठता है। सहानु-भूति-प्रदर्शन से रोने वाले का बाँध टूट-सा जाता है। कवि के समक्ष रोने वाले का यही चित्र उपस्थित है।

उर्मिला की विभूति भिन्न प्रकार की है। उसमें प्रियानुराग की सूर्ति है। वह अलौकिक है। वह 'भव' अर्थात् 'संसार' की 'भूति' अर्थात 'संपत्ति' नहीं है। नवम् सर्ग की काव्यसंपत्ति भवभूति की काव्यसंपत्ति नहीं है। उर्मिला का करुण क्रंदन सीता के करुण क्रंदन से कुछ बढ़ा–चढ़ा है। कवि गुप्त की अपेक्षा कवि भव-भूति कुछ और हैं। यहाँ उर्मिला की उक्ति से यह स्पष्ट है कि तुलना करने वाले तुलना करें पर उर्मिला की उससे प्रतिद्वन्द्विता है।

> लिखकर लोहित लेख, डूब गया है दिन अहा।
> व्योम-सिंधु सखि देख, तारक बुदबुद दे रहा॥

—साकेत : मैथिलीशरण गुप्त

दिवसावसान में पश्चिम की ओर ललाई दौड़ जाती है और फिर आकाश में तारे दिखाई पड़ते हैं। दिन तो ललाई रूप में लोहित लेख लिख गया जो अंगार सा दाहक है। यह उर्मिला की मार्मिक पीड़ा का दाहक है। यहाँ रूपक करुणा के उत्कर्ष में सहायक है।

प्रसाद जी ने निम्नलिखित अंश में 'लज्जा' की अमूर्त्त भावना को व्यक्त करने के लिए अनेक मूर्त-अमूर्त्त प्रस्तुतों की योजना की है जिनसे काव्य में मूर्ति-मत्ता का विधान हुआ है और रंग, रूप, ध्वनि, स्पर्श, रसादि ऐन्द्रियिक धर्मों और उनके विषयों का सहृदय पाठक को प्रत्यक्षीकरण हुआ है—

> कोमल किसलय के अंचल में
> नन्हीं कलिका ज्यों छिपती—सी;
> गोधूली के धूमिल पट में
> दीपक के स्वर में दिपती—सी।

अपितु भावना और कल्पना के सम्यक् योग से ये सर्वथा अभिनव अप्रस्तुत स्वयं ही प्रस्तुत हो गए हैं। प्रसाद जी के एक और उदाहरण देखिये जिसमें संभावना अलंकार शरीर-सौंदर्य की मधुरता के उत्कर्ष-प्रदर्शन में सहायक हुआ है—

चंचला स्नान कर आवे,
चंद्रिका-पर्व में जैसी।
उस पावन तन की शोभा,
आलोक मधुर थी ऐसी॥
—आँसू।

निराला जी ने अन्योक्ति-पद्धति को अपनाते हुए लिखा है—

पहचाना—अब पहचाना—
हाँ, उस कानन में खिले हुए तुम
चूम रहे थे झूम—झूम
ऊषा के स्वर्ण कपोल,
अठखेलियाँ तुम्हारी प्यारी—प्यारी,—
व्यक्त इशारे से ही सारे बोल मधुर अनमोल।

* * *

तुम्हारा इतना हृदय,
वह क्या समझेगा माली निष्ठुर—
निरा गँवार,
स्वार्थ का मारा यहाँ भटकता,

* * *

तोड़ लिया लचकाई ज्योंहीं डाली॥
—परिमल : निराला।

इसमें फूल और माली शब्द सुन्दर स्त्री और उसके सौंदर्य को बुरी तरह दृष्टि से देखने वाले पुरुष की ओर संकेत है। पूरी कविता अन्योक्ति है। निराला जी की 'जलद के प्रति' माखनलाल चतुर्वेदी की 'फूल की चाह', प्रसाद की 'लहर' आदि कविताएँ इसी प्रकार की हैं जिनमें भावों के उत्कर्ष की व्यंजना बड़ी ही सफलता से हुई है।

पंत जी की कतिपय उपमाएँ देखिए जो भाव-व्यंजना में सहायक होने के लिये प्रयुक्त हुई हैं—

देश के इतिहास के से बहिन तुम
वृत्त कोरे गिन रही हो! ... ...

.........कृपण के से दान-सी
दैव से जब प्रेमिका मिली ।।

—ग्रंथी ।

भाग्यहीन नायक को दैव से प्रेमिका की प्राप्ति ठीक ऐसी ही थी जैसी कृपण से दान-प्राप्ति। इसके अतिरिक्त कुछ उपमाएँ ऐसी ही हैं जो प्रसंगानुकूल होने के कारण भाव-व्यंजना में एक प्रकार का चमत्कार उत्पन्न कर देती हैं—

अवनि के सुख बढ़ रहे थे दिवस–से —ग्रंथी ।

वसंत ऋतु में पृथ्वी का वैभव इस प्रकार बढ़ रहा था जैसे उसके दिवस–कितनी उपयुक्त उपमा है।

कहीं-कहीं उपमाओं की माला ही प्रस्तुत हो जाती है जिससे भाव-व्यंजना अधिक तीव्र हो जाती है—

जब अचानक अनिल की छवि में पला,
एक जल-कण जलद-शिशु-सा पलक पर ।
आ पड़ा सुकुमार-सा, गान-सा,
चाह-सा, सुधि-सा, सगुन-सा, स्वप्न-सा ।

—ग्रंथि

शिला अत्यन्त साधारण वस्तु है, किन्तु महादेवी ने साँसों में उसका भार भरकर उपमा द्वारा उसे अधिक अर्थवती बना दिया है—

बिखरती उर की तरी में,

आज तो हर साँस बनती शतशिला के भार-सी है।

—दीपशिखा ।

इसी प्रकार प्यार की उपमा बादल से देना कम अर्थमय नहीं है। यहाँ व्यथा की श्यामता, आँसू की सजलता, आवेग की घुमड़न, पीर की बिजली, जीवन की अस्थिरता; किन्तु परहित साधना में रत आदि सभी भाव व्यंजित हैं—

तड़ित है उपहार तेरा, बादलों-सा प्यार मेरा। —दीपशिखा ।

वेदना और स्वप्न की निराकारता को जल और शतदल की साकारता देने में तारल्य और सौकुमार्य के साथ-ही-साथ पावन जोरहार की पवित्रता भी व्यंजित है—

ले मिलेगा उर अंचचल; वेदना-जल, स्वप्न-शतदल। —दीखशिखा

इसी प्रकार रूपकालंकार अश्रुओं को वह रूप देता है जिससे हृदय की विह्वलता पराकाष्ठा को पहुँच जाती है—

तरल मोती से नयन भरे,
मानस से ले उठे स्नेह-घन कसक विद्युत्पलकों के हिमकन।
सुधि स्वाती की छांह पलक की सीपी में उतरे॥

—यामा : महादेवी।

महादेवी जी ने अपने प्रिय अलंकार समासोक्ति द्वारा भारतीय नारी की असहाय अवस्था का जो भावोत्तेजक चित्र खींचा है, वह दर्शनीय है—

जन्म से मृदु कंज-उर में
नित्य पाकर प्यार लालन
अनिल से चल पंख पर फिर
उड़ गया जब गंध उन्मन।
बन गया तब अपरिचित
हो गई कलिका विरानी
निठुर वह मेरी कहानी॥

—यामा

जिस घर में उसका लालन-पालन हुआ उसको छोड़कर चले जाने पर वह किस प्रकार बिरानी हो जाती है, वह वस्तुत: बड़ी निठुर कहानी है।

निम्नलिखित पंक्तियों में अन्योक्ति अलंकार द्वारा पूंजीपतियों का विनाश नहीं तो पूँजीवादिता का विनाश करके शोषितों के पनपने का अवसर दिया जाना चाहिए—इस भाव की व्यंजना की गई है—

बट की विशालता के नीचे जो अनेक वृक्ष,
ठिठुर रहे हैं उन्हें फैलने को वर दो।
रस सोखता है जो मही का भीमकाय वृक्ष,
उनकी शिरायें तोड़ो डालियाँ कतर दो॥

कुरुक्षेत्र : दिनकर

कहीं-कहीं पर आलंकारिक योजनाओं से भाव की व्यंजना और स्वरूप की स्पष्टता दोनों ही होती है। ऐसी योजनायें दोनों की विभूति–वृद्धि करती हैं। उदाहरणार्थ—

प्राण तुम्हारे मुख–पाटल से हिमकण जैसे कोमल।
ज्योत्स्ना जैसे चंचल परिमल से वे शब्द भरे थे॥

—चिंता : अज्ञेय।

इसमें रूपक-गर्भित उपमा है। रूपक ने उपमा के चित्र को पूर्णता प्रदान की है। इसमें उपमेय 'शब्द' अमूर्त्त है और इसके उपमान मूर्त्त हैं। पाटल से परिमल झड़ता है और मुख से शब्द। पाटल पर जो हिमकण संचित होते हैं वे आर्द्र तो होते

ही हैं कोमल भी होते हैं। शब्द भी श्रवण-सुखद तथा स्नेहार्द्र हैं। पाटल पर ज्योत्स्ना पड़ती है और उसके हिलने-डुलने से चंचल प्रतीत होती है। शब्द भी मानसिक अस्थिरता से चंचल है। इस प्रकार यहाँ के सभी उपमान जैसे अदृश्य शब्द के स्वरूप-बोध में समर्थ हैं वैसे ही भावक की गम्भीरता को भी व्यक्त करते हैं। शब्द स्वरूपवान नहीं हैं, फिर भी हम उसके स्वरूप और भाव को हृदयंगम कर मुग्ध हो जाते हैं।

बंधनों से मुक्ति ही क्या शक्ति का उपहास मेरा ?
विश्व के विश्वास पर है खड्ग-सा उपहास मेरा ।।
—रांगेय राघव

इसमें भाव यह है कि मेरा उपहास विश्व के विश्वास पर ऐसा प्रहार करता है कि जैसे तलवार चोट करती है। यहाँ पर खड्ग की उपमा से उपहास के असह्य होने की भावना को उत्कर्ष प्राप्त हुआ है।

विरोधाभास अलंकार भाव-व्यंजना की एक विशिष्ट प्रणाली है। आधुनिक कवियों ने इसका पर्याप्त प्रयोग किया है। लाक्षणिक या व्यंजक पदों द्वारा इसकी योजना की जाती है। उदाहरणार्थ—

शीतल ज्वाला जलती है, ईधन होता दृग-जलका ।।
—आँसू : प्रसाद।
अरी व्याधि की सूत्रधारिणी, अरी आधि मधुमय अभिशाप
—कामायनी : प्रसाद।

यहां शब्दों के कारण विरोध तो अवश्य प्रतीत होता है, किन्तु संश्लिष्ट एवं सूक्ष्म भावों के उत्कर्ष की व्यंजना बहुत हो चुकी है। प्रथम तो विरोध के कारण पाठक का ध्यान कविता की ओर आकृष्ट होता है, पर जब उसके अर्थ की ओर प्रवृत्त होता है तो विरोध केवल बाह्य प्रतीत होता है। ऊपर की कविता में 'शीतल ज्वाला' विरह की वेदना का प्रतीक है जो दुखद और सुखद दोनों है। इसी प्रकार उदाहरण में अभिशाप को 'मधुमय' कहकर चिंता की काम्यता की व्यंजना की गई है। निराला जी ने भी यत्र-तत्र इस पद्धति को अपनाया है—'किस विनोद की तृषित गोद में आज पोंछती वे दृग-नीर।' (परिमल)। 'विनोद' की गोद को तृषित कह-कवि ने उस विनोद के भीतर निहित तृषा अथवा अतृप्ति के तत्त्व का अन्तर्द्वन्द्व लक्षित कराया है। महादेवी जी भी कहती हैं—

नाश भी हूँ मैं अनन्त विकास का क्रम भी,
त्याग का दिन भी चरम आशक्ति का तम भी,
तार भी आघात भी, झंकार की गति भी,
पात्र भी, मधु भी, मधुपा भी, मधुर विस्मृतियाँ
अधर भी हूँ और स्मित की चाँदनी भी हूँ।
—यामा

इसमें आत्मा के लौकिक-अलौकिक यक्ष की व्यंजना का बोध हो जाने पर विरोध का शमन हो जाता है।

यह तो हुई आधुनिक अलंकृत उक्तियों में भाव-व्यंजना की बात। अब थोड़ा वस्तु-व्यंजना पर विचार करेंगे अर्थात् वस्तुओं के रूप-गुण और क्रिया के अनुभव को तीव्र कराने में आधुनिक आलंकारिक योजनायें कहाँ तक सहायक हुई हैं? यथा—

सब ने रानी की ओर अचानक देखा,
वैधव्य-तुषारावृत यथा विधुलेखा।
बैठी थी अचल तथापि असंख्य तरंगा,
अब वह सिंही थी हहा! गोमुखी गंगा॥
—साकेत : मैथिलीशरण गुप्त।

विधवा रानी कैकेयी तुषारावृत विधुलेखा-सी धुँधली पड़ गयी थी। कहाँ वह सिंही और कहाँ अब गोमुखी गंगा। यहाँ रूपक-गर्भित उपमालंकार रानी के रूपानुभव को तीव्र करने में सहायक हुआ है। प्रयुक्त अलंकार से रानी की दशा का ऐसा भव्य चित्रण हुआ है कि भाव में सजीवता आ गई है। इसी प्रकार निम्नोद्धृत अंश में उक्तविषयस्वरूपोत्प्रेक्षालंकार द्वारा श्रद्धा के स्वरूप-सौंदर्य की झाँकी देखिये—

नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघबन बीच गुलाबी रँग॥
—कामायनी।

यहाँ नील परिधान बीच से झाँकते अधखुले अंग की समानता मेघ-बन-बीच खिले गुलाबी रंग के बिजली के फूल से दी गयी है। इस अलंकार-योजना से श्रद्धा के रूपानुभाव में उत्कर्ष तो हुआ ही है साथ ही प्रभाव की गहराई है। इसी प्रकार श्रद्धा का केश-वर्णन दर्शनीय है—

घिर रहे थे घुँघराले बाल,
अंस अवलम्बित मुख के पास।
नील-घन शावक से सुकुमार,
सुधा भरने को विधु के पास॥
—कामायनी।

घनों के चाहे शावक न होते हों, पर श्रद्धा के केशों की समानता के लिये उन्हें लघुकाय शावक बनना पड़ा है। इस स्थल पर चन्द्रमा का परम्परित मुख-साम्य

भी नया जीवन पा गया है जिससे रूप का सर्वथा अभिनव सफल चित्रण हो गया है।

इसी प्रकार निम्नांकित पंक्तियों में उपमालंकार प्रलयकालीन सिंधु-लहरियों के रूपानुभव को तीव्र बनाता है—

उधर गरजती सिंधु-लहरियाँ,
कुटिल काल के जालों-सी ।
चली आ रहीं फेन उगलतीं,
फन फैलाये व्यालों-सी ।।
—कामायनी ।

यहाँ 'फन फैलाये व्यालों-सी' से लहरों की भयंकरता की भी तीव्रानुभूति होती है।

निराला जी अपने चित्रों की विराटता के लिये प्रसिद्ध हैं। उदाहरणार्थ भगवान राम युद्धस्थल से लौट रहे हैं। उनकी जटा खुलकर, बाहुओं, वक्ष और पीठपर फैल गई है तथा ज्योतिष्क नेत्र चमक रहे हैं। निराला जी राम के इस विराट रूप की उपमा उस पहाड़ से देते हैं जिस पर रात का अंधकार उतर चला है जिसके ऊपर दूर दो तारिकायें चमक रही हों—

दृढ़ जटा-मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल,
फैला पृष्ठपर, बाहुओं पर, वक्ष पर विपुल ।
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार,
चमकती तारायें ज्यों हों कहीं पार ।।
—अनामिका ।

इसमें प्रयुक्त उपमालंकार से राम-रूप की विराटता प्रत्यक्ष हो जाती है।

पंत जी ने 'नौका-बिहार' में चाँदनी-चर्चित लहरों का चित्रण इतने ब्यौरे के साथ लिखा है कि लहरों का गोचर प्रत्यक्षीकरण हो जाता है—

साड़ी की सिकुड़न-सी जिसपर,
शशि की रेशमी विभा से भर
सिमटी हैं वर्तुल मृदुल लहर।
फैले फूले जल में फेनिल ।।
—गुंजन ।

अब आधुनिक हिन्दी-कविता में आलंकारिक प्रयोगों को देखिये जिनमे गुणानुभव को उत्कृष्टता प्राप्त होती है। यथा—

अयोध्या के अजिर को व्योम जानो,
उदित जिसमें हुए सुरवैद्य मानो।
कमल दल से बिछाते भूमितल में,
गये दोनों विमाता के महल में ॥
—साकेत।

राजा दशरथ के दु:ख को दूर करने में राम ही एकमात्र सहायक हैं, इसको सुरवैद्य की उत्प्रेक्षा पुष्ट करती है और कमल-दल की उपमा राम-लक्ष्मण के चरण-कमल की कोमलता, सुंदरता तथा अरुणिमा के अनुभव को तीव्र बनाती है।

प्रसाद जी ने रूपक के रूप में अप्रस्तुत योजना द्वारा चिन्ता की प्रारम्भिक अवस्था की भीषणता का अनुभव बड़ी सफलतापूर्वक कराया है।

ओ चिंता की पहली रेखा,
अरी विश्व वन की व्याली।
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कम्प-सी मतवाली॥
हे अभाव की चपल बालिके,
रे ललाट की खल लेखा।
हरी-भरी-सी दौड़-धूप, ओ
जल-माया की चल-रेखा॥
—कामायनी

चिंता को सम्बोधित करता हुआ कवि कहता है कि तुम वैसी ही मतवाली हो जैसी ज्वालामुखी-विस्फोट के पूर्व भीषण कम्पन होती है। तात्पर्य यह है कि ज्वालामुखी के कंपन से यह निश्चय हो जाता है कि अब भीषण विस्फोट होगा और परिणामस्वरूप निकटवर्ती वस्तुएँ नष्ट भ्रष्ट हो जायेंगी, वैसे ही चिंता भी मस्तिष्क में प्रविष्ट होकर तन-मन घुलाती हुई भारी विपत्ति खड़ी कर देगी। यहाँ का उपमान भीषण प्रथम कंप उपमेय चिंता की उग्रशक्ति का द्योतन ही नहीं कराता अपितु उसकी उग्रता को और भी बढ़ा देता है। साथ ही चिंता को अभाव की चपल बालिका कहना भी सर्वथा सार्थक है। इसी प्रकार अधोलिखित अंश में अभिनव अप्रस्तुत योजना श्रद्धा के अंतरंग को मुग्धात्व, सलज्जता, नूतनता, मधुरता, निष्कलुषता, प्रकाशमयिता आदि गुणों के अनुभव को तीव्र करने में अत्यन्त सहायक है—

उषा की पहली लेखा कान्त,
माधुरी से भींगी भर मोद।
मद-भरी जैसे उठे सलज्ज,
भोर की तारक-द्युति की गोद।
—कामायनी।

पंत जी के नौका-बिहार के दर्शनीय शब्द-चित्र में उपमालंकार द्वारा लहरों पर बुझती हुई सांझ की अरुणिमा का बड़ा सुन्दर अनुभव होता है—

लहरों पर स्वर्ण-रेख सुन्दर, पड़ गई नील, ज्यों अधरों पर,
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर।

—गुंजन।

संध्या में पहले तो लालकिरणें सुनहली होकर पड़ती हैं और जब अंधकार का प्रसार होता है तो नीली पड़ने लगती हैं। शीतकाल में अरुण अधरों की ललाई शीत की प्रबलता से नीली पड़ जाती है। दोनों में एक सा व्यापार है। स्वभावत: ओठ जाड़े में नीले हो जाते हैं, फिर भी उसमें डरने की बात जोड़ कर कवि ने मणि काँचन संयोग प्रस्तुत कर दिया है।

वक्ष पर जिसके जल उड्गन बुझा देते असंख्य जीवन,
कनक और नीलम यानों पर दौड़ते जिस पर निशिवासर।
पिघल गिरि से विशाल बादल न कर सकते जिसको चंचल,
तड़ित की ज्वाला घन गर्जन जगा पाते न एक कंपन,
उसी नभ-सा क्या यह अविकार और परिवर्तन का आधार॥

—यामा : महादेवी।

जन्म, मृत्यु और जन्मान्तर से जकड़ा हुआ तथा अनेक परिवर्तनों का महा-पात्र आत्मा भी नि:संग आकाश के समान ही निर्विकार है। आत्मा की उपमा निर्विकार आत्मा से देकर कवियत्री ने आत्मा की निर्विकारता का गुण बहुत ही सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। प्रयुक्त उपमा द्वारा गुण के साथ-साथ स्वरूप-बोध भी होता है।

अधुनिक हिन्दी-कविता में क्रियानुभव को तीव्र कराने में सहायक अलंकारों के भी प्रयोग प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ—

उर्मिला भी कुछ लजाकर हँस पड़ी,
वह हँसी थी मोतियों की-सी लड़ी।

* * *

दम्पती चौंके, पवन-मण्डल हिला,
चंचला-सी छिटक छूटीं उर्मिला॥

—साकेत : मैथिलीशरण गुप्त

मोतियों की लड़ी-सी जो उपमा है वह हँसने की क्रिया को जैसे तीव्रता प्रदान करती है, वैसे ही उज्ज्वलता, दिव्यता और सुन्दरता की अनुभूति को भी तीव्र करती है। लक्ष्मण के क्रोड़ से उर्मिला के छिटक छूटने की क्रिया में जो तीव्रता है उसको भी चंचला की उपमा तीव्रतर कर देती है।

उषा सुनहले तीर बरसती,
जयलक्ष्मी-सी उदित हुई।
उधर पराजित काल-रात्रि भी
जल में अन्तर्निहित हुई ।।
—कामायनी : जयशंकर प्रसाद

यहाँ के रूपक और उपमा ऊषा की तीव्रता का अनुभव कराने में सहायक हैं। ऊषा के सुनहरे तीरों के भय से कालरात्रि भागकर छिप गई है।

बाल रजनी-सी अलक थी डोलती,
भ्रमित-सी शशि के बदन के बीच में।
अचल रेखांकित कभी थी कर रही—
प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में ।।
—ग्रंथि : सुमित्रानन्दन पंत

यहाँ अलक डोलने की क्रिया की अत्यन्त तीव्रानुभूति रेखांकित की उत्प्रेक्षा हो रही है।

आधुनिक हिन्दी-कविता में भारतीय अलंकारों के अतिरिक्त पाश्चात्य अलंकार भी व्यवहृत हुए हैं। उनमें सबसे महत्वपूर्ण मानवीकरण, विशेषण विपर्यय और ध्वन्यर्थ व्यंजना हैं। ये अलंकार भी भावाभिव्यंजन और वस्तुव्यंजना में पर्याप्त सहायक हुए हैं।

शब्दों के प्रयोग द्वारा अर्थ को व्यक्त कर देना मात्र काव्य नहीं है। कवि अर्थ ग्रहण नहीं करता, वह तो चित्ररूप में वर्ण्यवस्तु का प्रत्यक्षीकरण करता है, अर्थात् शब्दों के माध्यम से चित्र योजना करता है जिसका पाठक द्वारा बिम्ब ग्रहण होता है। बिम्ब ग्रहण के लिये चित्र का संश्लिष्ट होना आवश्यक है। संश्लिष्ट चित्रण से केवल आलम्बन के बाह्यरूप या अवयवों का ही चित्र परिस्फुट नहीं होता अपितु भाव के ठहरने के लिये भी अवसर प्राप्त होता है। रेखाचित्र, खंडचित्र और छायाचित्र में वह प्रभावान्विति नहीं होती जो संश्लिष्ट चित्रों में होती है। आधुनिक हिन्दी-कविता में इस प्रकार के संश्लिष्ट चित्रों का चित्रण अधिकतर मानवीकरण अलंकार द्वारा हुआ है। चित्रमयी भाषा में प्रस्तुतों और अप्रस्तुतों की मूर्ति चित्रित करने के प्रयत्न में मानवीकरण का विधान स्वयंमेव हो गया है। रस-सिद्धान्त की दृष्टि से निर्जीव प्राकृतिक वस्तुओं में रतिभाव का चित्रण रसाभास माना जाता है, किन्तु इस युग में निर्जीव और निरीन्द्रिय पदार्थों में चेतना का आरोप करके मानवीकरण किया गया है। आधुनिक कवियों में निराला जी ने जो चित्र दिये हैं वे अधिकतर संश्लिष्ट, संतुलित तथा सामंजस्य और सौष्ठवपूर्ण हैं। इन गुणों के अतिरिक्त उनमें क्रमबद्धता और अखण्डता भी दृष्टिगत होती है। उदाहरणार्थ निराला जी ने

उषा के संधिकाल का एक सर्वाङ्गपूर्ण चित्र अंकित किया है जिसमें रात्रि का नायिका के रूप में मानवीकरण किया गया है—

(प्रिय) यामिनी जागी !
अलस पंकज-दृग, अरुण मुख, तरुण अनुरागी !
खुले केश अशेष शोभा भर रहे,
पृष्ठ-ग्रीवा-बाहु-उर पर तिर रहे,
बादलों में घिर अपर दिनकर रहे,
ज्योति की तन्वी, तड़ित द्युति ने क्षमा माँगी !
हेर उर-पट फेर मुख के बाल
लख चतुर्दिक चली मंद मराल
गेह में प्रिय स्नेह की जयमाल
वासना की मुक्ति, मुक्ता त्याग में तागी !
—गीतिका : निराला ।

यह सोकर उठी हुई अस्तव्यस्त युवती का स्वाभाविक और संश्लिष्ट चित्र है। इसमें वेशभूषा और वाह्यकृति के साथ वातावरण और आँगिक चेष्टाओं का चित्र भी बड़ी बारीकी के साथ अंकित किया गया है।

इसी प्रकार महादेवी जी कहती हैं—

रूपसि ! तेरा घन-केशपाश !
श्यामल–श्यामल, कोमल–कोमल,
लहराता सुरभित केशपाश ॥
—यामा ।

वर्मा जी रात्रि का मानवीकरण करते हुए कहते हैं—

इस सोते संसार-बीच, जगकर सजनी रजनी बाले।
कहाँ बेचने ले जाती हो ये गजरों तारे वाले ॥
—आधुनिक कवि : डा० रामकुमार वर्मा ।

रामधारी सिंह 'दिनकर' ने विजय का मानवीकरण करते हुये लिखा है—

आर्य विजय ! रुधिर से क्लिन्न वसन है तेरा,
यम–दृष्टा से क्या भिन्न दसन है तेरा ?

लपटों की झालर झलक रही अंचल में,
है धुआँ ध्वंस का भरा कृष्ण कुंतल में।

ओ कुरुक्षेत्र की सर्वग्रासिनी व्याली,
मुख से तो ले पोंछ रुधिर की लाली।

तू जिसे वरण करने के हेतु विकल है,
वह खोज रहा कुछ और सुधामय फल है।
—कुरुक्षेत्र : दिनकर।

इसी प्रकार गिरिजाकुमार माथुर ने भी नारी-रूप में वर्षा का मानवीकरण करते हुए बड़ा ही रम्य चित्र प्रस्तुत किया है—

आई बरसात आज !
गीली अलकों से वारि बूंदें चुआती हुई,
झीनी झोलियों से मुक्त मुक्ता लुटाती हुई,
कोयल-सा श्यामल स्वर
भीगी अमराई से आता है पल-पल पर,
सुरमीली आँखों को ढाँक रही श्याम अलक,
साँवली बदलियों का उठाना-सा घूंघट पट,
छिपाता-सा इन्दु बदन जाता है झलक-झलक
उठती नत चितवन जब हलकी-सी विद्युत बन।
—गिरिजाकुमार माथुर।

इस प्रकार के मानवीकृत चित्र बिम्बग्रहण में बहुत सहायक होते हैं। आधुनिक कवियों ने प्राकृतिक वस्तुओं के अतिरिक्त मनोवृत्तियों को भी सजीवता प्रदान कर मूर्त्तरूप में चित्रित किया है, यथा कामायनी के सभी पात्र मनोवृत्तियों के मानवीकृत रूप ही हैं। 'लज्जा' सर्ग में लज्जा का मानवीकृत रूप चित्रित करते हुए कवि ने कहा है—

वैसी ही माया में लिपटी,
अधरों पर अँगुली धरे हुए।
माधव के सरस कुतूहल का,
आँखों में पानी भरे हुये॥
नीरव निशीथ में लतिका-सी,
तुम कौन आ रही हो बढ़ती ?
कोमल बाँहें फैलाती-सी,
आलिंगन का जादू पढ़ती॥
—कामायनी : प्रसाद।

मानवीकरण अलंकार की तरह ही विशेषण विपर्यय भी आधुनिक कवियों का एक प्रिय अलंकार है। भारतीय काव्यशास्त्रियों की दृष्टि से यह लक्षणा-शक्ति के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाता है, किन्तु अँग्रेजी में यह एक अलंकार है; अतः अलंकार-रूप में ही इस पर विचार करना उचित है। विशेषण-विपर्यय आधुनिक

हिन्दी-कविता की एक विशेषता है। इस प्रकार के लाक्षणिक विशेषणों से भाव-व्यंजना और चित्रात्मकता में पर्याप्त सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ—

इन ललचायी पलकों पर पहरा था जब व्रीड़ा का।

—यामा : महादेवी वर्मा।

एक दुःखान्त कथा कहती थी निज प्यासे आँखों से काया।

—मधूलिका : रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'।

प्रथम उदाहरण में पलकें उठ नहीं पातीं। आँखें लज्जा के कारण झुकी हुई होने से इधर-उधर देख नहीं सकतीं हैं। इच्छा तो देखने की है, पर कड़े पहरे के कारण देख नहीं पातीं। ऐसी स्थिति में ललचाई विशेषण पलकों की वह अवस्था प्रकट कर देता है जिससे उनकी विकलता नेत्रों के समक्ष खड़ी हो जाती है। द्वितीय उदाहरण में अङ्ग प्यासे तो नहीं होते, किन्तु उनकी तृष्णाएँ होती है। मुख की इच्छा स्वादिष्ट भोजन करने की होती है, नासिका के सुगन्धित वस्तु की चाह होती है, कान मधुर शब्द श्रवण करना चाहते हैं और नेत्रों की इच्छा सुन्दर वस्तुओं के देखने की होती है। ऐसे ही अन्य अङ्ग भी स्वेच्छापूर्ति के इच्छुक होते हैं। इनकी ये कामनाएँ ही तो प्यास हैं। तृष्णार्त जल पीना चाहता है, वैसे ही अपनी इच्छा रखने वाले अङ्ग भी तृष्णार्त है। यही तृष्णा प्रकट करने वाला अङ्गों का प्यासा विशेषण है। यहाँ प्यासे विशेषण से प्यासे की विह्वलता का रूप प्रस्तुत हो जाता है। इसी प्रकार के विशेषण-विपर्यय के प्रयोग प्रसाद जी ने भी किये हैं। यथा—

उधर उपेक्षामय यौवन का बहता भीतर मधुमय स्रोत।

—कामायनी : प्रसाद।

स्रोत का अर्थ है धारा। यहां स्रोत का अर्थ होता है गति। वह तो मधुमय होता नहीं। यौवनकाल में माधुर्य की प्रबलता होती है। सुख के स्वप्न बहुत दिखलाई पड़ते हैं। इच्छायें भी रंगीन हो जाती हैं। तात्पर्य यह है कि प्रबल यौवनकाल माधुर्य रस से ओतप्रोत रहता है। इसी भाव को मधुमय विशेषण व्यक्त करता है।

इसी प्रकार अलसाई छाँह, विस्मित अधर, अधखिले भाव, करुण भौंहें, तरल आकांक्षा, भीगीतान, गीलागान, लचकागान, सुरीले-ठीले अधर, तुतलाभय आदि में विशेषण-विपर्यय अलंकार का ही चमत्कार दिखाई पड़ता है। प्रसाद, निराला, पंत आदि के काव्य में इस प्रकार के पुष्कल प्रयोग प्राप्त होते हैं। ऐसे विशेषणों से भाव-व्यंजना, चित्रमयता और स्वरूपाधयकत्व में पर्याप्त सहायता मिलती है। इस प्रकार के प्रयोग से वर्ण्य-विषय के चित्र की एक झलक प्राप्त हो जाती है।

ध्वन्यात्मकता शब्द का गुण है। अँग्रेजी में ध्वन्यर्थव्यंजना अलंकार-रूप में प्रयुक्त होता है। जिस प्रकार कवि शब्दों द्वारा किसी वस्तु के रूप, गुण और क्रिया को प्रकट करते हैं, उसी प्रकार शब्दों द्वारा वस्तु की ध्वनि को भी व्यक्त करते हैं। भावानुरूप वर्ण संगीत या ध्वन्यात्मकता निराला जी की कविता में प्रचुरता से प्राप्त होती है—

कण-कण कर कंकण, प्रिय
किण-किण रव किंकिणी,
रणन-रणन नूपुर उर-लाज,
लौट रंकिणी;
और मुखर पायल स्वर करे बार बार !
--गीतिका : निराला।

इस ण और र वर्णों के योग और आवृत्ति से आभूषणों की झनकार ध्वनित होती है। इसी प्रकार का एक उदाहरण और देखिये—

भेरी झरर झरर दमाये,
घोर नकारों की है चोप।
कड़-कड़-कड़, सन-सन बंदूकें,
अररर अररर अररर तोप,

* * *

आग उगलती दहक-दहक दह
कँपा रही भू-नभ के छोर !
—नाचे उस पर श्यामा : निराला।

इसमें भेरी, बन्दूक और तोप की आवाजों का अनुकरण करके शब्द गढ़े गये हैं, अतः वर्णों की आवृत्ति सहज ही हो गयी है।

प्रभावान्विति के लिए शब्दों के दुहरे प्रयोग द्वारा भी वर्ण-संगीत की सुंदर योजना की गई है—

वन वन उपवन
छाया उन्मन-उन्मन गुंजन
नव वय के अलियों से गुंजन।
अथवा
चमक-झनकमय मंत्र वशीकर
छहर–छहरमय विष–सीकर !
—पल्लव : सुमित्रानन्दन पंत।

यहाँ वर्णों की आवृत्ति से ही भ्रमर की गुंजार और वर्षा की झमझम ध्वनि निकल रही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भावों के उत्कर्ष-प्रदर्शन और वस्तुओं के रूप, गुण, क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में आधुनिक अलंकृत उक्तियाँ पर्याप्त सहायक हुई हैं।

१०

उपसंहार

पिछले अध्यायों में हमने आधुनिक हिन्दी-काव्य में अलंकार-विधान के अध्ययन का प्रयास किया है। हमने आधुनिक अलंकार-विधान की प्रमुख प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि में कौन-सी विचारधारा कार्य कर रही है, इस ओर भी यथास्थान संकेत करने का प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त हमने यह भी समझने की चेष्टा की है कि आलोच्यकाल की आलंकारिक योजनाएँ किस प्रकार से अपने पूर्वकाल की अलंकार-योजनाओं से भिन्न हैं ? यह भिन्नता बहुत कुछ पाश्चात्य-साहित्य के सम्पर्क के परिणामस्वरूप हुई है। परम्परा से मुक्त होकर इस नवीन प्रभाव-ग्रहण के कारण आधुनिक हिन्दी-कविता में नवीन किन्तु आकर्षक-अनाकर्षक सभी प्रकार का अलंकार-विधान प्राप्त होता है।

आधुनिक हिन्दी-काव्य के अलंकार-विधान में नवीनता का पर्याप्त आग्रह परिलक्षित होता है। छायावादी कवि सर्वदा नवीन उपमानों के लिए प्रयत्नशील रहा है, और जहाँ कहीं भी उसने प्राचीन उपमानों का व्यवहार किया है, वहाँ उसने उन्हें अभिनव अर्थ-दीप्ति से अलंकृत किया है। छायावादी युग के औपम्यविधान की प्रमुख विशेषताएँ हैं—मूर्त्त की अमूर्तोपमा और अमूर्त की मूर्तोपमा। इन विशेषताओं के अतिरिक्त इस युग की उपमान-योजना में लाक्षणिकता का भी प्राचुर्य हैं, इसीलिए अनेक आलोचकों ने इसे लक्षणा-काव्य की संज्ञा प्रदान की है। छायावादी कवियों ने अपने अप्रस्तुत-विधान में प्रभाव-साम्य को सर्वाधिक महत्व प्रदान कर अधिकांश अप्रस्तुत प्रकृति के उपकरणों से ही प्राप्त किये हैं और इस प्रकार जड़ से चेतन का साम्य प्रदर्शित कर चेतनता को और अधिक तीव्र किया है। छायावादी कवि अन्त-र्मुखी होने के कारण उसने वस्तु के सूक्ष्म अंतरङ्ग को ग्रहण कर उपमान-योजना का प्रयास किया है, किन्तु अन्तर्मुखी कवि के सूक्ष्म का इतना आधिक्य हुआ कि प्रतिक्रिया स्वरूप कवि वहिर्मुखी होकर स्थूल-चित्रण की ओर अग्रसर हुआ।

जिस प्रकार द्विवेदीयुगीन स्थूल के प्रति सूक्ष्म ने विद्रोह किया और परिणाम-

स्वरूप छायावाद का जन्म हुआ, उसी प्रकार छायावादी सूक्ष्म के प्रति स्थूल ने विद्रोह किया और प्रतिक्रियास्वरूप प्रगतिवाद का उद्भव हुआ। प्रगतिवाद छायावाद के विरोध में उठा, अतः छायावादी अमूर्तवायवी उपमान योजना के स्थान पर स्थूल, मांसल उपमान लाये गये और सुन्दर, विशेष तथा कोमल की जगह कुरूप, सामान्य एवं परुषविधान किये गए। इसके अतिरिक्त छायावाद के अधिकांश उपमान जहाँ प्रकृति के क्षेत्र से होते थे, वहाँ प्रगतिवादी उपमान समाज से संबद्ध होने लगे।

प्रयोगवादियों की नवीन अर्थात् असाधारण स्पृहा ने भी नये-नये उपमानों की योजना की, किन्तु जब प्रस्तुत की अनुरूपता का ध्यान न कर अप्रस्तुत योजना की जाती है, तब उसमें प्रेषणीयता या भावबोध की क्षमता नहीं होती और प्रयोग-वादियों ने प्रायः यही किया है। अतः उनके औपम्यविधान में नवीनता तो है, किन्तु सहृदय-हृदय के लिये सौन्दर्य-विधान करने में सक्षम नहीं है। इसका कारण है इनमें बौद्धिकता का अत्यधिक आग्रह और सहृदयता की उपेक्षा।

उपमान-योजना ही आगे चल कर प्रतीक-विधान करती है। छायावादी कवियों ने उपमान-विधान की भाँति परम्परागत प्रतीकों को न ग्रहण कर नये-नये प्रतीकों का प्रयोग प्रारम्भ किया। नये प्रतीकों की कोई परम्परा न होने के कारण आरम्भ में इन्हें समझने में लोगों को कठिनाई हुई, लेकिन प्रयोग की पुनरावृत्ति प्रसंगानुकूल की सहायता से वे रूढ़ बनने लगे। शनैः शनैः युग की सामान्य भावधारा तथा सामाजिक चेतना द्वारा ऐसा वातावरण बन गया कि वे प्रतीक सामान्य लोगों के राग-बोध के अङ्ग बन गये। इस प्रकार छायावाद ने नये प्रतीकों की सृष्टि कर पूर्ण परिचित वस्तुओं में नवीन अर्थवत्ता भर दी और उन्हें पूर्व प्रचलित अर्थ में से विशेष अर्थ के लिये रूढ़ कर दिया। छायावादी कवियों ने प्राचीन प्रतीकों का भी प्रयोग किया है; किन्तु नये अर्थ में। उन्होंने अपने युगानुकूल इनके अर्थ में परिवर्तन कर दिया है। इस प्रकार छायावादी कवियों ने सौन्दर्यमय प्रतीक-योजना द्वारा भावाभिव्यक्ति को मूर्तता, चित्रात्मकता एवं तीव्रता देने का अभिनव सफल प्रयास किया है।

छायावाद के रोमांसवादी प्रतीकों और बिम्बों के विरोधी प्रगतिवादी कवियों ने अपनी कविता की वाणी को आधुनिक वातावरण के अनुकूल बनाने के लिए अधिकांश प्रतीक औद्योगिक जगत से लिये। छायावादी कवियों के अधिकांश प्रतीक अमूर्त और प्रकृति से लिये गये। इसके विपरीत प्रगतिवादियों के प्रतीक मूर्त और उनका चयन समाज से किया गया। अतः इनके प्रतीक-विधान में छायावादियों की भाँति कहीं भी किसी प्रकार की दुर्बोधता और अमूर्तता नहीं है, अपितु सर्वत्र सुबो-धता और स्पष्टता है।

मनोविश्लेषण-विधान के प्रभाव के कारण प्रयोगवादी कविताओं में यौन सम्बन्धी प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग प्राप्त होता है। इन प्रतीकों का प्रयोग के कारण

यह है कि आज की वर्जनाएँ इतनी कठोर हैं कि चेतन क्षणों में मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन असम्भव हो जाता है और उनकी यह पूर्ति या तो स्वप्न-जगत में या कला जगत में करता है।

अलंकार-विधान के विषय में आधुनिक कवियों का परम्परा से पृथक् होकर चलने का बहुत कुछ कारण आंग्ल-साहित्य का सम्पर्क है, जिसका आधुनिक हिन्दी-काव्य पर पर्याप्त प्रभाव प्रत्यक्ष है। छायावादी कवियों ने रोमांटिक कवियों से, प्रगतिवादियों ने आडेन तथा उसके वर्ग के लेखकों से और प्रयोगवादियों ने इलियट आदि से प्रेरणा प्राप्त कर काव्य के अंतरंग और बहिरंग में परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया। प्रसिद्ध पाश्चात्य आलोचक डी क्यून्सी के कथनानुसार प्रत्येक प्रगतिशील साहित्य के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने में अन्यान्य साहित्य के प्रभावों को भी अंगीकृत करे। जो साहित्य ऐसा करने में समर्थ नहीं होता, वह क्रमशः ह्रासोन्मुखी हो जाता है। लेकिन जहाँ तक हिन्दी-अलंकार-विधान एवं प्रतीक विधान पर आंग्ल-प्रभाव का सम्बन्ध है, वह सदैव-सर्वत्र हितकर नहीं सिद्ध हुआ है, अपितु उसने हिन्दी के बहुत से लेखकों में हीनभावना उत्पन्न कर अनुकरण करना सिखलाया है। केवल उच्च श्रेणी के कवि ही आंग्ल-प्रभाव को पूर्णतया आत्मसात कर उसका जातीय प्रतिभा के विकास में उचित प्रयोग कर सके हैं, मध्यम श्रेणी के कवियों ने आंग्ल-साहित्य का अंधानुकरण कर केवल उपहासास्पद प्रयोग किये हैं।

जहाँ तक आधुनिक हिन्दी-कविता में प्राचीन आलंकारिक परिभाषाओं के निर्वाह का प्रश्न है, उस विषय में कहा जाता है कि आधुनिक कवियों ने कभी भी प्राचीन अलंकारों के प्रयोग के लिये प्रयत्न नहीं किया है। जो भी अलंकार प्राप्त होते हैं वह सब स्वभावतः आ गये हैं। आधुनिक हिन्दी-कविता के ये अलंकार अपनी प्रेषणीयता और प्रभावोत्पादकता के कारण भावों के उत्कर्ष-प्रदर्शन और वस्तुओं के रूप, गुण तथा क्रिया का तीव्र अनुभव कराने में पर्याप्त सहायक हुए हैं। इन विशेषताओं के अतिरिक्त आधुनिक अलंकृत उक्तियों में लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का भी विकास हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि खड़ी बोली की कविता ने विश्व-साहित्य से सम्पर्क स्थापित कर अपने में अनेक विशेषताओं का समावेश किया है और अलंकारों के बाह्याडम्बर से दूर रही हैं। इसके विपरीत आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य प्राचीन परम्परा का ही पोषक रहा है। अर्थात् प्रवृत्ति अलंकारोन्मुख है। इन कवियों के काव्य में मध्यकालीन कवियों जैसी ही अलंकार-चमत्कार-प्रदर्शन-प्रवृत्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य पुरातन पथ का ही पथिक रहा है। उसने वृन्दावनी गलियों से निकल कर बाहर चलने का कोई विशेषोल्लेखनीय प्रयास नहीं किया है।

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ-सूची

संस्कृत

भरत	नाट्यशास्त्र
भामह	काव्यालंकार
उद्भट	अलंकारसार-संग्रह
वामन	काव्यालंकारसूत्रवृत्ति
रुद्रट	काव्यालंकार
आनन्दवर्धन	ध्वन्यालोक
राजशेषर	काव्यमीमांसा
धनंजय	दशरूपक
कुंतक	वक्रोक्तिजीवित
महिमभट्ट	व्यक्तिविवेक
क्षेमेन्द्र	औचित्यविचारचर्चा
भोजराज	सरस्वतीकंठाभरण, शृंगारप्रकाश
मम्मट	काव्यप्रकाश
व्यास	अग्निपुराण
रुय्यक	अलंकारसर्वस्व
हेमचन्द्र	काव्यानुशासन
वाग्भट्ट	वाग्भटालंकार
वाग्भट्ट द्वितीय	काव्यानुशासन
जयदेव	चन्द्रालोक
विद्यानाथ	प्रतापरुद्रयशोभूषण
विश्वनाथ	साहित्यदर्पण
केशवमिश्र	अलंकारशेषर
रूपगोस्वामी	उज्ज्वलनीलमणि
कविकर्णपूर	अलंकारकौस्तुभ
अप्पयदीक्षित	कुपलयानन्द
जगन्नाथ	रसगंगाधर
नरसिंह कवि	नञ्जराजयशोभूषण

हिन्दी

केशव	कविप्रिया

चिंतामणि	कविकुलकल्पतरु
जसवन्त सिंह	भाषाभूषण
मतिराम	ललितललाम, अलंकारपञ्चासिका
कुलपति मिश्र	रसरहस्य
भूषण	शिवराजभूषण
देव	भावविलास, काव्यरसायन
सूरतिमिश्र	अलंकारमाला
श्रीपतिमिश्र	काव्यसरोज
रसिकसुमति	अलंकार-चन्द्रोदय
सोमनाथ	रसपीयूषनिधि
भिखारीदास	काव्यनिर्णय
रूपसाहि	रूपविलास
बैरीसाल	भाषाभरण
ऋषिनाथ	अलंकारमणिमंजरी
पद्माकर	पद्माभरण
शिवप्रसाद	रसभूषण
बलवानसिंह	चित्रचन्द्रिका
गिरधरदास	भारतीभूषण
रणधीरसिंह	काव्यरत्नाकर
नन्दकिशोरमिश्र	गंगाभरण
लछिराम	रावणेश्वरकल्पतरु
गुलाबसिंह	वनिताभूषण
मुरारिदीन	जसवंतजशोभूषण
गंगाधर 'द्विजगंग'	माहेश्वरभूषण
कन्हैयालाल पोद्दार	कव्यकल्पद्रुम, संस्कृत-साहित्यका इतिहास
जगन्नाथप्रसाद 'भानु'	छन्द-प्रभाकर
भगवानदीन 'दीन'	अलंकार-मंजूषा, व्यंग्यार्थ-मंजूषा
रामशंकर शुक्ल 'रसाल'	अलंकार-पीयूष (दोनों भाग)
अर्जुनदास केडिया	भारतीभूषण
बिहारीभट्ट	साहित्यसागर
मिश्रबन्धु	मिश्रबन्धु-विनोद, साहित्य-पारिजात
श्यामसुन्दरदास	साहित्यालोचन, हिन्दी-साहित्य
रामचन्द्रशुक्ल	हिन्दी-साहित्य का इतिहास, रसमीमांसा, गोस्वामीतुलसीदास, चिंतामणि (दोनों भाग)
गुलाबराय	सिद्धान्त और अध्ययन

कृष्णबिहारी मिश्र	मतिरामग्रन्थावली (की भूमिका)
नन्ददुलारे वाजपेयी	हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी, आधुनिक साहित्य, जयशंकरप्रसाद, नया साहित्य: नये प्रश्न
हजारीप्रसाद द्विवेदी	साहित्य का मर्म
नगेन्द्र	आधुनिक काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ, काव्यचिंता, रीति काव्य की भूमिका और देव, साकेत एक अध्ययन, सुमित्रानन्दन पंत, भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका
विश्वनाथप्रसाद मिश्र	वाङ्मय-विमर्श, भूषण (की भूमिका) पद्माकर (की भूमिका), समसामयिक साहित्य।
कृष्णशंकर शुक्ल	आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास, केशव की काव्यकला
केशरीनारायण शुक्ल	आधुनिक काव्यधारा, आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत
रामदहीन मिश्र	काव्यदर्पण, काव्य में अप्रस्तुत योजना, काव्यालोक
बलदेव उपाध्याय	भारतीय साहित्यशास्त्र (दोनों भाग)
लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'	काव्य में अभिव्यंजनावाद, जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त
जयशंकरप्रसाद	कव्यकला तथा अन्य निबन्ध
सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'	प्रबन्ध-प्रतिभा
रामविलास शर्मा	निराला
शिवदानसिंह चौहान	प्रगतिवाद
प्रकाशचन्द गुप्त	नया हिन्दी-साहित्य
विश्वम्भर 'मानव'	सुमित्रानन्दन पंत, नयी कविता
शचीरानी गुर्टू	सुमित्रानन्द पंत, महादेवी वर्मा
गंगाप्रसाद	महाप्राण निराला
देवराज	छायावाद का पतन, साहित्य-चिंता
देवराज उपाध्याय	रोमांटिक साहित्यशास्त्र
रामरतन भटनागर	कवि निराला: एक अध्ययन, महादेवी
श्रीकृष्णलाल	आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास
भगीरथ मिश्र	हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास
सुधीन्द्र	हिन्दी-कविता में युगान्त, काव्यश्री (अलंकार)

शम्भूनाथ सिंह	हिन्दी-महाकाव्य का स्वरूप-विकास, छायावाद-युग
नामवर सिंह	छायावाद
ओमप्रकाश	हिन्दी-अलंकार-साहित्य
प्रेमनारायण शुक्ल	हिन्दी-साहित्य के विविध वाद
रवीन्द्रसहाय वर्मा	हिन्दी-काव्य पर आंग्ल-प्रभाव
भोलाशंकर व्यास	ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त
भगवतस्वरूप मिश्र	हिन्दी-आलोचना : उद्भव और विकास
प्रो० क्षेम	छायावाद की काव्य-साधना, छायावाद के गौरव चिन्ह
विजयशंकर मल्ल	हिन्दी-काव्य में प्रगतिवाद
धर्मवीर भारती	प्रगतिवाद
एस० पी० खत्री	आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त

हिन्दी-कविता

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	प्रियप्रवास
मैथिलीशरण गुप्त	साकेत, यशोधरा
गुरुभक्त सिंह	नूरजहां
जयशंकर प्रसाद	कामायनी, आँसू, लहर, झरना, प्रेम-पथिक
माखनलाल चतुर्वेदी	हिमकिरीटिनी, हिमतरंगिणी
बालकृष्ण शर्मा नवीन	अपलक, क्वासि, रश्मिरेखा
सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'	अनामिका, परिमल, गीतिका, तुलसीदास, कुकुरमुत्ता, अणिमा, वेला, नए पत्ते
सुमित्रानन्दन पंत	पल्लव, वीणा, ग्रंथि, गंजन, युगांत, युगवाणी, उत्तरा, ग्राम्या, स्वर्णधूलि, स्वर्णकिरण, पल्लविनी, आधुनिक कवि २, अतिमा
भगवतीचरण वर्मा	मधुकण, प्रेमसंगीत, मानव
महादेवी वर्मा	यामा, दीपशिखा
रामकुमार वर्मा	रूपराशि, चित्ररेखा, चंद्रकिरण, आधुनिक कवि ३
हृदयनारायण पाण्डेय 'हृदयेश'	कसक, मधुरिमा, सुषमा, करुणा, शैवालिनि
रामधारी सिंह 'दिनकर'	हुंकार, रेणुका, रसवंती, कुरुक्षेत्र, चक्रवाल
हरवंशराय 'बच्चन'	आकुलअंतर, एकांतसंगीत, खैयाम की मधुशाला, मधुबाला, मधुशाला, मधुकलश, निशानिमंत्रण, सतरंगिनी, सोपान

Pater	Appreciation
I. A. Richards	Principles of Literary Criticism, Practical Criticism
Ogdin and Richards	The Meaning of the Meaning
Caudwell	Illusion and Reality
C. M. Bowra	The Romantic Imagination
A. C. Bradley	Oxford Lectures on Poetry
Croce	Aesthetics
W. H. Hudson	An Introduction to the studay of Literature
Whatley	Elements of Rhetorics
A. Bain	English Composition and Rhetoric
J. T. Genning	The Evolution of Figures of Speech
Abererombil	The Idea of Great Poetry, The Theory of Poetry
Bhagwan Das	The Science of Emotions
A. K. Coomarswamy	The Figures of Speeeh or Figures of Thought
Rakesh Gupta	Psychological Studies in Rasa
W. Mc. Dugall	An Outline of Psychology
Freud	Introductory Lectures on Psychoanalysis
Jung	Psychological Types, Modern Man in Search of Soul
Whitehead	Symbolism, its Meaning and Effects